

परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री
सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर
सुविधि-परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव



सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19-03-1971

* मुनिदीक्षा-11-05-1989

* आचार्यपद- 20-06-2004

पट्टाधीशपद- 24-12-2010 (20-06-2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मत्तिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:-

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी-जुलाई 2004) (अक्षयज्योति-अक्तूबर 2004)





श्री मुनिसुव्रतकाव्यम्

ग्रन्थकर्ता

कविवर अर्हदास जी



अनुवादक-सम्पादक

के. भुजबली शास्त्री

पं. हरनाथ द्विवेदी



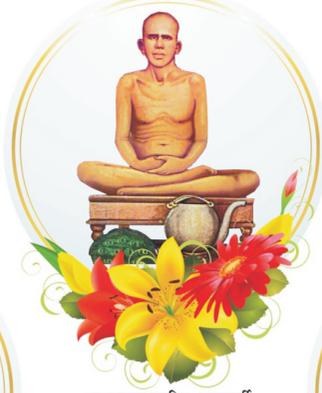
प्रकाशक

जैन सिद्धान्त भवन

आरा (बिहार)



(परम्परानायक)



(द्वितीय पट्टाधीश)



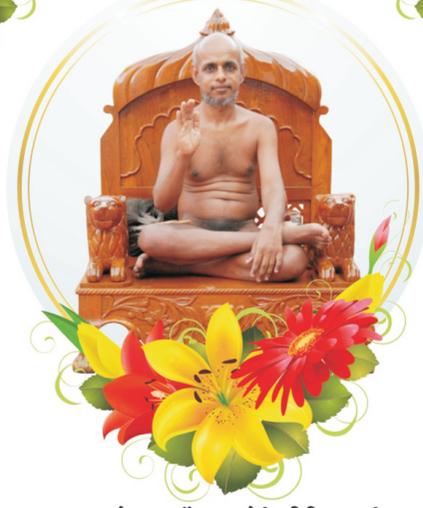
परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)



परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सम्मत्तिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)



परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें। मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

भूमिका



“कान् पृच्छामः सुराः स्वर्गे निवसामो वयं भुवि ।
किम्वा काव्यरसः स्वादुः किम्वा स्वादीयसी सुधा” ॥

संसार-सुमनोद्यान का काव्य ही कलकण्ठ अथवा कल्प-लतिका है। सद्भाव-सम्पन्न सहृदय-गणों की मनस्तुष्टि अथवा अभीष्ट-प्राप्तिका एक-मात्र साधन काव्य ही है। काव्य-कानन के प्रकार पर्याटक तथा कविता-कामिनी के कटाक्ष-कोर के लक्ष्य-भूत कवि-करणीरव विश्ववृन्द ने काव्य का हृदय से आदर किया है। मेरी तो यही धारणा है कि इस पञ्चम काल में दार्शनिक तथा धर्मशास्त्रीय गूढ़ ग्रन्थों के उपदेश तथा ज्ञाना की विरलता का विचार कर ही “कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते” के अनुसार आचार्यों तथा कवि-कुंजरेनि शब्दार्थालङ्कार से समलङ्कृत, प्रसाद माधुर्यादि गुणों से समुद्भासित, लाठी अथ च माधुरी आदि काव्योन्नित रीतियों से विजडित और वसन्त-तिलकादि वृत्तों से सम्यलित काव्यों के द्वारा कथा-कथानक-रूप में दर्शन तथा धर्म के मार्मिक सिद्धान्तों को दूरसा कर सर्व साधारण शिक्षितों को लोकोत्तर लाभ पहुंचाया है। कौन ऐसे सहृदय समुदाय हैं जो विभावानुभावादिकों से अभिव्यञ्जित, वीर वीराण्यादिरसों से समुच्छलित तथा ध्वनिव्यङ्ग्यार्थों से मुखरित काव्यकलांलिनी में गोता लगाना अपना परम पुण्योदय नहीं समझते हैं। अतः साहित्य-मदन का सहृदय स्वामी अथवा ज्ञानाटवी का दुर्दान्त केशरी यदि काव्य को माना जाय तो मैं समझता हूँ कि, यह अनुरित नहीं होगा।

प्रस्तुत पुस्तक भी काव्य ही है। इसका नाम “मुनिसुवत काव्य” अपर नाम “काव्य रत्न” है। यह उत्तर पुराण के आधार पर रचित हुआ है। इसमें दस सर्ग हैं। जन्म-कल्याणकसे मोक्ष-कल्याणक तक की जीवन-घटना श्रीमुनिसुवत देव की बड़ी रोचकता तथा प्राञ्जल पद्धति से वर्णित हैं। आपके पिता का नाम राजा सुमित्र तथा माता का महिषी पद्मावती था। आपकी राजधानी राजगृह में थी। राजगृह जैनियों का कैसा प्रसिद्ध तथा पवित्रतम तीर्थ-स्थान है यह यहां बताने की ज़रूरत नहीं है। वहाँ की शान्ति-शीलता, पवित्रता तथा प्राकृतिक दर्शनीयता यह बात जतलाये देती है कि यहां जैन-राज-

धानी अवश्य थी तथा जैनाचार्यों तथा मुनियों ने अपनी अखण्ड तपस्याओं और चामत्कारिक सिद्धियों से यहाँ की धूलि-पुंज के अणु-परमाणुओं तक को भी पूत कर दिखाया था अवश्य । तभी तो आज भी उस दिव्य विभूति की झलक लोगों की आँखों को चका-चौंध किये देती है ।

अस्तु मुनिसुव्रत स्वामी गार्हस्थ्य-जीवन समाप्त कर विजय नामक अपने पुत्रको राज्य भार दे स्वयं मोक्ष मार्ग के पक्के पथिक बने । आपका विवाह कहाँ, किसकी कन्या से हुआ था तथा आपको विजय के अतिरिक्त और दूसरी कोई संतान थी कि नहीं आदि बातों का उल्लेख इस काव्य में कहीं नहीं है । आपके विवाह के विषय में केवल यही लिखा हुआ मिलता है कि “पित्रा विनिवर्तितदारकर्मा” अर्थात् पिता ने इनकी शादी करदी ।

इस काव्य के संकलयिता कवि-कुंजर परम सम्मानार्ह श्री अर्हदास जी हैं । इनकी कृतियों के द्वारा इनका समय-निर्णय करना मेरे जैसे बहु-कार्य-व्यापृत साधारण इतिहासज्ञ संस्कृत-पण्डित के लिये नितान्त असम्भव है । हां-यदि कोई सावकाश इतिहासवेत्ता जैन विद्वान् इस अमर कवि की कविता की ओर कटाक्षपात करें तो अवश्य समय-निर्णय तथा समालोचनात्मक भूमिका होसकती है । इतनी बात मैं अवश्य कहूँगा कि इनके समय-निर्णय करने में लोगों को आकाश-पाताल का कुलावा अब एक नहीं करना पड़ेगा । क्योंकि अभी तक इनके तीन काव्य उपलब्ध हुए हैं । यह “मुनिसुव्रत काव्य” “पुरुदेव चम्पू” तथा “भव्य-कण्ठाभरण” । इन तीनों की निम्नलिखित प्रशस्तियों से यह बात ज्ञात होती है कि आपने अपना काव्य-गुरु पण्डिताचार्य आशाधर जी को माना है । और आशाधर जी की ही कविता तथा उपदेश से प्रभावित तथा निनिमीलितचक्षु होकर यह अर्हदास कवि कविता-रचना में अग्रसर हुए हैं ।

“मित्थात्वकर्मपटलेश्विरमावृते मे युग्मे दशोः कुपथयाननिदानभूते ।

आशाधरोक्तिसद्वज्जनसम्प्रयोगेः स्वच्छीकृते पृथुलमपथमाश्रितोऽस्मि” (मु० का०)

“सूक्त्यैव तेषां भवभीगवो ये गृहाश्रमस्थाश्चरितात्मधर्माः ।

त एव शेषाश्रमिणां सहाया धन्याः स्युगशाध-सूरिवर्याः” [भव्यकण्ठाभरण]

“मित्थात्वपंककलुषे सम मानसेऽस्मिन् आशाधरोक्तिकतकप्रसरैः प्रसन्ने ।

उल्लासितेन शरदा पुरुदेवभक्त्या तच्चम्पुदम्भजलजेन समुज्जृम्भे ॥ पु० च० ॥

पण्डित आशाधर का समय इतिहास-वेत्ताओं ने विक्रम सम्बत् १३०० निश्चित कर रक्खा है । अतः इनका भी समय वही या इसके लगभग मानना समुचित होगा ।

“पुरुषैवचम्बू” के विद्वत्सम्पादक फड़कुले महोदय ने अपनी पाण्डित्य-पूर्ण भूमिका में लिखा है कि उल्लिखित प्रशस्तियों से कविवर अर्हद्दास परिडताचार्य आशाधर जी के समकालीन निर्विवाद सिद्ध होते हैं। किन्तु कमसे कम मैं आपको इस समय-निर्णायक सरणी से सहमत हो आपकी निर्विवादिता स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। क्योंकि प्रशस्तियों से यह नहीं सिद्ध होता कि आशाधर जी की साक्षात्कृति अर्हद्दास जी को थी कि नहीं। ‘सृक्ति’ और ‘उक्ति’ की अधिकता से यह अनुमान करना कि साक्षात् आशाधर सूरि से अर्हद्दास जी ने उपदेश ग्रहण कर उन्हें गुरु मान रक्खा था यह प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता। क्योंकि ‘सृक्ति’ और ‘उक्ति’ का अर्थ रचना-बद्ध ग्रन्थ-सन्दर्भ का भी होसकता है। अस्तु मैं आपकी और अखण्डनीय बातों का खण्डन न कर सिर्फ आपकी निर्विवादिता से सहमत नहीं होता हूँ।

प्रचुर पुण्य के परिपाक से ही प्रकृत कवि कहलाने की कीर्ति आदमी प्राप्त कर सकता है। कवियों के कसने के लिये क्या ही अलौकिक निम्नलिखित कसौटी है:—

“अबयः केवलकवयः कीराः स्युः केवलं घीराः ।

. वीराः परिडतकवयस्तानवमन्ता तु केवलं गवयः” ॥

“शीला विज्जामारुलामोरिकाद्याः काव्यं कर्तुं सन्ति विज्ञाः स्त्रियोऽपि ।

विद्यां वेत्तुं वादिनो निर्विजेतुं विश्वं वक्तुं यः प्रवीणाः स वन्द्यः” ॥ [उद्भट०]

अस्तु उल्लिखित कसौटी पर कसे जाकर हमारे प्रस्तुत कविवर अर्हद्दासजी ने अपने काव्य-कलेखर की कमनीय कान्ति में किञ्चिन्मात्र भी कलङ्क नहीं लगने दिया है। आपने काव्य-कलित-कल्पना-कुटीर में कमलासन लगाकर अपनी स्वर्णमयी अमर लेखनी से श्री-मुनिसुव्रत तीर्थङ्कर के चारु चरित्र का चित्रण किया है। प्राक्तन पद्धति का अवलम्बन कर ही चरित्र-नायक के नामानुसार इस काव्य का भी नाम-निर्देश किया है। आपका यह सारा काव्य माधुर्य तथा प्रसादगुण से ओत-प्रोत है। प्रत्येक श्लोक में अलङ्कार के पुट देने से इसकी शोभा और भी कई गुनी अधिक बढ़ गयी है। आपके इस काव्य-कानन में विचरण करने से कहीं माधुर्य-मालती की मीठी २ सुगन्ध से सने हुए प्रसाद-पवन का हलका भौंका झाकर चित्त आप्यायित हो जाता है तो कहीं अन्त में वैराग्य की विरह-विनादिनी वीणा का विहाग सुन जड़ीभूत जीव जगज्जाल से छुटकारा पाकर मुक्ति-वाटिका की विशुद्ध सरणी का अवलम्बन करने के लिये आकुल हो उठता है।

इस काव्य कुंज के सहृदय शैलानी को सदा शृंगार हास्य, करुण तथा वैराग्य रस

से ही सराबोर होना पड़ेगा। इसके अगल बगल में भयानक और बीमत्स की महकें भूल कर भी अनुभूत नहीं होतीं।

श्रीअर्हदास जी गद्य-पद्य दोनों के सिद्धहस्त लेखक हैं। “पुरुदेवचम्पू” की गुरुता ने तो “दशकुमार-चरित” तथा “हर्षचरित” के गद्यों से भी बाजी मारली है। जिन्हें गद्य-पद्य का गंगा-यमुनी मेल देखना हो वे “पुरुदेवचम्पू” अवश्य देखें। आवश्यकतानुसार रसावतरण करना तो आपके बायें दायें का खेल है।

तीर्थङ्कर देव के “मुनिसुव्रत” नाम की सार्थकता निम्नलिखित श्लोक में बड़ी विशद-रोति से दिखलाई गई है।

“करिष्यते मुनिमखिलञ्च सुव्रतं भविष्यति स्वयमपि सुव्रतो मुनिः।

विवेचनादिति विभुरभ्यधाय्यसौ विडौजसा किल मुनिसुव्रताचरैः” ॥

(६ छ सर्ग ४३ श्लो०)

अब मैं सद्दृश्य पाठकों को आपकी अलङ्कार-प्रियता का परिचय निम्नलिखित तीन श्लोकों से कराता हूँ।

“भट्टाकलङ्काद् गुणभद्रसूरेः समन्तभद्रादपि पूज्यपादात्।

वचोऽकलङ्कं गुणभद्रमस्तु समन्तभद्रं मम पूज्यपादम् ॥” १ म० स० १६ श्लो०

भुजंगमेध्वागमवक्रभावो भुजंगहारेऽप्यजिनानुरागः।

ध्रुवं प्रदोषानुगमो रजन्यां दिनक्षयस्तोऽपि दिनावसाने ॥ १ मः स० २६ श्लो०

रतिक्रियायां विपरीतवृत्ती रतावसाने किल पारवश्यम्।

बभूव मह्लेषु गदाभिघातो भयाकुलत्वं रविचन्द्रयोश्च ॥ ७ म० स० ३० श्लो० ॥

उल्लिखित प्रथम श्लोक में “यथासंख्यालङ्कार” का ऐसा विशद उदाहरण है कि इसे देख कर एक साधारण संस्कृतज्ञ भी मुग्ध हो जायगा। उसके नीचे के द्वितीय और तृतीय श्लोक यदि पक्षपात-रहित आलङ्कारिक दृष्टि से देखे जाय तो यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि अर्हदास जीने इन दोनों श्लोकों में परिसंख्यालङ्कार की विशुद्धता दिखाकर कविवर बाण भट्ट की उन पंक्तियों से टक्कर लिया है जिन्हें पढ़ कर कविगण फड़क उठते हैं।

यों तो आपका समूचा “मुनिसुव्रतकाव्य” ही रत्न-जड़ित अलङ्कारों से विजड़ित है किन्तु अपने काव्य में अपूर्वता लाने के लिये आपका प्रयत्न प्रशंसनीय है। अब आपके एक हास्यरस्य का निम्नलिखित पद्य पाठकों के समक्ष उपस्थित करने का मैं लाभ संवरण नहीं कर सकता:—

सुग्धाप्सराः कापि चकार सर्वास्तुल्यवक्रान्तिकल धूपचूर्णम् ।

रथाप्रवासिन्यरुणो क्षिपन्ति हसन्तिकांगरचयरथ बुद्ध्या ॥ ५ भा स० ३१ श्लो० ।

राजा महाराज आदि धन-सम्पन्न मनुष्यों की कविता द्वारा प्रशंसा करना आप श्री-जिनवाणी का अत्यधिक अपमान समझते थे। यह बात आपके अशोचिहित पद्य से प्रकटित होती है।

“सरस्वती कल्पलतां स को वा सम्बर्द्धयिष्यन् जिनपारिजातम् ।

विमुच्य काञ्चीरतरूपमेषु व्दारोपयेत्प्राकृत-नायकेषु” ॥ १म स० १२ श्लो० ॥

इस श्लोक से आपकी निर्भीकता तथा देवगुरु-शास्त्र-प्रियता प्रतिपद में प्रतीत होती है। आप अपनी कवित्वशक्ति का “दिल्लीश्वरो वा जगदोश्वरो वा” जैसी स्वार्थ-सङ्कुल रचना करने में दुरुपयोग नहीं करते थे एवं प्राकृत व्यक्ति की प्रशंसा करने वाले कवियों को आप बड़ी तुच्छ दृष्टि से देखते थे।

अस्तु ‘इस काव्यरत्न’ की एक संस्कृत टीका भी है। टीका बड़ी ही सरल तथा कोश व्याकरण और अलङ्कारादिके दिग्दर्शन तथा प्रमाणों से सम्बलित है। हां जहां तहाँ अपेक्ष्य बातें रह गई हैं। दुःख है कि परिद्धत-वर्य टीकाकार ने अपना नाम तथा परिचय देने का कष्ट नहीं उठाया। आजकल के जमाने में जब कि दूसरों की कृतियों को हड़पने वाले तथा इधर उधर कुछ उलट पुलट करके अपना नाम प्रख्यात करने वालों का बाजार गर्म होने अथवा “कविरनुहरति च्छायामर्थं कुकविः पदं चौरः। अघिकलपरस्वहर्त्रे साहसकर्त्रे नमः पित्रे” आदि प्राचीन दृष्टान्त की भरमार होने पर भी इस काव्यरत्न के टीकाकार का अपना परिचय नहीं देना उनकी निस्सीम निस्वार्थता प्रकटित करता है।

आप केवल टीकाकार ही नहीं थे प्रत्युत एक सरस प्राञ्जल कवि भी। क्योंकि टीका के प्रारम्भ में जो आपने निम्नलिखित मंगलाचरण-विधायक दो श्लोक लिखे हैं वे बड़े ही सुन्दर हैं:—

श्रीमद्वैवेन्द्रसन्दोहवर्हिणानन्ददायिनम् ।

सुव्रताम्बुमृतं नौमि दिव्यश्रव्यनिनादिनम् ॥

तस्य गर्भावतारादिपञ्चकल्याणशंसिनः ।

काव्यरत्नाख्यकाव्यस्य वक्ष्ये टीकां स्वभक्तिः ॥

उल्लिखित प्रथम श्लोक पर दृष्टि पड़ते ही मुझे “भारतेन्दु” हिन्दी-प्राण बाबू हरिप्रसाद जी का निम्नलिखित दोहा याद आता है:—

भरित नेह-नवनीर नित, बरसत सुरस अयोर ।

जयति अपूरव घन कोज, लखि नाचत मन मोर ॥

देखा पहले श्लोक तथा इस दोहे में कैसा विम्ब-प्रतिविम्ब भाव है ?

अस्तु जो कुछ हो टीकाकार बड़े ही सरस बिद्वान् थे । कभी २ यह बात मेरे मन में आजातो हैं कि कहीं अर्थ के अनर्थ कर डालने के भय से अर्हदास जीने स्वयं “काव्यरत्न” की टीका रच दी हो । बल्कि इसी लिये दूसरे पद्य में “स्वभक्तिः” आपने लिखा है । तीर्थङ्कर मुनिसुव्रत नाथ के चरितात्मक काव्य को साङ्गोपांग निर्विघ्न सम्पन्न कर देने से आपके मन में आत्म-भक्ति उमड़ आना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है । अथवा स्वर्चिस काव्य की भक्ति भी इस पद का अर्थ हो सकता है या स्वेष्ट देव मुनिसुव्रत नाथ की भी भक्ति सूचित होती है । दूसरी बात यह है कि आपने अपने काव्य-गुरु पण्डित आशा-धरजी का अनुसरण किया हो । क्योंकि आशाधर सूरि ने अपने “सागरधर्मावृत” तथा “अन-गारधर्मावृत” की टीका स्वयं ही बनाई है । अतः “यद्यदाचरति श्रेष्ठः” के अनुसार अर्हत्कवि ने भी अपने काव्य की स्वयं टीका बनाकर गुरु मार्गानुसरण का ज्वलन्त उदाहरण उपस्थित किया हो ।

आशा है कि सहृदय साहित्य-रसिक विष्णुचन्द्र टोकाकार के प्रकृत परिचय पाने का प्रयास करेंगे ।

विनीत—

हरनाथ द्विवेदी (काव्य-पुराण तीर्थ)

प्रकाशकीय वक्तव्य



अब से "श्री जैन सिद्धान्त भवन" (The Central Jain oriental library) की सेवा में हाथ बँटाने का शुभावसर मुझे प्राप्त हुआ तभी से मेरी हार्दिक इच्छा थी कि इस संस्था से कोई ग्रन्थमाला निकाली जाय, जिस के द्वारा जैनाचार्यों की ध्वज कीर्ति सम्पूर्ण भारतवर्ष ही में नहीं बरन् सुदूर प्रदेशों में भी प्रसारित और साथ ही साथ उसके रसास्वादन से भव्य जीवों का कल्याण हो। स्वर्गीय कुमार देवेन्द्र प्रसाद जी ने जो इस संस्था के प्रधान सहायकों में थे इस ओर बहुत कुछ कार्य किया था और बहुत भर्तों में यह उन्हीं की सेवाओं का फल है कि हमारे ग्रन्थों का प्रचार और प्रतिष्ठा बाहर भी होने लगी है।

एक समय वह था जब कि हमारे आचार्यों की तूती बोलनी थी, उन की प्रगाढ़ विद्वत्ता तथा पूर्ण पाण्डित्य के आगे सभी नत-मस्तक होते थे, वे ही आचार्यवर्य अपनी स्वाभाविक परोपकार बुद्धि से लोगों के हित के लिये तथा उन्हें सन्मार्ग पर लाने के लिये अपने उस अगाध ज्ञान-भण्डार को अपनी मनोमुग्धकारी सरस काव्य-कुशलता-द्वारा ग्रन्थ-रूप में संकलित कर गये हैं। हमारे दुर्भाग्य से कुछ स्वार्थी जीवों ने सार्व-जनिक परोपकार की उस अमूल्य धाती के बहुत कुछ अंशों को अंधेरी कोठरी में सड़ाकर नष्ट-भंग कर दिया है। फिर भी जो कुछ बचा खुचा है वह अपने प्राचीन गौरव को प्रकट करने के लिये पर्याप्त है।

बद्यपि अब भी कुछ भाई छापे इत्यादि का विरोध कर इस अमूल्य औषधी से अन्तः-मात्र को लाभ लेने देना नहीं चाहते तो भी अब वह समय गया। हर्ष का विषय है कि बहुतेरे जैन विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है और हो रहा है। जिस के फल-स्वरूप दो-तीन सुरक्षित भवन तथा कई एक पुस्तक-प्रकाशकीय संस्थाएं विगत वर्षों से श्रीजिनवाणी की रक्षा तथा प्रचार में फलवती हुई हैं।

"श्री जैन सिद्धान्त भवन" हमारे स्वर्गीय श्रीपूज्य पिता जी द्वारा वि० १९०५ ई० में स्थापित हुआ था। और श्रीमान् पूज्य नेमी सागर जी वर्णो (वर्तमान पद श्रीमद्विभव चाण्कीर्ति पाण्डिताचार्यवर्य स्वामी जी श्रवणवेलगोल-पट्टाधीश) तथा स्वर्गीय बन्धू कस्तोड़ी बन्धू जी के उद्योग से बहुत कुछ उन्नति कर गया है। कल्पित उपर्युक्त पूज्य स्वामी जी की "भवन" पर अब भी सदा रूपा-दृष्टि बनी रहती है। वर्तमान में वहाँ

अपने ही एक बहुत सुन्दर २५०००) रु० की लागत के 'भवन' में सुरक्षित है। इस समय इस में ३००० जैन एवं अजैन ग्रन्थ ताड़-पत्राङ्कित तथा हस्त-लिखित हैं। इन के अतिरिक्त छपे हुए जैन अजैन हिन्दी संस्कृत प्राकृत बंगला, कन्नड़ी, गुजराती महाराष्ट्री तथा अंग्रेजी आदि भाषा के ग्रन्थों की संख्या ६००० के करीब है। "भवन" के उद्देश्यानुसार जैनग्रन्थों की ही यहाँ अधिकता है। पिता जी अपनी अन्यान्य संस्थाओं के साथ साथ इस के लिये भी १५००) रु० सालाना आमदनी की स्थायी जागीर दे गये हैं जिस से इसका स्थापारण व्यय होता रहता है और सदा होता रहेगा।

कुछ दिन पहले मैं ने अपने पूर्व विचारानुसार एक ग्रन्थमाला निकालने का निश्चय किया तथा कार्यारंभ के लिये अपने पास से १२५०) रु० भवन को दिये। मेरी हार्दिक इच्छा है और मैं चेष्टा करूंगा कि इस ग्रन्थ-माला-प्रकाशन का स्थायी प्रबन्ध सुदृढ़ हो जाय। कई विद्वानों की राय पहले "श्रीमुनिसुव्रत काव्य" के प्रकाशन की हुई। मेरा विचार था कि जो भी ग्रन्थ प्रकाशित हों वे हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद के साथ हों परन्तु अभी अंग्रेजी अनुवाद का साधन नहीं मिल सका। हिन्दी अनुवाद इस संस्था के प्राचीन कार्यकर्त्ता—“भास्कर” के सहायक सम्पादक काव्य-पुराणतीर्थ परिडित हरनाथ द्विवेदीजी तथा पुस्तकालयाध्यक्ष परिडित भुजबली शास्त्री जी एन. ए., एन. के. बी. ने किया है। सम्पादन तथा संशोधन का कार्य भी दोनों महाशयों ने मिलकर ही किया है।

प्रथम प्रयास के कारण प्रकाशन में बहुत कुछ भूलों का होना संभव है और खासकर मेरे जैसे व्यक्ति के द्वारा जो इस विषय में अनुभव-रहित तथा इस भाषा से भी एक प्रकार से अनभिज्ञ ही हूँ।

संस्कृत टाइपों में संयुक्ताक्षर की विरलता तथा कम्पोजिटरो की संस्कृतज्ञता के अत्यन्ताभाव से भी अशुद्धियों की अधिकता संभव है। पर यह ज्यों त्यों प्रकाशित होकर विद्वानों की सेवा में पहुँच जाय, फिर उनके परामर्शानुसार दूसरे संस्करण में सभी सापेक्ष्य बातें सम्पन्न कर दी जायँगी यही मेरा सदा लक्ष्य रहा।

टीका में जितने कोषों का नाम-निर्देश किया गया है उन में से कई कोषों के अमुद्रित तथा अनुपलब्ध होने के कारण जहाँ तहाँ सम्पादक-द्वय से सन्देह-निरसन नहीं हो सका है।

भवन की एक प्रति के अतिरिक्त मूडविद्वी के भण्डार से केवल एक प्रति मिली थी जिस के लिये मैं मूडविद्वी के भण्डारक श्रीपरिडिताचार्य चारुकीर्त्ति जी और परिडित लोकनाथ शास्त्री जी का बड़ा ही आभारी हूँ। इन्हीं दो प्रतियों के आधार पर इसका सम्पादन किया गया है। अधिक प्रति मिलने से यत्किञ्चिन्मात्र जो दोष रह गया है वह दूर हो जाता।

[४]

अस्तु जो कुछ भी हो मेरा श्रेय वही है कि मैं अपने आचार्यों की किरिं को अब भी सब के ऊपर देखूँ। कुल तो पूरी आशा है कि विद्वानों की इस ओर जास दृष्टि होने से इस में सफलता अवश्य होगी।

अस में मैं विद्वान् पाठकों से अनुरोध करता हूँ कि इस ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प को अपनायेंगे और जो कुछ भी त्रुटियाँ हों उन्हें मुझ पर प्रकटित करने की कृपा करेंगे, जिससे आगे के प्रकाशन में मुझे सहायता मिले।

इस के बाद मैं जैन-बैद्यक वा जैन-ज्योतिष ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये अत्यन्त उत्सुक हूँ और संभवतः ग्रन्थमाला की दूसरी माला बैद्यक की रसमयी अथवा ज्योतिर्मयी मौक्तिक मनिफा कीःपियोयी हुई होगी।

श्रीजिनवाणीका

एक विलस्र सेवक

निर्मलकुमार जैन ।

मंत्री

श्रीजैन-सिद्धान्त-मठन आस ।

चन्द्रप्रभं नौमि यदङ्गकान्तिं ज्योत्स्नेति मत्वा द्रवतीन्दुकान्तः ।

चकोरयूथं पिबति स्फुटन्ति कृष्णोऽपि पक्षे किल कैरवाणि ॥२॥

चंद्रप्रभमित्यादि । यदंगकांतिं यस्य जिनेश्वरस्य अंगस्य शरीरस्य कांतिं किरणं “अंगं गात्रांतिकोपायप्रतीकेष्वप्रधानके” इति विश्वः । ज्योत्स्नेति चंद्रिकेति । मत्वा मननं पूर्वं पञ्चात्किंचिदिति मत्वा बुद्ध् वैत्यर्थः । इन्दुकांतः चंद्रकांतः । कृष्णे पक्षेऽपि । द्रवति क्षवति द्रुस्रु गतौ लटि । चकोरयूथं चकोराणां पक्षिविशेषाणां यूथं कुलं तथोक्तम् । पिबति पानं विदधाति पा पाने लटि । कैरवाणि कुमुदानि “सिते कुमुदकैरवे” इत्यमरः । स्फुटति किल “वार्तासंभाव्ययोः किल” इत्यमरः किलेत्यागमोकौ यथास्वमागमे भ्रूयते इति यावत् स्फुट विफसने लटि । यदंगकांतिं ज्योत्स्नेति मत्वा कृष्णे पक्षेऽपि किलेति च प्रत्येकमभिसंबध्यते । तं चंद्रप्रभं चंद्रस्येव प्रभा कांतिर्यस्य सः तं अप्ठमतीर्थंशं । नौमि स्तौमि । णु स्तुतौ लडुत्तमपुरुषः । भ्रांतिमानलंकारः । २ ।

भा० अ०—कृष्ण पक्ष में भी जिसे चाँदनी समझ कर चकोर पीते हैं, चन्द्रकान्त मणि द्रवीभूत होती है तथा कमल खिल उठते हैं' ऐसे परमौदारिक दिव्य देहद्युतिवाले उन आठवें तीर्थङ्कर श्रीचन्द्रप्रभ स्वामी को नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

तमांसि हत्वा जगतः पदार्थान् प्रकाशयन्तं यमिव प्रदीपम् ।

ननाश मोहादभिपत्य कामः पतङ्गवच्छान्तिजिनं भजे तम् ॥३॥

तमांसीत्यादि । तमांसि तिमिराणि । हत्वा निवार्यं । जगतः लोकस्य । पदार्थान् घटा-दिवस्त्वनि । प्रकाशयन्तं प्रकाशयतीति प्रकाशयन्तं द्योतयन्तं । प्रदीपमिव प्रदीपवत् । तमांसि अज्ञानानि “शोकज्ञानध्वातगुणस्वर्भानुदुरितेषु तमः” इति नानार्थकोशे । हत्वा निहत्य । जगतः भुवनस्य । पदार्थान् । प्रकाशयन्तं ज्ञानेन प्रद्योतयन्तं । यं जिनेशं । कामः मन्मथः । मोहात् अज्ञानात् “मोहमिच्छन्ति मूर्च्छायामविद्यायां च सूरयः” इति विश्वः । पतङ्गवत् पतंग इव शलभवत् । अभिपत्य पतित्वा । ननाश अनश्यत् । नश अदर्शने लटि । तं शांतिजिनं । शमतात्पापानित्याशास्यमानः शांतिः शांतिश्चासौ जिनश्च तथोक्तस्तं बोद्धशतीर्थकरं । भजे सेवे । भज् सेवायां लडात्मनेपदम् । श्लेषोपमालंकारः ॥ ३ ॥

भा० अ०—संसार के अज्ञानान्धकार को हटा कर अनन्तानन्त पदार्थों को प्रकाशित करते हुए जिन पर अज्ञान से कामदेव स्वयं दीपक पर पतंग के ऐसा गिर कर मस्म हो गया, उन्ही सोलहवें तीर्थङ्कर श्रीशान्तिनाथ जी की मैं आराधना करता हूँ ॥ ३ ॥

अबोधकालोरगलीढमूढ-मबूबुधद् गारुडरत्नवधः ।

जगत्कृपाकोमलदृष्टिपातैः प्रभुः प्रसद्यान्मुनिसुव्रतो नः ॥४॥

अबोधेति । यः स्वामी । अबोधकालोरगलीढमूढं कालध्यासौ उरगश्च तथोक्तः अबोध एव अज्ञानमेव कालोरगस्तथोक्तः रूपकालंकारः तेन लीढं दष्टं तेन मूढं मुग्धं बहिरात्मावस्थापन्नं मूर्च्छितं च अथवा अबोधकालोरगलीढं च तत् मूढं चेति कसः । जगत् लोकं । गारुडरत्नवत् गरुडस्येदं गरुडं तश्च तद्रत्नं च तद्वत् विषापहारमणिवत् । मबू- बुधत् अबोधयत् बुधि मनि ज्ञाने गिञ्जन्ताल्लुङ् । प्रभुः सः स्वामी । मुनिसुव्रतः मन्यते केवलज्ञानेन लोकालोकस्वरूपं बुध्यत इति मुनिः शोभनं व्रतं यस्यासौ सुव्रतः मुनिध्यासौ सुव्रतश्चेति कसः । कृपाकोमलदृष्टिपातैः । दृष्ट्याः पाताः व्यापाराः कृपया अनुकंपया कोमलाः मृदुलास्ते च ते दृष्टिपाताश्च तैः “पातस्तु रक्षिते पतने” इत्यादि नानार्थरत्नमालायां । नः अस्माकं “पदाद्वाक्यस्य” इत्यादिना नसादेशः । प्रसद्यात् प्रसन्नो भूयात् षड्वल्विशरणेत्यादौ लिङ् । उपमालंकारः ॥ ४ ॥

भा० अ०—जो अज्ञानरूपी काल सर्प से डँसे हुए इस मूढ संसार को विषापहारक गरुड मणि से चेतनावस्था में लाये, वे बौसर्वे तर्थाङ्कुर श्रीमुनिसुव्रत प्रभु अपने सहज सौम्य दृष्टिपात-द्वारा हम सबों पर प्रसन्न होंगे ॥ ४ ॥

त्रासादिदोषोज्झितमुद्वजातिम् गुणान्वितं मौलिमणिं यथैव ।

वृत्तात्मकं भावलयाभिरामं कृतक्रियं मूर्ध्नि दधामि वीरम् ॥५॥

त्रासादीत्यादि । त्रासादिदोषोज्झितं त्रासः रेखा आदिर्येषां ते त्रासाद्यः “त्रासो- भ्रिमणिदोषयोः” इति भास्करः ते च ते दोषाश्च तैरुज्झितोऽपगतस्तं । उद्वजातिं उद्वेषा प्रशस्ता जातिः आकरजन्म यस्य तं “प्रकांडमुद्वगतलज्जौ प्रशस्तवाचकान्यमूनि, जातिसा- मान्यजन्मनोः” इति चामरः । गुणान्वितं गुणः विषापहारादिधर्मैरन्वितं युक्तं “गुणस्त्वा- वृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु” इति वैजयंती । वृत्तात्मकं वृत्तं वर्तुलं तदेव आत्मा स्वरूपं यस्य तं । “वृत्तं पद्ये चरित्रे त्रिष्वतीते दृढनिस्तले” इत्यमरः । भावलयाभिरामं भायाः कांतेः “स्युः प्रभारुप्रु चितस्त्रिङ्भा” इत्यमरः वलयः संवृत्तस्तेन अभिरामो भास- मानस्तं “वलयः कंठरोगे स्याद्वलयं कंकणेपि च” इति विश्वः । कृतक्रियं कृता विहिता क्रिया शाणोल्लेखनादिविधिर्यस्य तं । मौलिमणिं चूडारत्नं । यथैव यद्वत् । त्रासादि- दोषोज्झितं त्रासो भयमादिर्येषां ते तथोक्ताः तैरुज्झित उत्सृष्टस्तं । उद्वजातिं उद्वेषा जातिः गोत्रं यस्य तम् । गुणान्वितं गुणैः केवलज्ञानादिभिरन्वित उपेतस्तं । वृत्तात्मकं

वृत्तं चारित्रं तदेव आत्मा स्वरूपं यस्य तं । भावलयामिरामं भावलयेन भामंडलेन
अमिरामो विराजमानस्तं । कृतक्रियं कृतकृत्यं । वीरं विशिष्टां ईं लक्ष्मीं राति दधातीति
वीरस्तं । “इकार उच्यते कामो लक्ष्मीरीकार उच्यते” इत्येकाक्षरनिघंटौ । अंनिमतोर्थेश्वरं ।
मूर्ध्नि मस्तके । दधामि दधे । धाङ् धारणे च लटि । मस्तकेन नमस्यामीत्यर्थः । श्लेषोप-
मालंकारः ॥ ५ ॥

भा० अ०—त्रासादि दोषों से रहित, भामण्डल से शोभित केवल-ज्ञान-गुणयुक्त,
उच्चर्षशज तथा उत्तम चरित्रवाले कृतकृत्य श्रीमहावीर स्वामी को रेखादि दोष-रहित
उपर्युक्त विशेषण-विशिष्ट शिरोभूषण के समान मैं मस्तक पर धारणा करता हूँ ॥ ५ ॥

स्वार्थप्रकाशिद्युतयोऽशरीराः रत्नप्रदीपा इव मे वसन्तु ।

तमःप्रहाण्यै हृदि दीप्यमानाः कृताधिवासाः पवनान्तरेऽपि ॥६॥

स्वार्थेत्यादि । स्वार्थप्रकाशिद्युतयः स्वानि च अर्थाश्च तथोक्ताः “स्वो ज्ञातावात्मनि
स्वं त्रिष्वात्मोये स्वः स्त्रियां धने । अर्थोभिधेयैरेवस्तु प्रयोजननिवृत्तिषु” इत्युभयत्राप्यमरः
तान् प्रकाशत इत्येवं शोला स्वार्थप्रकाशिनी द्युतिः ज्ञानप्रकाशो येषां ते तथोक्ताः ।
पवनान्तरे पवनस्य तनुवानस्य अंतरे मध्ये । कृताधिवासा अपि कृतो विहितोऽधिवासो
निलयो येषां ते तथोक्ताः कृताधिष्ठाना अपि । दीप्यमानाः प्रकाशमानाः । अशरीराः न
विद्यते शरीरं येषां ते तथोक्ताः सिद्धपरमेष्ठिनः । स्वार्थप्रकाशिद्युतयः स्वपरप्रकाशकांतयः ।
पवनान्तरे वायुमध्ये । कृताधिवासा अपि विहिताश्रया अपि । दीप्यमानाः रत्नप्रदीपाणां
वायुमध्ये विद्यमानत्वेपि बाधकाभावात् दीप्यमानत्वमित्यर्थः रत्नप्रदीपा इव । मे मम ।
“भेदमयावेकत्वे” इत्यस्मच्छब्दस्य मे इत्यादेशः । हृदि हृदये । तमःप्रहाण्यै तमसोऽज्ञानस्य
प्रकृष्टहानिस्तमःप्रहाणिसनस्यै “घ्नः” इति नस्य णः तमसो निरवशेषविध्वंसाय । “शोका-
ज्ञानध्वांतगुणस्वर्भानुदुरितेषु तमः” इति नानार्थकोशे । वसन्तु तिष्ठन्तु । वस निवासे
लोटि । श्लेषोपमालंकारः ॥ ६ ॥

भा० अ०—वायुमध्यवर्ती रत्नप्रदीप के समान प्रकाशनशोल तथा स्वपर-तत्त्व के
द्योतक, शरीर-रहित सिद्ध परमेष्ठोगण अज्ञान-विनाश के लिये मेरे हृदय में विराजमान
हों ॥ ६ ॥

निराकृतान्तस्तमसो निषेव्या दिगम्बरैस्सन्ततवृत्तदेहाः ।

सुनिर्मलाः साधुसुधांशवो मे हरन्तु सन्तापमदृष्टपूर्वाः ॥७॥

निराकृतेति । निराकृतांतस्तमसः तिराकृतं तिरस्कृतमंतस्तमोऽज्ञानं गुहाद्यभ्यंतरतिमिरं वा यैस्ते तथोक्ताः । दिगम्बरैः “अंबरं व्योम्नि वाससि” इत्यमरः । तैः । निषेव्याः नितरां सेवितुं योग्याः । संततवृत्तदेहाः संततमनचरतं वृत्तां चारित्रं पक्षे वतुलं तदेव देहः स्वरूप-मवयवो वा येषां ते तथोक्ताः । सुनिर्मलाः मलान्निर्गताः निर्मलाः सुष्ठु निमलाः सुनिर्मलाः “मलं पुरीषे किट्टे च पापे च रूपणे मलः” इति विश्वः । अदृष्टपूर्वाः पूर्वमदृष्टा अदृष्टपूर्वाः परिदृष्टसुधांशाददृष्टार्थद्योतनाददृष्टपूर्वत्वं । साधुसुधांशवः साधवोऽत्रस्युपाध्यायमुन्य-ह्यस्त एव सुधांशवश्चंद्राः । रूपकालंकारः । मे मम । संतापं संसारतापं तपनतापञ्च । हरंतु अपहरंतु ह्य् हरणे लोटि । संकरालंकारः ॥ ७ ॥

भा० अ०—भीतरी अज्ञान को हटानेवाले, मुनियों से सेव्य, सम्यक्चारित्र्ययुक्त देहवाले अत्यन्त निर्मल तथा अलौकिक जो सूरि, उपाध्याय और साधु रूप चन्द्रमा हैं वे मेरे सन्ताप को दूर करें ॥ ७ ॥

रत्नत्रयात्मा सुचिराय धर्मः सार्थेन नाम्ना महितः स जीयात् ।

यो धारयत्यच्युतधाम्नि मग्नानुद्धृत्य सत्वान् भववारिराशेः ॥८॥

रत्नत्रयेति । यः धर्मः । मग्नान् मज्जंतिस्म मग्नास्तान् । सत्वान् जीवान् । भववारि-राशेः वारीणां राशिः वारिराशिः भवस्संसारः स एव वारिराशिस्तथोक्तस्तस्मात् रूपका-लंकारः । उद्धृत्य अपनीय । अच्युतधाम्नि न च्युयत इत्यच्युतं नित्यं तच्च तत् धाम स्थानं च तस्मिन् मोक्षपद इत्यर्थः “गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि” इत्यमरः । धारयति स्थापयति धृञ् धारणे णिञांताल्लृट् । सः रत्नत्रयात्मा रत्नानोत्र समीहितफलत्वात् रत्नानां श्रयं तथोक्तं तदेव आत्मा स्वरूपं यस्य स तथोक्तः । अयमपि रूपकः । सार्थेन अर्थेन सह वर्तत इति सार्थः तेन । नाम्ना अभिधानेन । महितः दीर्घकालं मह्यतेस्म महितः । धर्मः । सुचिराय “चिराय चिररात्राय चिरस्याद्यश्चिरार्थकाः” इत्यभिधानादव्ययं । जीयात् सर्वो-त्कर्षेण वर्त्तताम् “सर्वोत्कर्षे त्वकर्मा स्याद्विजये तु सकर्मकः” इति वचनात् । जि अभिमवे लिङ् ॥८॥

भा० अ०—गिरे हुये जीवों का संसार समुद्र से उद्धार कर मोक्ष में प्रवृत्त करानेवाले रत्नत्रयात्मक धर्म अपने सार्थक नाम से पूजित होता हुआ चिरकाल तक जयशील होवे ॥८॥

वीरादिव क्षीरनिधेः प्रवृत्ता सुधेव वाणी सुधिया क्लश्या ।

विधृत्य नीता विबुधाधिपैर्मे निषेविता नित्यसुखाय भूयात् ॥९॥

वीरादिवेत्यादि । क्षीरनिघेरिव क्षीराणि निधीयन्तेऽस्मिन्निति क्षीराणां निघिरिति वा क्षीरनिघिस्तस्मादिव । वीरात् वर्धमानस्वामिनः सकाशात् । प्रवृत्ता अवतीर्णा । विबुधाधिपैः विबुधानामधिपास्तैः सुरैर्द्रैः गणन्द्रश्च “विबुधः पंडिते देवे” इति विश्वः । सुधिया शोभना धीस्सुधोस्तया सम्यग्ज्ञानेन । कलश्या अल्पः कलशः कलशी तथा । विधृत्य विधरणं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति विधृत्य उमित्वा । नीता नीयतेस्म नीता प्रापिता सती । निषेविता नितरां सेविता आराधिता च । सुधेव अमृतमिव “सुधामृतेस्तु-हीमूर्वालेपगाङ्गेष्टिकासु च” इति विश्वः । वाणी सरस्वती । मे मम । नित्यसुखाय अनन्तसौख्याय । भूयात् भवतु । भू सत्तायां लिट् । दुग्धाब्धौ सुधासंभव इति लौकिकी कृतिः । उपमालंकारः ॥६॥

भा० अ०—क्षीरसमुद्ररूपी श्रीमहावीर तीर्थङ्कर से निकली हुई तथा सुबुद्धिरूप कलश से देवेन्द्रों के से गणधरों के द्वारा लाकर सेवित हुई सुधाकृपिणी सरस्वती मेरे अनन्त सुख की सम्पादिका होवे । ॥६॥

भट्टाकलंकाद् गुणभद्रसूरेः समन्तभद्रादपि पूज्यपादात् ।

वचोऽकलंकं गुणभद्रमस्तु समन्तभद्रं मम पूज्यपादम् ॥१०॥

भट्टाकलंकेति । मम अर्हदासनाम्नः कवेः । वचः वचनं एतत्काव्यमित्याशयः । भट्टाकलंकात् भट्टाशासावकलंकश्च भट्टाकलंकस्तस्मात् भट्टाकलंकस्वामिनः प्रसादात् । अकलंकं न विद्यते कलंकं श्रुतिकट्वादिरूपं कलमषं यस्य तत् । अस्तु भवतु अस भुवि लोट् । गुणभद्रसूरेः गुणभद्रश्चासौ सूरिश्च तस्मात् गुणभद्रस्वामिनोऽपि । गुणभद्रं गुणैः सौकुमार्यादिभिर्भद्रं मंगलं द्रुढं वा । अस्तु भवतु । समंतभद्रात् समंतभद्रस्वामिनः । समंतभद्रं समंतात्सर्वतः भद्रं मंगलं यस्य तत् “भद्रं स्यान्मंगले हेमिन् पुस्तके करणांतरे । भद्रो रुद्रे वृषे गमचन्द्रे मेरुकदंबयोः । हस्तिजात्यन्तरे भद्रो वाच्यवच्छेष्टसाधुनोः” इति विश्वः समंतशब्दोऽत्रानभिहितसाकल्यमातनोति । तस्माल्लक्षणरीतिरसालंकारादिसुन्दरमिति भावः । तथा चोक्तं चन्द्रालोके—“निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता । सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्” । पूज्यपादात् पूज्यौ पादौ चरणौ यस्य स तस्मात् । पूज्यपादं पूज्यैः सत्पुरुषैः पद्यते प्रतिपद्यत इति पादमुपादेयं । अस्तु भवतु । यथासंख्यालंकारः ॥१०॥

भा० अ०—मेरा यह “श्रीमुनिसुव्रत काव्य” भट्टाकलङ्क स्वामी की कृपा से निष्कलंक, गुणभद्र सूरि की कृपा से सौकुमार्यगुणयुक्त, श्रीसमन्तभद्र के प्रसाद से सर्वत्र मंगलमय तथा पूज्यपाद स्वामी की कृपा से सज्जनों से माननीय होवे ॥१०॥

वीराकरोत्थं मुनिसार्थनीतं कथामणिं श्रीमुनिसुव्रतस्य ।

सुवर्णदीप्रं नवयुक्तिरम्यं विदग्धकर्णाभरणां विधास्ये ॥ ११ ॥

वीराकरोत्थमिति । वीराकरोत्थं वीरः सन्मतिस्वामी स पद्माकरः खनिस्तस्मात् “खनिः
ल्लियामाकरः स्यात्” इत्यमरः उत्तिष्ठतिस्म उत्थ उत्पन्नस्तं रूपकालंकारः । मुनिसार्थनीतं
मुनयो गणधरादयस्त एव सार्थो वणिग्निवहस्तेन नीत आनीतस्तं “सार्थो वणिक्समूहे
स्यादपि संघातमात्रके” इति विश्वः । सुवर्णदीप्रं शोभनानि वर्णानि तैरक्षरैः “वर्णो द्विजा-
दौ शुक्लादौ स्तुतौ वर्णं तु वाक्षरे” इत्यमरः पक्षे सुवर्णेन हिरण्येन दीप्रं दीपत इत्येवं
शोभो दीप्रः प्रकाशनशीलस्तं नमूकम्यजसित्यादिना शीलार्थे रः । नवयुक्तिरम्यं नवा नूतना
युक्तिः सुप्तिङ्ङन्तादिसंदर्भस्तया रम्यः श्रुतिसुभगस्तं नवीनोपायबंधुरं च । श्रीमुनिसुव-
तस्य धिया उपलक्षितो मुनिसुव्रतस्तस्य—तीर्थंकरस्य । कथामणिं कथैव मणिस्तं गर्भावता-
रादिकथारत्नं “रत्नं मणिर्द्वयोरश्मजातौ मुक्तादिकेऽपि च” इत्यमरः । विदग्धकर्णाभरणां
विदग्धानां विदुषां चतुराणां च कर्णयोः श्रोत्रयोराभरणमलंकारं । विधास्ये करिष्ये ।
डुधाञ्छारणे च । लडुत्तमपुरुषः ॥ ११ ॥

भा० अ०—महावीरस्वामिरूप आकर से उत्पन्न हुई, गणधररूपी व्यापारियों से लायी
हुई, नई युक्तियों के कारण रमणीय, वर्णसौष्टवसम्पन्न तथा चिह्नों के श्रवणभूषण-तुल्य
श्रीमुनिसुव्रत स्वामी की रत्नकीसी कथा में करूंगा ॥ ११ ॥

सरस्वतीकल्पलतां स को वा संवर्धयिष्यन् जिनपारिजातम् ।

विमुच्य काञ्जीरतरूपमेषु व्यारोपयेत्प्राकृतनायकेषु ॥ १२ ॥

सरस्वतीत्यादि । सरस्वतीकल्पलतां कल्पयति विदधाति वाञ्छितमिति कल्पा सा चासौ
लता च कल्पलता कल्पस्य लतेति वा तथोक्ता सरः प्रसरणमस्या अस्तीति सरस्वती सैव
कल्पलता तां । संवर्धयिष्यन् वृद्धिं निवेशयन् । जिनपारिजातम् जिन एव पारिजातः कल्प-
बृक्षस्तं “मंदारः पारिजातकः” इत्यमरः । विमुच्य परित्यज्य । काञ्जीरतरूपमेषु काञ्जीर-
श्चासौ तरुश्च तस्योपमास्समानास्तेषु विष्वक्षसमानेषु । प्राकृतनायकेषु प्राकृताश्च ते नाय-
काश्च तेषु “प्राकृतश्च पृथग्जनः” इत्यमरः “नायको नेतरि श्रेष्ठे हारमध्यमणावपि” इति
विश्वः अधमजनेष्वित्यर्थः । स को वा को वा पुरुषः । व्यारोपयेत् अवलंबयेत् रुह
बीजजन्मनि लिङ् । न कोपि सुधीरित्यर्थः । किन्तु सरस्वतीकल्पलतां संवर्धयिष्यन्
जिनपारिजातमेव व्यारोपयेदिति भावः ॥ १२ ॥

भा० अ०—सरस्वतीरूपिणी कल्पलता के आधारभूत जिन-कल्पवृक्ष को छोड़कर कौन से विद्वान् उन्हें विष वृक्ष के समान अधम नायक का अवलम्बन करायेंगे । अर्थात् कल्पलतिका विष वृक्ष का तिरस्कार कर जिस प्रकार कल्पवृक्ष का आश्रय लेती है वैसे ही श्रीजिनवाणी अधम नायक की उपेक्षा कर श्रीजिनेन्द्र भगवान् का ही आश्रय लेती हैं ॥१२॥

गणाधिपस्यैव गणोयमेतत् भवामि चोद्यन्भगवच्चरित्रे ।

भक्तीरितो नन्वगचालनेऽपि शक्तो न लोके ग्रहिलो न लोकः ॥१३॥

गणाधिपस्येत्यादि । एतत् चरित्रं । गणाधिपस्यैव गणानां द्वादशगणानामधिपः प्रभुः गणधरस्तस्यैव । गणोयं गणितुं योग्यं तथोक्तं प्रमितुं योग्यं । भक्तीरितः भक्त्या गुणानुरागेण ईरितः प्रेरितस्सन् । भगवच्चरित्रे भगवतो मुनिसुव्रतस्वामिनः चरित्रे कथायां । उद्यन् उद्यतश्च । भवामि अस्मि भू सत्तायां लट् । तथा हि—लोके भुवने । ग्रहिलः पिशाचपीडितः । लोकः जनः । अगचालने पर्वतकंपने । उद्यन् उद्यतः सन् । न शक्तोपि न समर्थश्चेदपि । अगचालने न गच्छतीत्यगः वृक्षस्तस्य चालने कंपने । “शैलवृक्षौ नगावगौ” इत्यमरः । न शक्तो ननु न समर्थो न भवति ननु अपितु समर्थ एव । “द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयते” इति वचनात् । “प्रश्नाऽवधारणानुज्ञानुनयामंत्रणे ननु” इत्यमरः । एतच्चरित्रमाहात्म्यसर्वस्वं वर्णयितुं भक्तीरितस्सन् उद्यन्नपि यथाशक्ति वर्णयिष्यामीति भावः । अर्थांतरन्यासः ॥ १३ ॥

भा०—गणधरों से वर्णनीय इस भगवच्चरित्रमय काव्य की रचना करने के लिये मैं भगवद्भक्ति से प्रेरित होकर प्रयास करता हूँ । क्योंकि, पिशाचग्रस्त प्राणी बड़े २ पर्वतों को भी कम्पित करने में समर्थ हो जाता है । उसी प्रकार बहुज्ञान-साध्य भी यह कार्य अल्पज्ञ होता हुआ भी मैं भगवद्भक्ति बल से ही सम्पन्न करने में समर्थ हूँगा । ॥ १३ ॥

मनः परं क्रीडयितुं ममैतत्काव्यं करिष्ये खलु बाल एषः ।

न लाभपूजादिगतः परेषां न लालनेच्छाः कलभा रमन्ते ॥१४॥

मन इत्यादि । बालः बालकः । “बालः कचे शिशौ मूर्खे हीवरे श्वेभपुच्छयोः” इति विश्वः अल्पबुद्धिरित्यर्थः । एषः प्रत्यक्षभूतोऽहमर्हदासः । “स्वस्मात्परोक्षनिर्देशागमको मदद्देश्ययोः” इति वचनात् स्वस्यानौद्धत्यं सूच्यते । मम मे । मनः चित्तं । परं अधिकं । क्रीडयितुं संतोषयितुं । एतत् इदं । काव्यं कवेर्भावः कृत्यं वा काव्यं मुनिसुव्रतस्वामि-चरित्रं । बलु स्फुटं । करिष्ये विधास्ये । दुकृञ् करणे लृङ्कुत्तमपुरुषः । परेषां लोक-

जनानां । लाभपूजादिरतः लाभश्च पूजा च लाभपूजे ते आदिर्येषां तेषु रतः प्रीतस्तथोक्तः सन् । न करिष्ये न विधास्ये । तथा हि कलभा करिषोताः “कलभः करिशावकः” इत्यमरः । परेषां अन्येषां । लालनेच्छाः लालने संतोषकरणे इच्छा अभिलाषो येषां ते तथोक्तास्संतः । न रमति न क्रोडति । रमु क्रोडायां लट् । किंतु स्वेच्छयैव रमन्त इत्यर्थः अनेन कविनाह-
दं द्वक्ते रतिप्रकर्षस्सूच्यते । अर्थान्तरन्यासः ॥१४॥

भा० अ०—मैं अर्हदास अपना मनोरञ्जन करने के लिये ही इस काव्य का प्रणयन करूंगा, नकि दूसरों से सम्मान पाने की इच्छा से । क्योंकि हाथी के बच्चे अपने मनकी उमंग से ही कलोल करते हैं नकि दूसरों को प्रसन्न करने की अभिलाषा से ॥१४॥

श्रव्यं करोत्येष किल प्रबन्धं पौरस्त्यवन्नेति हसन्तु सन्तः ।

किं शुक्तयोऽद्यापि महापगर्ध्यं मुक्ताफलं नो सुवते विमुग्धाः ॥१५॥

श्रव्यमित्यादि । एषः अयमर्हदासः । श्रव्यं श्रोतुं योग्यं श्रव्यं विद्वद्विराकर्णनीयं । प्रबन्धं काव्यं । करोति किल विदधाति किल “वार्तासंभाव्ययोः किल” इत्यमरः । पौरस्त्यवत् पुरोभवाः पौरस्त्यास्त इव पौरस्त्यवत् पूर्वकवय इव । नेति न करिष्यतीति अथवा पुरोभवं पौरस्त्यं तदिव तथोक्तं पूर्वकाव्यमिव “दक्षिणपश्चात्पुरस्त्यक् “तस्याहं कृत्ये वत्” इति वत् । नेति नभविष्यतीति । संतः सत्पुरुषाः । हसन्तु हास्यं कुर्वन्तु हस् हसने लोट् । तेषामहं न प्रतिभट इत्यर्थः । विमुग्धाः भो विमूढा “मुग्धो मूढो जडो नेडो मूको मूर्खश्च कद्वदः” इति धनंजयः यूयं हसनेत्यध्याह्रियते । शुक्तयः मुक्तस्फोटाः “मुक्तास्फोटः स्त्रियां शुक्तिः” इत्यमरः महापरार्ध्यं महश्च तत् परार्ध्यं च तथोक्तं “परार्ध्यांप्राप्रहरप्राग्रघ्राप्रघ्रात्रीयम-
ग्रियम्” इत्यमरः अनर्ध्यमित्यर्थः । मुक्ताफलं मुक्तायाः फलं तथोक्तं । अद्यापि अस्मिन्कालेऽपि । नो सुवते किं नोत्पादयन्ति किं षूड् प्राणिगर्भविमोचने लट् । अपि तु जनयत्येव अर्थान्तरन्यासः ॥१५॥

भा० अ०—मैं अर्हदास इसे श्रव्य काव्य बनाता हूँ । पूर्व कवियों कासा यह प्रबन्ध नहीं होता है, इसके लिये सज्जनगण मुझे भले ही हँसे; पर यह निश्चित बात है कि, जड़ तथा तुच्छ सीप आज भो अमूल्य मोती को पैदा करते हैं । अर्थात् मैं अल्पज्ञ हूँ तो भी सहृदय विद्वान् मेरे इस तुच्छ काव्य से तात्त्विक बातें निकाल सकते हैं ॥१५॥

प्रबन्धमाकर्ण्य महाकवीनां प्रमोदमायाति महानिहैकः ।

विधूदयं वीक्ष्य नदीन एव विवृद्धिमायाति जडाशया न ॥१६॥

प्रबन्धमित्यादि । इह अस्मिन्निह अमुष्मिन् भुवने । एकः । महान् कोपि महापुरुषः । महाकवीनां महान्तश्च ते कवयश्च तथोक्तास्तेषां । प्रबन्धं काव्यं । आकर्ण्य श्रुत्वा । प्रमोदं

संतोषं । आयाति प्राप्नोति या प्रापणे लट् । तथाहि न दीन एव नदीनः अलुक्समासः । सत्पुरुष एव इति ध्वनिः पक्षे नदीनामिनः प्रभुः समुद्रः “इनः सूर्ये प्रभौ” इत्यमरः स एव । विधूदयं विधोश्चंद्रस्योदयमुत्पत्तिं । वीक्ष्य आलोक्य । विवृद्धिं समृद्धिं । आयाति आगच्छति । जडाशयाः जड आशयोऽभिप्रायो येषां ते तथोक्ता मंदबुद्धय इति ध्वनिः “आशयः स्यादभिप्राये मानसाधारयोरपि” इति विश्वः पक्षे जलान्याशेरते एष्विति जलाशयाः “जलाशयो जलाधाराः” इत्यमरः । न यांति विवृद्धिं न गच्छन्ति । “यमकश्लेषचित्रेषु वषयोर्दलयोर भेदः” इति बचनात् जडाशया जलाशया इत्युभयत्रापि श्लेषरूपेणान्वयः अर्थांतरन्यासः ॥१६॥

भाषा टी०—चन्द्रोदय होने पर समुद्र ही उब्धेलित होता है, नकि छोटे २ जलाशय । उसी प्रकार महाकवियों का प्रबन्ध देखकर विज्ञ ही सन्तुष्ट होते हैं नकि जडाशय ॥१६॥

उपेक्षितारोऽपि फलन्त्यानिष्टाभीष्टानि यद् दुर्जनमज्जनास्तत् ।

वृथा कृता विश्वसृजा श्रमाय विषद्रुकल्पद्रुमयोर्हि सृष्टिः ॥१७॥

उपेक्षितार इत्यादि । दुर्जनसज्जनाः दुष्टाः जना दुर्जेनाः संतो जनास्सज्जनाः दुर्जनाश्च सज्जनाश्च तथोक्ताः । यत् यस्मात्कारणात् । “यत्तद्यतस्ततो हेतौ” इत्यमरः । उपेक्षितारोऽपि उदासीनं कुर्वन्तोऽपि किंपुनस्तन्निष्पादनामिमुखा इत्यपि शब्दार्थः । अनिष्टाभीष्टानि न इष्टान्यनिष्टानि तानि च तान्यभीष्टानि च तथोक्तानि अहितहितानि । फलन्ति निष्पादयन्ति फल निष्पत्तौ लट् । तत् तस्मान् कारणात् । विषद्रुकल्पद्रुमयोः विषरूपो द्रुवृक्षस्तथोक्तः “पलाशिद्रुद्रुमाः” इत्यमरः कल्पश्चासौ द्रुमश्च कल्पस्य द्रुम इति वा तथोक्तमनयोः विषवृक्ष-कल्पवृक्षयोः । सृष्टिः निर्माणं । विश्वसृजा ब्रह्मणा “विधाना विश्वसृद् विधिः” इत्यमरः । वृथा व्यर्थं । “वृथानिरर्थकाविध्योः” इत्यमरः । श्रमाय आयासाय । कृता विहिता । विषवृक्षकल्पवृक्षयोः कृत्यं दुर्जनसज्जना एव कुर्वन्तीति भावः । अत्र ब्रह्मणः सृष्टिः कविता-समयेन कथ्यते ॥१७॥

भा० अ०—सज्जन, दुर्जन तथा उदासीन प्राणी भी जब किसी के कार्य में हिताहित कर ही बैठते हैं, तब मैं समझता हूँ कि ब्रह्मा ने विषवृक्ष तथा कल्पवृक्ष की व्यर्थ ही सृष्टि की । अर्थात् सज्जन और दुर्जन ये दो महाशय ही इन वृक्षों का कार्य-सम्पादन कर देते हैं ॥१७॥

मन्तः म्वभावाद् गुणगत्नमन्ये गृह्णन्ति दोषोपलमात्मकीयम् ।

यथा पयोऽस्त्रं शिशवो जलौ क्तः जनो वृथा रज्यति कुप्यतीह ॥१८॥

संत इत्यादि । यथा । शिशवः बालकाः । जलौक्ताः रक्तपाः “रक्तपास्तु जलौकायाम्” इत्यमरः । पयः क्षीरं । “पयः क्षीरं पयोऽम्बु” च इत्यमरः । अस्त्रं रक्तं । रुधिरैऽसृग्लोहितास्त्र-

कक्षतजशोणितम्' इत्यमरः । गृह्णन्ति स्वोर्कुर्वन्ति ग्रह उपादाने लटि । तथा सन्तः चै सत्पुरुषाः । स्वामावात् मिसर्गात् । आत्मकीर्यं आत्मन इदमात्मकीर्यं स्वकीर्यं । गुणरत्नं गुण एव रत्नं गृह्णन्ति । अन्ये दुर्जनाः । आत्मकीर्यं स्वकीर्यं । दोषोपलं दोष एषोपलः पाषाणस्तं "पाषाणप्रस्तरप्रावोपलाशमानः" इत्यमरः । गृह्णन्ति आददते । इह लोके । जनः लोकः । वृथा व्यर्थं । रज्यति तुष्यति । कुप्यति रुष्यति रजि रागे कुप क्रोधे लटि । सवसतोस्तत्स्वभावत्वात्तयोस्तोषरोषाविशेषं न साधयत इति भावः ॥ १८ ॥

आ० अ०—जिस प्रकार स्तन में लगे हुए लड़के दूध तथा जोक खून पीते हैं उसी प्रकार सज्जन स्वभाव से ही गुणग्राही तथा दुर्जन दोषग्राही होते हैं । इस विषय में लोगों का प्रसन्न अथवा अप्रसन्न होना व्यर्थ सा ज्ञात होता है ॥ १८ ॥

तिक्तोऽस्ति निम्बो मधुरोऽस्ति चेक्षुः स्वं निन्दतोऽपि स्तुवतोऽपि तद्वत् ।
दुष्टोऽप्यदुष्टोऽपि ततोऽनयोर्मे निन्दास्तत्राभ्यामधिकं न माध्यम् ॥१९॥

तिक्तोऽस्तीत्यादि । निम्बः निम्बवृक्षः । "पिचुमन्दस्तु निम्बः" इत्यमरः । स्वं आत्मानं । निन्दतोऽपि निन्दतीति निन्दन् तस्यापि तिक्तः । स्तुवतोऽपि स्तौतीति स्तुवन् तस्यापि स्तुतिं कुर्वतोऽपि तिक्तः तिक्तरसोपेतः । अस्ति वर्तने । इक्षुश्च रसालोऽपि । स्वं निन्दतोऽपि स्तुवतोऽपि । मधुरः मधुररसयुक्तः । अस्ति भवति । दुष्टोऽपि दुर्जनोऽपि । अदुष्टोऽपि सज्जनोऽपि तद्वत् ताविव निम्बेक्षुवृक्षौ इव । स्वं निन्दतोऽपि स्तुवतोऽपि अनिष्टेष्टफलं प्रकाशेति इत्यर्थः । ततः तस्माद्धेतोः । अनयोः सज्जनदुर्जनयोः । निन्दास्तत्राभ्यां निन्दनस्तत्राभ्यां । मे मम अधिकं बहुलं । साध्यं फलं न नास्ति ॥ १९ ॥

भाषा टी०—जिस प्रकार अपनी प्रशंसा तथा निन्दा करनेवालों के लिये भी नीम तीनी तथा ईख मीठी बनो रहता है, उसी प्रकार सज्जन और दुर्जन हैं । इनकी स्तुति अथवा निन्दा से मेरा कुछ साध्य सा नहीं दीख पड़ता ॥ १९ ॥

यद्वर्ग्यते जैनचरित्रमत्रमत्र चिन्तामणिर्भव्यजनम्य यच्च :

हृद्यार्थरत्नैकनिधिः स्वयं मे तत्काव्यरत्नाभिधमेतदस्तु ॥२०॥

यदित्यादि । यत् जैनचरित्रं जिनस्येदञ्चैनं तच्च तत् चरित्रं च तथोक्तं । अत्र अस्मिन् काव्ये । वर्णयते स्तूयते वर्ण वर्णक्रियादौ कर्मणि लटि । यच्च चरित्रं । भव्यजनस्य रत्नत्रया-विर्भवनयोग्यो भव्यः स चासौ जनश्च तस्य विनेयजनस्य । चिन्तामणिः चिन्तितार्थप्रधानो मणिस्तथोक्तः नियतलिङ्गत्वात्पुंलिङ्गः । स्वयं स्वरूपेण । हृद्यार्थरत्नैकनिधिः हृदयस्य प्रियः हृद्यः "हृदयस्य हृद्याण्लासे" इति हृदयशब्दस्य यणि प्रत्यये हृदादेशः । हृद्यश्चासावर्थोऽभि-

प्रायस्स च तथोक्तः हृद्यार्थ एव रत्नानि तेषामेको मुख्यः स चासौ निधिश्च तथोक्तः “एके मुख्यान्वकेवलाः” इत्यमरः । मे मम । तदेतत् काव्यं । काव्यरत्नाभिधं काव्यानां रत्नमिव काव्यरत्नमित्यभिधा अभिधानं यस्य तत् काव्यरत्नाभिधं । अस्तु भवतु अस भुवि लोट् ॥ २० ॥

भा० अ०—इस काव्य में मैं जिस जिन-चरित्र का वर्णन करता हूँ, वह भविकों के लिये चिन्तामणि और सुन्दर अभिप्राय रूपी रत्न की एकमात्र निधि है; अतः यह मेरा प्रबन्ध काव्यरत्न नाम से प्रख्यात हो ॥ २० ॥

यत्स्थापनां नाम भुवञ्च कालं द्रव्यञ्च भावं प्रति षट्प्रकाराः ।

स्तुतिर्जिनस्य क्रियतेऽत्र तस्मात् काव्यं ममैतत्स्तुतिरेव भूयात् ॥२१॥

यदित्यादि । यत् यस्मात्कारणात् । अत्र काव्ये । स्थापनां स्थाप्यते स एव देव इदं प्रति-
बिम्बमिति स्थापनां वर्णप्रमाणसंस्थापनादिभिः प्रतिमा तदालयादि प्रशंसनं नाम जिनतज्ज-
नीजनकाद्यभिधानं तन्नामनिवर्चनं च । भुवञ्च जिनजन्मादिक्षेत्रं । चशब्दः समुच्चयार्थः । कालं
जिनेत्पत्तिप्रमुखकालं ; द्रव्यं च जिनजन्मसूत्रकस्वप्नादि द्रव्यं च । भावञ्च केवलज्ञानादिगुणं
प्रति भावमिति च “प्रतिपर्यनुभिः” इति द्वितीया । षट् प्रकारा भेदा यस्याः सा “प्रकारो
भेदसादृश्ये” इत्यमरः । जिनस्य अर्हतः । स्तुतिः स्तोत्रं । क्रियते विधीयते तथैवागमश्च
श्रूयते । “स्युर्नामस्थापनाद्रव्य-क्षेत्रकालाश्रयास्तथाः । व्यवहारेण पञ्चार्थादेकोभावस्त-
वोऽर्हताम्” इति । तस्मात्कारणात् । मम । एतत्काव्यं । स्तुतिरेव स्तोत्रमेव । भूयात्
भवतु । भू सत्तायां लिङ् ॥ २१ ॥

भा० अ०—इस काव्य में जिन-स्थापन, जिन-नाम, जिन-जन्मादिक्षेत्र, जिन केवल-ज्ञानादि
गुण, जिनेत्पत्तिकाल तथा जिनजन्म-सूत्रक स्वप्नादि छः प्रकार की स्तुति की जाती है,
इस लिये मेरा यह काव्य ही स्तुतिमय हो ॥ २१ ॥

अथास्ति जम्बूविटपिच्छन्नेन द्वीपेषु गर्वोन्नतमस्तकस्य ।

द्वीपस्य भर्माभरणोऽत्र खण्डे ग्लायमानो मगध्राख्यदेशः ॥२२॥

अथेत्यादि । अथ पीठिकानंतरं “मंगलानंतरारंभप्रश्नकास्तर्प्येष्वथो अथ” इत्यमरः ।
द्वीपेषु । जम्बूविटपिच्छन्नेन विटपोऽस्यास्तीति विटपी वृक्षः “विटपी फलिनो नगः” इति
धनंजयः । जम्बूगिति विटपी तथोक्तः स इति छलं व्याजस्तेन । “पदं व्यनिकरं छलम्”
इति धनंजयः । गर्वोन्नतमस्तकस्य गर्वोणोन्नतो मस्तको यस्य तस्य । उत्प्रेक्षा । द्वीपस्य
जम्बूद्वीपस्य । भर्माभरणे भर्मणा निर्मितमाभरणं तथोक्तं भर्माभरणमिव भर्माभरणं तस्मिन्

अत्र अस्मिन् खण्डे आर्यखण्डे । रत्नायमानः रत्नमिव आचरतीति रत्नायमानः । उपमा । मगधराज्यदेशः मगध इत्याख्या नाम यस्य स तथोक्तः स चासौ देशश्च तथोक्तः । अस्ति वर्तते । संकरालकारः ॥ २२ ॥

भा० अ०—जम्बूद्वीप के कारण सभी द्वीपों में अभिमान से उन्नत मस्तकवाले, जम्बूद्वीप के स्वर्णभूषण-तुल्य आर्य-खण्ड में रत्न के समान एक मगध-नामक देश है । २२ ।

यद्गुधरा भूतलसेव्यपादा भूपा इवाक्रान्तदिगन्तरालाः ॥

इन्दन्ति मत्तद्विपकैरवाक्षिकस्तूरिकाकाञ्चनरत्नखड्गैः ॥ २३ ॥

यदित्यादि । भूतलसेव्यपादाः भुवस्तलं भूतलं तेन सेव्याः संबद्धुं योग्याः पादाः प्रत्यन्तपर्वता मूलतलं वा येषां ते तथोक्ताः पक्षे “तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश” इति भूतलेन भूजनेन संब्याः आराधयितुं योग्याः पादाश्चरणा येषां ते तथोक्ताः । “पादो ब्रह्मे तुरीयांशे शैलप्रत्यंतपर्वते । चरणे च मयूखे च” इति विश्वः । आक्रान्तदिगन्तरालाः दिशां ककुभामन्तरालमभ्यंतरं आक्रान्तं व्याप्तं दिगन्तरालं यैस्ते तथोक्ताः । यद्गुधराः यस्य मगधदेशस्य भूधराः पर्वताः । मत्तद्विपकैरवाक्षिकस्तूरिकाकाञ्चनरत्नखड्गैः मत्ताश्च ते द्विपाश्च मत्तद्विपाः कैरवमिव अक्षिणी यासां ताः कैरवाक्ष्यः मत्तद्विपाश्च कैरवाक्ष्यश्च कस्तूरिकाः कस्तूरिकामृगाश्च कस्तूरी च काञ्चनाः राजवृक्षाश्च काञ्चनं स्वर्णं च रत्नानि च खड्गाः खड्गिमृगा असयश्च तथोक्तास्तैः । उपमालकारः । “काञ्चनः काञ्चनारस्याच्चंपके नागकेसरे उदुंबरे च पुन्नागे हरिद्रायां च काञ्चनी । काञ्चनं हेम्नि किञ्जल्क” इति । खड्गगंडकशृङ्गास्त्रिबुद्धभेदेषु गंडक” इति च विश्वः । भूपा इव राजान इव । इन्दन्ति परमैश्वर्यमनुभवन्ति । इष्टु परमैश्वर्यं लड । उपमालङ्कारः ॥ २३ ॥

भा० अ०—सभी दिशाओं में व्याप्त तथा पृथ्वी के अन्तस्तल-प्रदेश में जिन के पैर अड़े हुए हैं, ऐसे मगधदेश के पर्वत मतवाले हाथी, कैरवाक्षी, कस्तूरीमृग, और खड्गमृग से ऐश्वर्यशाली होते हुए अन्यान्य राजाओं के समान शोभते हैं । ॥२३॥

नगेषु यरस्योन्नतवंशजाताः सुनिर्मला विश्रुतवृत्तरूपाः ।

भव्या भवन्त्यासगुणाभिरामा मुक्ताः सदा लोकशिरोविभूषाः ॥२४॥

नगेष्वित्यादि । यस्य मगधदेशस्य । नगेषु न गच्छन्तीति नगाः तेषु । “शैलवृक्षौ नगावगौ” इत्यमरः । उन्नतवंशजाताः उन्नता महान्तः वंशा वेणवोऽन्वयाश्च “वंशो वेणौ कुले वर्णे पृष्ठस्यावयवेऽपि च” इति विश्वः । उन्नताश्च ते वंशाश्च तथोक्तास्तेषु जायन्तेऽस्मि तथोक्ताः ।

सुनिर्मलाः मलात् त्रासादिरूपान्निर्गता निर्मलाः पक्षे मलाद्दर्शनमोहनीयान्निर्गता निर्मलाः सुष्टु निर्मलाः सुनिर्मलाः । विश्रुतवृत्तरूपाः विश्रुतं प्रसिद्धं तच्च तत्त्वृत्तं वृत्तं च तथोक्तं तदेव रूपं यासां ता तथोक्ताः पक्षे विशिष्टश्रुतं विश्रुतं श्रुतज्ञानं तच्च वृत्तं चारित्रञ्च विश्रुतवृत्ते ते एव रूपं स्वरूपं येषां ते तथोक्ताः । भव्याः तारादिगुणाविर्भवनयोग्याः भव्याः शुभरूपाः पक्षे रत्नत्रयाविर्भवनयोग्याः भव्याः विनेयाः । आप्तगुणाभिरामाः आप्यतेस्म आप्तः प्राप्तः स चासौ गुणस्तन्तुश्च तथोक्तस्तेन अभिरामाः शोभमानाः पक्षे “इहाप्यते तत्त्वबुभुत्सया भवभ्रमोत्थदुःखापनिनीपया बुधैः । अनन्तसौख्यामृतमोक्षलिप्सया निरुच्यतेऽन्वर्थतयाप्त इत्यसौ” इति वचनादाप्तस्सर्वज्ञस्तस्य गुणाः क्षायिकसम्यक्त्वादयस्तैरभिरामाः । मुक्ताः मौक्तिकानि पक्षे मुक्ताः मुक्तिमापन्नाः “मुक्ता तु मौक्तिके मुक्तः प्राप्तमुक्ते च मोचने” इति विश्वः । सदा सर्वस्मिन् काले । लोकशिरोविभूपाः लोकानां जनानां शिरांसि मस्तकानि तेषां विभूषाः भूषणरूपाः पक्षे लोकस्य जगतः शिरोऽग्रभागस्तस्य विभूषाः मंडनभूताः । “लोकस्तु भुवने जने” इत्यमरः । भवन्ति जायन्ते । श्लोपालंकारः । यद्देशस्थपर्वतेषु वेणुसमुद्भूतानि मौक्तिकानि जनानां शिरसो भूषणानि भवन्ति तेषु मुक्तिमापन्ना भव्याश्चते त्रिलोकशिखरमंडनतां यान्तीति भावः ॥ २४ ॥

भा० अ०—जिस मगधदेश के पर्वतों में उच्च वंशज, अत्यन्त स्वच्छ अथवा निर्दोष और सुन्दर गोलाकार अथवा श्रुतज्ञान तथा सच्चारित्र-गुणयुक्त, सुन्दर अथवा विनय और आप्त गुणों से युक्त मुक्ता अथवा मुक्त जीव सदा लोगों के शिरो-भूषण बने हुए थे । २४ ।

उत्तुङ्गोत्रप्रभवा भवत्यो भजन्तु भूचक्रबहिष्कृतं किम् ।

इति स्रवन्तीरुद्धिं सरन्तीर्ग्वैमि यत्रालिगणो रणाद्धि ॥ २५ ॥

उत्तुङ्गेत्यादि । यत्र मगधदेशे । आलिगणः आलीनां सेतूनां सखीनां वा गणः समूहः । “आलिः पंक्तौ च सख्यां च सेतौ च परिकीर्तिता” इति विश्वः । उत्तुङ्गोत्रप्रभवाः उत्तुङ्गाः उन्नतास्ते च ते गोत्राः पर्वताश्च तथोक्ताः पक्षे उत्तुङ्गानि श्रेष्ठानि गोत्राणि कुलानि तथोक्तानि तेषु प्रभवाः जाताः । “गोत्रं नाम्नि कुले क्षेत्रं कानने चित्तवर्त्मनोः । संभावनीयबोधेऽपि गोत्रः क्षोणीधरे मतः ॥ प्रभवो जलमूले स्याज्जन्मभूमौ पराक्रमे । आद्योपलब्धयोः स्थाने” इत्युभयत्रापि विश्वः । भवत्यः भान्तीति भवत्यः । “भातेर्डवत्वि”-त्यौणादिको डवतु प्रत्ययः “नृदुगिदि”त्यादिना डी । पूज्या यूयं । भूचक्रबहिष्कृतं भुवश्चक्रं बलयं भूचक्रं तस्माद्बहिष्कृतो दूरी कृतोऽवधिनियतस्तं दुश्चरित्राल्लोकवाहाकृतं नायकमिति ध्वनिः । किं किं कारणं । “किं पृच्छायां जुगुप्सने” इत्यमरः । भजन्तु श्रयन्तु । भवच्छब्दप्रयोगे प्रथमपुरुषः । भज सेवायां लोट् । इति एव प्रकारेणोक्तं वा । उद्धिं उदकानि धीयन्तेऽस्मिन्नित्युद्धिस्तं । “नामन्युत्तरपदस्य च” इति

समासगतस्योदकशब्दस्योद इत्यादेशः पयोधिं । सगन्तीः गच्छन्तीः । स्रवन्तीः नदीः । “स्रवन्ती
निम्नगापगा” इत्यमरः । हणद्धि निवारयति । हधिर् आचरणे लोट् । इत्यवैमि जानामि
निश्चिनोमि वा । इण् गतौ लट् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ २५ ॥

भा० अ०—देश से निकाले हुए दुश्चरित्र नायक के पास जाती हुई कुलीन नायिका को
जिस प्रकार उस की सखियाँ रोकती हैं उसी प्रकार भूमण्डल से तिरस्कृत समुद्र के पास
जाती हुई नदियों को वहाँ के सब पुल रोकते हुए के ऐसे मालूम होते हैं ॥ २५ ॥

तरंगिणीनां तरुणान्वितानामतुच्छपद्मछद्मलाञ्छितानि ।

पृथूनि यस्मिन्पुलिनानि रेजुः कांचीपदानीव नग्वाञ्चितानि ॥ २६ ॥

तरंगिणीनामित्यादि । यस्मिन् मगधदेशे । तरुणान्वितानां तरुणा वृक्षेण जात्येकवचनं पक्षे
तरुणैर्यु चभिरन्वितानां युक्तानां “विटपी पादपस्तकः । वयथस्तरुणो युवा” इत्युभयत्राप्यमरः ।
तरंगिणीनां तरंगास्संत्यासामिति तरंगिण्यस्तासां नदीनां । “तरंगिणा शैवलिनी” इत्यमरः ।
अतुच्छपद्मछद्मलाञ्छितानि न तुच्छा अतुच्छाः सारभूताः महांतो वा पद्मानां कमलानां
छदाः दलानि “दलं पर्णं छदः पुमान्” इत्यमरः । अतुच्छाश्च ते पद्मच्छदाश्च तथोक्तास्तैः
लाञ्छितानि चिह्नितानि । पृथूनि शूलानि । पुलिनानि सैकतानि । “तोयोत्थितं तत्पुलिनं सैकतं
सिकतामयम्” इत्यमरः । नग्वाञ्चितानि नवैर्नवैरैरचितान्यन्वितानि । कांचीपदानीव कांचीनां
रसनानां पदानि स्थानानि तथोक्तानि जघनानांवेत्यर्थः । “कांचीस्थानमेखलाधाम्नि
गुञ्जायां नीचदन्तरे । पदं शब्दे च वाक्यं च व्यवसायापदेशयोः ॥ पादपचिह्नयोःस्थान
त्राणयोरंकवस्तुनोः” । इत्युभयत्रापि विश्वः । रेजुः वधुः । गजू दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा-
लंकारः ॥ २६ ॥

भा० अ०—जिस मगध देश में वृक्ष-पङ्क्ति-से युक्त नदियों के, सुन्दर विकसित कमल-
पत्रों से चिह्नित विस्तृत पुलिन, (जलसे निकला हुआ भूभाग) नायिका के नखक्षत जघन के
समान शोभित होते हैं । २६ ।

तमोनिवासेषु वनेषु यस्य मरन्दसार्द्रास्तरणोर्मयूखाः ।

स्फुरन्ति शाखान्तरलब्धमार्गाः कुन्ताः प्रयुक्ता इव शोणितार्द्राः ॥ २७ ॥

तमोनिवासेष्वित्यदि । यस्य मगधदेशस्य । तमोनिवासेषु तमसां तिमिराणां निवासेषु निल
येषु । निविडेष्वित्ययमर्थः । वनेषु उद्यानेषु । तरणेः सूर्यस्य । “द्यु मणिस्तरणिर्मित्र” इत्यमरः ।
मरन्दसार्द्राः मरन्देन पुष्परसेन सार्द्राः “मकरन्दो मरन्दोऽस्य रस” इति वैजयन्ती ।
“आर्द्रा सार्द्रा क्लिन्नम्” इत्यमरः । शाखान्तरलब्धमार्गाः शाखानां अन्तरे मध्ये लब्धः प्राप्तो

मार्गो यैस्ते तथोक्ताः । मयूखाःकिरणाः । “मयूखस्तिवट्करज्वाला” इत्यमरः । शोणितार्द्राः शोणितेन रक्तेन आर्द्राः सार्द्राः । प्रयुक्ताः व्यापारिताः । कुन्ता इव आयुधविशेषा इव । “कुन्तः प्राप्ते चंडभावे क्षुद्रजन्तौ गवेधुक” इति विश्वः । स्फुरन्ति विभान्ति । स्फुर स्फुरणे लटि । उत्प्रेक्षालंकारः । रिपुषु निकुञ्जगतेषु पृष्ठलग्नेः प्रयुक्ताः कुन्ताः शोणितार्द्रा भवन्ति यथा तथा अत्रापि तमोरिपुत्वान्तरणेरितिभावः । उत्प्रेक्षा ॥ २७ ॥

भा० अ०—जिस मगध देशके निविड़ अन्धकारमय वनों में मकरन्द-विन्दु से भींगी हुई तथा पत्तों की ओट से छन २ कर आती हुई सूर्य की किरणों लक्ष्य को बेध कर आई हुई हथिराक्त वलिओं सी हैं ॥ २७ ॥

अभ्रं लिहाप्राणि वनानि यस्मिन्नीयुर्ध्रुवं नाकतरं निकर्तुम् ।

को दानवारिप्रतिपन्नवृत्तेः क्षमेत संकल्पितदानगर्वम् ॥ २८ ॥

अभ्रं लिहेत्यादि । यस्मिन् देशे । अभ्रं लिहाप्राणि अभ्रं आकाशं लेढि स्पृशतीत्यभ्रं लिहं । “वहाभ्रालिह” इति खन् । “खित्यरुद्विपतश्चानव्ययस्ये”ति मम् । अभ्रं लिहमग्रं येषां तानि तथोक्तानि । वनानि उद्यानानि । नाकतरं नाकस्य स्वर्गस्य तस्वृक्षस्तं कल्पवृक्षमित्यर्थः । निकर्तुं निकरणाय निकर्तुं निराकर्तुं मित्यर्थः । ध्रुवं निश्चलं । इयुः ययुः । इण्गतौ लिट् । तथाहि-दानवारिप्रतिपन्नवृत्तेः दानस्य त्यागस्य वारि जलं दानवारि वितर्णजलं तेन प्रतिपन्ना अंगोक्तता वृत्तिर्जीवनं वर्तनं वा यस्येति स तस्य देवतरोः पक्षे दानवानामसुराणामरयो रिपवस्तैः सुरैः प्रतिपन्ना वृत्तिस्तस्याः । “प्रतिपन्नः स्वोक्ततेऽधीते विज्ञाते-भीकृतेपि च” इति विश्वः । “वृत्तिर्वर्तनजीवन” इत्यमरः । संकल्पितदानगर्वं संकल्प्यते स्म संकल्पितो वाञ्छितस्तस्य दानं वितरणं तस्माज्जातो गर्वस्तं । को वा लोकः । क्षमेत सहेत । क्षमुष् सहने लिङ् । न कोऽपीत्यर्थः । दानवारिप्रतिपन्नवृत्तेः संकल्पितदान-स्योभयत्र साम्ये सति तद्गर्वमेकत्र कः सहेतेति भावः । अर्थान्तरन्यासः ॥ २८ ॥

भा० अ०—जहाँ गगन-चुम्बी वन कल्पवृक्ष को पददलित करते हुए के समान आकाश तक पहुँचे हुए हैं । क्योंकि कौनसा स्वाभिमानवृक्ष, दानके जलसे अपनी वृत्ति करने वाले कल्पवृक्ष के अभीष्ट वस्तुप्रदान का गर्व सह सकता है ? ॥ २८ ॥

पाकावनम्राः कलमा यदीयाः पादावनम्रा इव मातृभक्त्या ।

आघ्रायमाणाः स्वशिरस्सु भान्ति विकासिपद्माननया धरित्र्या ॥ २९ ॥

पाकावनम्रा इत्यादि । मातृभक्त्या मातरि कृता भक्तिः मातृभक्तिः तथा मातरि विहितानुरागेण । पादावनम्रा इव अवनमन्तीत्येवं शीलाः अवनम्राः । “नम्कम्यजे” त्याहिना रः ।

पादयोरवनम्रास्तथोक्ताः पादनमनशीला इव । पाकावनमाः पाकेन परिणमनेन अवनमाः समंतान्नमनशीलाः । यदीयाः यस्य मगधदेशस्य संबन्धिनस्तथोक्ताः । कलमाः व्रीहिविशेषाः । विकासिपद्माननया विकासतीत्येवं शीलं विकासि तच्च तत् पद्मं च तदेवाननं यस्यास्सा तथा । धरित्र्या भूदेव्या । स्वशिरस्सु स्वेषां शिरांसि मस्तकानि तेषु । आघ्रायमाणाः आघ्रायन्त इति । भान्ति राजन्ते । भा दीप्तौ लटि । पाकेन विकासिपद्मेष्ववनतशिरसः संत एव भान्तीति भावः । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ २६ ॥

भा० अ०—एकजाने से मातृभक्ति से प्रणत के समान पैर की ओर झुके हुए धान के गुच्छे, विकसित पद्ममुखी पृथ्वी से मस्तक-द्वारा सूँघे जाते हुए सिर पर शोभ रहे हैं । २६ ।

विभान्ति सस्यान्तरितानि यस्मिन् हेमारविन्दानि मधूत्वणानि ।

आपाययन्त्या इव शालिपुत्रानात्तानि धात्र्या करसेचनानि ॥ ३० ॥

विभान्तीत्यादि । यस्मिन् मगधे । सस्यान्तरितानि सस्यानामन्तर्यान्तिस्म तथोक्तानि । मधूत्वणानि मधुना पुष्परसेन उल्वणानि प्रवृद्धानि तथोक्तानि । “मधु मधे पुष्परसे शौद्रं पि” “स्पष्टं स्फुटं प्रयत्नमुल्वणम्” इत्यमरः । हेमारविन्दानि कनककमलानि । शालिपुत्रान् शालय एव पुत्रास्तान् । आपाययन्त्या आपाययतीत्यापाययन्ती तथा पानं कारयन्त्या । धात्र्या भूम्या उपमात्रा वा “धात्री स्यादुपमातापि क्षितिरप्यामलक्षपि” इत्यमरः । आत्तानि धृतानि । करसेचनानि करस्थानि सेचनानि करसेचनानि सेचनपात्राणि । “सेकपात्रं तु सेचनम्” इत्यमरः । इव भान्ति विराजन्ते । भा दीप्तौ लटि । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ३० ॥

भा०-अ०—वहाँ धान्यरूपी पुत्रों को दूध पिलाती हुई धाई के दुग्धपात्र के समान, क्यारी के बीच २ के पुष्परस से भरे हुए कनककमल शोभते थे । ३० ।

यत्रेक्षुदराडाः कुसुमाभिरामा वितन्वते पर्वचयाचिताङ्गाः ।

मनोजराजस्य जगज्जिगीषोरुच्चामरोड्डामरकुन्तलीलाम् ॥ ३१ ॥

यत्रेत्यादि । यत्र मगधविषये । कुसुमाभिरामाः कुसुमैः पुष्पैरभिरामा विराजमाना स्तथोक्ताः । पर्वचयाचिताङ्गाः पर्वणां ग्रन्थिनां चयस्समूहस्तेनाचितं निचितमंगमवयवो येषां ते तथोक्ताः । “आचितः शकटोन्मेये पलानामयुतद्वये । लन्नेपि संगृहीते स्यात्” इति विश्वः । इक्षुदंडाः रसालयष्टयः । जगज्जिगीषोः जेतुमिच्छुर्जिगीषुः “जैर्लिट् सनिति” पूर्वात्परस्य कवर्गः । जगतो जिगीषुस्तस्य । मनोजराजस्य मनसि जायत इति मनोजो

मन्मथः मनोजश्चासौ राजा च तथोक्तस्तस्य । “राजन्सखे” रित्यट्प्रत्ययः । उच्चामरो-
ड्डामरकुन्तलीलां उद्गतानि चामराणि येषां ते उच्चामराः उन्मुखचामराः । “चामरं तु
प्रकीर्णकम्” इत्यमरः । उड्डामरा निर्वाधास्ते च ते कुन्ताः प्रासाश्च तथोक्ताः उच्चामराश्च
ते उड्डामरकुन्ताश्च तथोक्तास्तेषां लीला तां । वितन्वते विस्तारयन्ति । तनु विस्तारे
लट् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ३१ ॥

भा० अ०—जहाँ गाँठ से भरी हुई देहवाले और पुष्पोंसे समलङ्कृत इक्षुदण्ड
संसार को जीतने की इच्छा करने वाले कामदेव के उन्नत चामर तथा अचूक बछों का
दृश्य दिखाते हैं । ३१ ।

भूदेवता यद्विभवं विलोक्य भूयोऽवधूतत्रिदिवं दधाति ।

निलीनभृंगस्थलपद्मदंभाग्निष्पंदताराणि विलोचनानि ॥ ३२ ॥

भूदेवनेत्यादि । भूदेवता भूरेव देवता तथोक्ता भूमिदेवता । रूपकः । अवधूत-
त्रिदिवं अवधूयतं स्म अवधूतोऽवधूतो निराकृतस्त्रिदिवः स्वर्गां धनासौ अवधूतत्रिदिवस्तं ।
यद्विभवं यस्य मगधदेशस्य विभवं पेश्वर्यं तथोक्तस्तद् । विलोक्य वाक्ष्य । निलीनभृंगस्थ
लपद्मदंभात् निलीयन्ते स्म निलीना अन्तःस्थिताः निलीना भृंगाः मधुकराः यस्मिन् तत्
निलीनभृंगस्थलपद्मं स्थले भूतले जातं पद्मं तथोक्तं निलीनभृंगं च तत् स्थलपद्मश्च निलीन-
भृंगस्थलपद्मं निलीनभृंगस्थलपद्ममिति दंभो व्याजस्तथोक्तस्तस्मात् । निष्पंदताराणि
निष्पंदा निश्चला तारा कर्नातिका येषां तानि “ऋक्षाक्षिमध्यपोस्तारा सुग्रीवगुहयोषितोः”
इतिविश्वः । विलोचनानि नयनानि । भूयः पुनः । दधाति डुधाञ् धारणे लट् ।
उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ३२ ॥

भा० अ०—स्वर्गकी सम्पत्ति को भी तिरस्कृत की हुई मगध देश की विभूति को
देख कर भूदेवता मानों भ्रमरयुक्त स्थलकमल के व्याज से अपने अतृप्तनयनों से उसे
निहार रहे हैं । ३२ ।

यस्योर्वरासारगुणस्य मूर्ताः पुञ्जा इवाभान्ति समन्ततोऽपि ।

तिलातसीकोद्रवमुद्गमाषगोधूमवल्लक्षवशालिशैलाः ॥ ३३ ॥

यस्येत्यादि । यस्य मगधजनपदस्य । समन्ततोऽपि समन्तात्समन्ततः परितोऽपि । तिला
तसीकोद्रवमुद्गमाषगोधूमवल्लक्षवशालिशैलाः तिलश्च अतसी च उपमाषा च कोद्रवश्च
मुद्गश्च माषश्च गोधूमश्च वल्लो निर्वावः गुञ्जवृक्षवल्लश्च क्षवो राजमाषक्षवश्च शालिश्च तिला
तसीकोद्रवमुद्गमाषगोधूमवल्लक्षवशालयस्तेषां शैला राशयः राशेरान्त्ये शैलप्रयोगः ।

उर्वरासारगुणस्य सारःसमीचीनः सचासौ गुणश्च तथोक्तः उर्वरायाः सर्वसस्योत्पत्तिभूमेः सारगुणस्तस्य । “उर्वरा सर्वसस्याद्या” इत्यमरः । पुञ्जाः राशयः “स्यान्निकायः पुंजराशिस्तूत्करः कूटमखियाम्” इत्यमरः । मूर्ता इव मूर्तिभूता इव । आभान्ति विराजन्ते । उत्प्रेक्षा लंकारः ॥ ३३ ॥

भा० अ०—ब्रह्मं चारो ओर तिल, तीसी, कोदो, मूंग, उड़द, गेहूं तथा धान आदि की ढेर मूर्त्तिमान् उर्वरत्वगुण के समान दीख पड़ते हैं । ३३ ।

यत्रार्तवत्त्वं फलिताटवीपु पलाशिताद्रौ कुसुमे परागः ।

निमित्तमात्रे पिशुनत्वमासीत् निरोष्ठ्यकाव्येष्वपवादिता च ॥३४॥

यत्रेत्यादि । यत्र मगधदेशे । आर्तवत्त्वं आर्तौ मनोदुःखं तदस्यास्तीत्यार्तवान् तस्य भावः आर्तवत्त्वं दुःखवत्त्वम् नास्ति तच्छब्दप्रवृत्तिरपि नास्ति किमिति चेत् ऋतवः प्राप्ता आसामित्स्यार्तवत्यस्तासां भावः आर्तवत्त्वं षट्कालनियमवत्त्वं “ज्योत्स्नादिभ्योऽण्” “ऋतुः स्त्री कुसुमे मासि वसंतादिषु धारयोः” इतिविश्वः । फलिताटवीषु फलानि संजातान्यासामिति फलिताः “संजातं तारकादिभ्य” इति इतप्रत्ययः ताश्च ता अटव्यश्च तासु । आसीत् अभूत् । अस् भुवि लुङ् । पलाशिता पलं मांसं “पलमुन्मानमांसयोः” इति विश्वः । तदक्षातीत्येवंशीलः पलाशी तस्य भावः पलाशिता मांसभक्षित्वं पक्षे पलाशः किंशुकः “पलाशः किंशुके पर्णे वातपोत” इत्यमरः । सोऽस्यास्तीति पलाशी तस्य भावः पलाशिता अद्रौ पर्वते यद्वा पलाशं पत्रं तदस्यास्तीति पलाशी तस्य भावः पर्णवत्ता “पत्रंपलाशम्” इत्यमरः । अद्रौ तरौ “अद्रयो द्रु मशैलार्का” इत्यमरः । अथवाद्रौ वृक्षे “द्रुद्रुमागमः” इत्यमरः । आसीत् अभवत् । परागः परं च तत् आगश्च तथोक्तः उत्कृष्टापराधः पक्षे परागः पुष्परेशुः “आगोपराधो मन्तुश्च” “परागः कुसुमे रेणौ” इत्युभयत्राप्यमरः । कुसुमे पुष्पे । आसीत् अभवत् । पिशुनत्वं कर्णेजपत्वं पक्षे सूचकत्वं “पिशुनौ खलसूचकौ” इत्यमरः । निमित्तमात्रे निमित्तमेव निमित्तमात्रं तस्मिन् शकुनमात्रे । आसीत् अभवत् । अपवादिता च अपवाद्दोऽस्यास्तोत्यपवादी तस्य भावः अपवादितापि निन्दावत्त्वञ्च “अपवाद्स्तु निन्दायामाज्ञाविस्त्रंभयोरपि” इतिविश्वः । पक्षे पश्च वश्च पवौ तावादिर्व्यस्य सः पवादिः न विद्यते पवादिर्व्यस्य सतथोक्तस्तस्य भावः अपवादिता पकार-वकारादिरहितत्वम् अथवा पं वदतोत्येवं शीलं पवादी न पवादी अपवादी तस्य भावस्तथोक्तः पवर्गोक्तिरहितत्वं । निरोष्ठ्यकान्येषु ओष्ठान्निर्गतो निरोष्ठः निरोष्ठे भवानि निरोष्ठ्यानि “दिगाद्यंशांशाद्य” इति भवार्थे यप्रत्ययः । निरोष्ठ्यानि च तानि काव्यानि च तेषु ओष्ठ्याक्षररहितप्रबन्धेषु । आसीत् अभवत् । परिसंख्यालंकारः ॥३४॥

भा० अ०—वहाँ आर्त्त्ववत्त्व (ऋतुओं का भाव वा मानसिक व्यथा) फले हुए बनों में था न कि मगधवासियों में, पलाशिता (पत्तों का लगना वा मांस-भक्षण) पेड़ों में थी न कि मगधवासियों में, पराग (पुष्पधूलि वा बड़ा अपराध) फूलों में था न कि जनता में, पिशुनत्व (शकुन वा चुगलखोरी) शास्त्रों में था न कि वहाँ के लोगों में और अपवादिता (पकार तथा बकार का अभाव वा निन्दा) निरोच्छ्रय काव्य में थी न कि मगधवासी मनुष्यों में । ३४ ।

स्त्रीणां कचे माल्यमुरोजभारे श्यामाननत्वं जघने जडत्वम् ।

अपाङ्गता केवलमक्षिसीम्नोर्मध्यप्रदेशेषु च नास्तिवादः ॥ ३५ ॥

स्त्रीणामित्यादि । माल्यं मलस्य भावः माल्यं “वर्णदूढादिभ्य” इतिघण अथवा मलमेव माल्यं “भेषजादि” इतिघण् मलभावः पक्षे माल्यंपुष्पमाला “माल्यं मालास्रजौ” इत्यमरः । स्त्रीणां नारीणाम् । कचे शिरोरुहे । आसीदित्यत्राप्यन्वीयते । श्यामाननत्वं श्याममाननं यस्य स श्यामाननस्तस्य भावस्तत्त्वं निष्प्रममुखत्वं पक्षे कृष्णमुखत्वं । उरोजभारे उरसि जायेते इति उरोजे तयोर्भावस्तथोक्तस्तस्मिन् पयोधरमण्डले । आसीत् । जडत्वं पक्षे भारवत्त्वं । “जडो जालमश्च निवृद्धौ शब्देनालोच्यकारिणि” इति वैजयन्ती । जघने नितम्बे । आसीत् । अपाङ्गता अपगतमङ्गं यस्य तस्य भावस्तथोक्ता हीनाङ्गत्वं पक्षे कटाक्षेक्षणं “अपाङ्गमङ्गहीने स्यान्नेत्रान्ते तिलकेऽपि च” इति विश्वः । केवलं परं “केवलो ज्ञानभेदे स्यात्केवलश्च ककृतत्वयोः । निर्णीते केवलं चेत्केवलः कुहने क्वचित्” इति विश्वः । अक्षिसीम्नोः अक्ष्योःस्तीमानौ मर्यादे तयोः “सीमसीमे स्त्रियामुभे” इत्यमरः । नेत्रावसानयोः । आसीत् । नास्तिवादः नास्तीतिवचनं नास्तिवादः परलोकाद्यपह्नवः पक्षे नास्तिवादः अति-कृशत्वादुपचारेण नास्तीतिवचनं यद्वा नास्तिवादः ईपदस्तिवादः “नञभावे निषधे च स्वरूपार्थे व्यतिक्रमे । ईपदर्थे च” इति विश्वः । मध्यप्रदेशे मध्यस्य प्रदेशस्तस्मिन् अवलग्नप्रदेशे । आसीत् । स्त्रीणामिति सर्वात्राप्यन्वयः । इयमपि परिसंख्या ॥ ३५ ॥

भा० अ०—माल्य [मालायें वा मलिनता] वहाँ की स्त्रियों के केशगुच्छ में था न कि वहाँ के लोगों में, श्यामाननत्व [काला मुख वा हृदय का कालापन] मगधवासिनी स्त्रियों के स्तनों में था न कि लोगों में, जडता (गठीलापन वा बुद्धि की मन्दता) स्त्रियों की जाँघ में थी न कि पुरुषों में, अपाङ्गता [कटाक्ष वा अङ्ग की विकलता] स्त्रियों की आँखों में थी न कि मनुष्यों में और नास्तिवाद (कृशत्व वा नास्तिकता) वहाँ की स्त्रियों की कटी में था न कि मगधवासी जीवों में । ३५ ।

भुजंगमेष्वागमवक्रभावो भुजंगहारेऽप्यजिनानुरागः ।

ध्रुवं प्रदोषानुगमो रजन्यां दिनक्षयस्सोऽपि दिवावसाने ॥ ३६ ॥

भुजंगमेष्वित्यादि । आगमवक्रभावः वक्रस्य भावो वक्रभावः आगमस्य आप्तप्रणीतस्य परमागमस्य वक्रभावस्तथोक्तः प्रवचनकुटिलत्त्वम् पक्षे आगमस्य वक्रभावः “आगमः शास्त्र-
आयाते” इति विश्वः । ध्रुवं निश्चयेन । भुजंगमेषु भुजेन गच्छन्तीति भुजंगमास्तेषु । “गमः
ख खड्डा” इति ख प्रत्ययः “खित्यरुः” इत्यादिना मम् । आसीदित्यत्राप्यनुबध्यः । अजि-
नानुरागः न जिनः अजिनः हरिहरादिस्तस्मिन् अनुरागो भक्तिः पक्षे अजिने चर्मणि अनुरागः
प्रीतिः “अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री” इत्यमरः । भुजंगहारे भुजंग एव हारो यस्य तस्मिन् खद्रे ।
असीत् । प्रदोषानुगमः प्रकृतो दोषः प्रदोषः दुष्कर्म तस्य अनुगमः आस्रवः पक्षे प्रदोषस्य
रजनीमुखस्य अनुगमः अनुगमनं “प्रदोषः कालभेदे स्यात् प्रदोषो दोष इष्यते” इति विश्वः ।
रजन्यां रात्रौ । आसीत् । सोऽपि । दिनक्षयः दिनस्य पुण्यस्य क्षयो नाशः पक्षे दिनस्य
दिवसस्य क्षयो नाशः । दिवावसाने दिवसान्ते । “दिवाहीत्यथ दोषा च नक्तं च रजनाविति”
अभिधानादव्ययम् । आसीत् । इयमपि परिसंख्या ॥ ३६ ॥

भा० अ०—जहाँ आगमवक्रभाव (टेढ़ी चाल वा शास्त्रका नियमोलङ्घन) केवल साँपों
में था न कि लोगों में, अजिनानुराग (मृगचर्म से प्रीति वा अजैन देवों में भक्ति) शिवजी में
था न कि जनता में, प्रदोषानुगम (सन्ध्या का आगमन वा दुष्कर्मों का आस्रव) रात में हो-
ताथा न कि मगधवासी जीवों में और दिनक्षय (दिनका अवसान वा दिन का व्यर्थ यापन)
सायङ्काल में होता था नकि वहाँ के लोगों में । ३६ ।

तत्रास्ति सा राजगृहाभिधाना पुरी वनैः पृष्ठगतैरुदग्रैः ॥

पुरारिवैरप्रतिकारहेतोर्यामुक्तकेशव्रतमादितेव ॥ ३७ ॥

तत्रेत्यादि । तत्र मगधदेशे । या पुरारिवैरप्रतिकारहेतोः पुराणां त्रिपुराणाम्
अरिः रिपुः रुद्रस्तस्य वैरं विरोधस्तस्य प्रतिकारहेतुस्तस्मात् त्रिपुरसंहारिणः प्रतिकार-
विधानायेत्यर्थः । पृष्ठगतैः पृष्ठमपरभागं गच्छन्तिस्म तथोक्तानि तैरित्यर्थः । उदग्रैः
उन्नतैः । वनै उद्यानैः । मुक्तकेशव्रतम् मुक्ताः शिथिलिताः केशाः शिरोरुहा यस्मिंस्तत् मुक्त
केशं तच्च तद्भ्रतञ्च तथोक्तं मुक्तकेशाख्यव्रतं नियमम् । आदितेव आदत्तेव । उदाञ् दाने लुङ् ।
वनव्याजेन तद्भ्रतमगृह्णादिव भातीत्यर्थः । सा राजगृहाभिधाना राज्ञां गृहं राजगृहं तदि-
त्यभिधानं यस्यास्ता तथोक्ता । पुरी राजधानी । अस्ति वर्तते । उत्प्रेक्षालंकारः ॥३७॥

भा० अ०—उस मगधदेश में पीछे की ओर लगे हुए विशाल उद्यानों से त्रिपुरारि

(शंकर जी) ने जो तीनों पुरों को नष्ट कर डाला है मानों उसी अपकार का बदला लेने के लिये मुक्तकेश-व्रत किये हुई कीसी राजगृह नाम की पुरी थी ॥ ३७ ॥

बहिर्वर्णो यत्र विधाय वृक्षारोहं परिष्वज्य समर्पितास्याः ॥
कृताधिकास इव कामतंत्रे कुर्वन्ति संगं विटपैर्व्रतत्यः ॥ ३८ ॥

बहिर्वर्ण इत्यादि । यत्र पुण्यां । बहिर्वर्णे बहिरुद्याने वनाद् बहिर्बहिर्वर्णन्तस्मिन् । “प्रागन्त” रित्यादिना वनशब्दे नकारस्य णत्वम् । व्रतत्यः लताः । “व्रतती बल्लरी लतेति” धनञ्जयः । कामिन्य इति ध्वनिः । वृक्षारोहम् वृक्षाणामारोहस्तथोक्तम् वृक्षावलम्बनमित्यर्थः वृक्षारोह इति दम्पतीबन्धविशेषः—अस्ति हि लतावेष्टनन्नामालिङ्गनम् । विधाय कृत्वा । परिष्वज्य आलिङ्ग्य । समर्पितास्याः समर्पितमास्यं याभिस्ताः समर्पितास्याः समर्पितमुखा वा सत्यः । कामतंत्रे कामस्य तन्त्रं कामतन्त्रं रहस्यं तस्मिन् कामशास्त्रे । “तन्त्रं प्रधाने सिद्धान्ते सूत्रवाये परिच्छेदे” “इत्यमरः । कृताधिकारा इव कृतो विहितोऽधिकारो याभिस्ता इव । विटपैः शाखाभिः विटपुरुषैस्सह । “विटपः पल्लवे शृंगे विस्तारं स्तम्भशाखयोः” इति विश्वः । संगम् सम्बन्धम् । कुर्वन्ति विदधति । श्लेषोपमालंकारः ॥ ३८ ॥

भा० अ०—वहाँ बाहरी उपवनो में वृक्षों पर चढ़ी हुई लताएं कामशास्त्र में प्रवीण उपपतियों को आलिङ्गन तथा चुम्बन करती हुई कामिनियों के समान जान पड़ती हैं ॥ ३८ ॥

आरामरामाशिरसीव केलिशैले लताकुन्तलभासि यत्र ॥
सकुडकुमा निजर्भरवारिधारा सीमन्तसिन्दूरनिभा विभाति ॥ ३९ ॥

आरामेत्यादि । यत्र पुण्यां । लताकुन्तलभासि लता एव कुन्तला अलकास्तैर्भासत इति लताकुन्तलभास्तस्मिन् । सान्तः शब्दः । आरामरामाशिरसीव आरामः उपवनं तदेष रामा स्त्री तस्याः शिरस्तथोक्तं तस्मिन्निव तद्वद्भासमान इत्यर्थः । केलिशैले केलेः शैलः केलिशैलस्तस्मिन् अथवा केलिश्चासौ शैलश्चेतिकेलिशैलस्तस्मिन् क्रीडा-द्रावित्यर्थः । सकुडकुमा कुडकुमेन सह वर्तत इति सकुडकुमा निमज्जद्वनितागलितेन कुडकुमेन युक्ता । वान्यार्थ इति बहुव्रीहौ सहस्य सभावः । निजर्भरवारिधारा निजर्भरस्य प्रवाहस्य वारि तस्य धारा तथोक्ता । सीमन्तसिन्दूरनिभा सीमन्तस्य सिन्दूरन्तथोक्तं तस्य निभेव निभा समा इत्यर्थः । “स्त्रीणां पुंसि च सीमन्त” इत्यमरः । “सिन्दूरस्तस्मिन्ने स्यात्सीन्दूरं रक्तचूर्णके” इति विश्वः । विभाति राजते शोभत इत्यर्थः । भा दीप्तौ लट् उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ३९ ॥

भा० अ०—जिस राजगृहपुरी में स्त्रीरूपिणी वाटिकाओं में उनके मस्तक के समान वेणीरूपिणी लताओं से मण्डित क्रीड़ा-पर्वतों पर स्त्रियों के स्नान करने से कुंकुम-मिश्रित जलधारा—भरने से गिरती हुई सीमन्त (माँग) के सिन्दूर के समान शोभती थी । ३६ ।

कण्डूतिशान्त्यै निजकर्णमूलं संघर्षयन्तः सरसीषु मीनाः ॥

अम्मोजदण्डेषु विभान्ति यस्यामालानबन्धेष्विव हस्तिपोताः ॥४०॥

कण्डूतीत्यादि । यस्यां पुर्याम् । सरसीषु सरोवरेषु । कण्डूतिशान्त्यै कण्डूयनं, कण्डूति-स्तस्याशशान्तिस्तथोक्ता तस्यै । निजकर्णमूलम् निजानां स्वेषां कर्णास्तथोक्ताः यद्वा निजाश्च ते कर्णाश्च निजकर्णास्तेषां मूलं मूलप्रदेशम् । अम्मोजदण्डेषु अम्मसि जायन्त इत्यम्मोजानि तेषां दण्डा यष्टयस्तेषु । संघर्षयन्तः संघर्षयन्तीति तथोक्ताः । मीनाः मत्स्याः । आलानबन्धेषु आलान नामालानान्येव वा बन्धास्तेषु बन्धस्तम्बेषु । “आलानं बन्धः स्तम्भः” इत्यमरः । हस्तिपोताः हस्तिनां करिणां पोताः शावा इव । विभान्ति विराजन्ते ॥ उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ४० ॥

भा० अ०—जिस राजगृह के तालावों में कमल की डंटियों से खजुलाहट मिटाने के लिये कर्णमूल घिसती हुई मछलियाँ खंभों से कनपट्टी रगड़ते हुए हाथी के बन्धों के समान शोभती थीं ॥ ४० ॥

वीत्थ्या हयानां दशया गजानां श्रमैर्भटानां करणैर्नटानाम् ॥

भुजाहतैर्मल्लगणस्य यस्या जयन्ति बाह्यालिभुवो विशालाः ॥४१॥

वीत्थ्येत्यादि । यस्याः पुर्याः । विशालाः विस्तृताः । बाह्यालिभुवः बाह्या-लीनाम्भुवो भुमयो वहिःप्रदेशाः । हयानाम् अश्वानाम् । वीत्थ्या शिक्षागमनेन श्रेण्यागमनेनेत्यर्थः । गजानाम् करिणाम् । दशया मदावस्थया । “दशावर्त्ताववस्थायां वस्त्रांशे स्युर्दशा अपीति” विश्वः । भटानाम् योद्धृणाम् । श्रमैः शस्त्राभ्यासैः । नटानाम् नर्त्तकानाम् । करणैः नर्त्तनैः । “करणं साधनक्षेत्रकाचकायस्थकर्मसु गीताङ्गहार सम्वेशक्रियाभेदेन्द्रियेषु च बालवादाौ च करणः स्मृतः” इति विश्वः । मल्लगणस्य मल्लानां गणस्तस्य । भुजाहतैः भुजानामाहतानि तैर्भुजाघातैरित्यर्थः । जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्ते । अतिशयालंकारः ॥ ४१ ॥

भा० अ०—उस पुरी के बाहर का विस्तृत मैदान घोड़ों के कतारों के चलने से, हाथियों

के मद्स्त्राव से, योद्धाओं की शस्त्र-शिक्षा से, नटों के नृत्य से तथा सुमटों के मल्लयुद्ध से अत्यन्त शोभायमान दीख पड़ता था ॥४१॥

अहो नु तीरद्रुमराजिराजद्विचित्रपुष्पोद्गमविम्बितानि ॥

उतोल्लसत्पन्नगभोगरत्नद्युतीनि यस्याः परिखाजलानि ॥४२॥

अहोन्वित्यादि । यस्याः पुट्याः । परिखाजलानि परिखायाः खातिकायाः जलानि तथोक्तानि । तीरद्रुमराजिराजद्विचित्रपुष्पोद्गमविम्बितानि तीरेषु विद्यमाना द्रुमा वृक्षास्तोरद्रुमास्तेषां राजिः पङ्क्तिस्तया राजन्ति इति राजन्ति विचित्राणि नानाविधानि विचित्राणि च तानि पुष्पाणि च विचित्रपुष्पाणि तीरद्रुमराजिराजन्ति च तानि विचित्रपुष्पाणि च तथोक्तानि तेषामुद्गमाः पङ्क्त्युद्गमानि तैर्विम्बितानि विम्बासंजातान्येषामिति तथोक्तानि संजातप्रतिविम्बितानि । “संजातं तारकादिभ्य” इति इतप्रत्ययः । अहोनु । भवन्ति । उत अथवा । उल्लसत्पन्नगभोगरत्नद्युतीनि पन्नागाः सर्पास्तेषां भोगाः फणाः “भोगः सुखेस्त्रयादिभृतावहेश्च फणवाययोः” इत्यमरः । तेषां रत्नानि मणयस्तेषां द्युतयः कान्तयः उल्लसन्तीत्युल्लसन्त्यः स्फुरन्त्यः पन्नगभोगरत्नद्युतयो येषान्तानि तथोक्तानि । अहोनु भवन्ति । किमिति विकल्पप्रश्नः । “अहो उताहो सन्देह” इति हलायुधः । “अहो उताहो किमुत विकल्पे किमुच्यते नु पृच्छायां चितकं चे”त्युभयत्राप्यमरः ॥ संशयालंकारः ॥ ४२ ॥

भा० अ०—जिस राजधानी की खाई का जल तीर की वृक्ष-पंक्ति के विविध पुष्पों से अथवा सर्प के फण की मणियों से प्रतिविम्बित था ॥४२॥

माणिक्यकुम्भोज्वलगोपुराणां रूपेण याम्मूर्त्तिचतुष्टयाप्तः ॥

आप्तस्समालक्ष्यविलक्ष्णाम्स्ते पूर्वाचलः कूटविभासिभास्वान् ॥४३॥

माणिक्येत्यादि । कूटविभासिभास्वान् कूटे निखरं भासत इत्येवं शीलः कूटभासी भा अस्यास्तीति भास्वान् सूर्यः कूटभासी भास्वान् यस्यामौ तथोक्त उदयार्क इत्यर्थः । पूर्वाचलः पूर्वदिशि स्थितोऽचलस्तथोक्तः उदयाद्रिरित्यर्थः । याम् राजगृहपुरीम् । समालक्ष्य सम्यगालोक्य । माणिक्यकुम्भोज्वलगोपुराणां माणिक्यरत्नेन कृताः कुम्भाः कलशास्तैश्चञ्चलानि दीप्तानि माणिक्यकुम्भोज्वलानि च तानि गोपुराणि च तथोक्तानि तेषां रूपेण स्वरूपेण । मूर्त्तिचतुष्टयाप्तः चत्वारोऽवयवा अस्य चतुष्टयम् अवयवात्त यदिति प्रत्ययः मूर्त्तिनामाकाराणाञ्चतुष्टयन्दाप्नोतिस्मेति मूर्त्तिचतुष्टयाप्त आप्नोति स्मेत्याप्त आयात इत्यर्थः । “आप्तः सभ्ये च लब्धे चे” ति विश्वः । विलक्ष्यम् विस्मयेन

युक्तं यथा तथा “विलक्षो विस्मयान्वित” इत्यमरः । अस्ति तिष्ठति । आसु उपवेशने लट् अर्कविभ्वयुतः पूर्वाद्द्विरेव रत्नमयकलशोज्वलगोपुराणां चतुर्णामाकारेण तिष्ठतीति भावः । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ४३ ॥

भा० अ०—उदयाचलपर्वत पर चमकता हुआ सूर्य मानों राजगृह नगरी को देखकर मणिमय कलशों से प्रदीप्त चारों गोपुरों को उदयाचलसहित स्वयं अपनी चार मूर्तियों के होने का सन्देह करता हुआ खड़ा था ॥४३॥

सुरापगापूरकृतान्तराणि शृङ्गाणि शालाग्रगतानि यस्याः ॥

हेमानि हेमाम्बुरुहाणि बुद्ध्वा मुग्धा जिहीर्षन्ति सुरर्षिकान्ताः ॥४४॥

सुरापगेत्यादि । यस्याः पुण्याः । सुरापगापूरकृतान्तराणि सुराणामापगा सरसीः तस्याः पूरः प्रवाहस्तस्मिन् पूरे कृन्मन्तगमवकाशो येषान्तानि तथोक्तानि । हेमानि हेमो विकाराणि हेमानि । “हेमादिभ्य” इत्यञ् । शालाग्रगतानि शालस्य प्राकारस्याग्रं शालाग्रन्तद्गच्छन्तिस्म शालाग्रगतानि । शृङ्गाणि शिखराणि । मुग्धाः मूढाः । सुरर्षिकान्ताः सुराणामृपयः पूज्याः सुरर्षयः सुगन्धतं ऋपयश्चेति वा कर्मधारयस्तेषां कान्ता ललनास्तथोक्ताः । हेमाम्बुरुहाणि अम्बुनि रोहन्ति जायन्त इत्यम्बुरुहाणि हेमरूपाणि अम्बुरुहाणि तथोक्तानि । बुद्ध्वा मत्वा । जिहीर्षन्ति ग्रहीतुं स्वीकर्तुं मिच्छन्ति । ग्रहेस्सन्तत्वालट् “वशिष्यधिव्यच्” त्यादिना यण इक् । भ्रान्तिमानलंकारः ॥ ४४ ॥

भा० अ०—जिस राजधानी की चहारदीवारी के देवगंगा तक पहुंचे हुए सुवर्ण शिखरों को भोली भाली देवाङ्गनायें सुवर्णकमल समझकर लेना चाहती थीं । ४४ ।

प्रतप्तचामीकरवैकृतानि प्राकारशीर्षाणि पुनर्न यस्याः ॥

पत्या दिशां भित्तिषु लिप्तशेषाः प्रतापिण्डा वियदङ्गणे ते ॥४५॥

प्रतप्तेत्यादि । यस्याः पुण्याः । प्रतप्तचामीकरवैकृतानि प्रतप्तञ्च तच्चामीकरञ्चेति प्रतप्तचामीकरं विकृतान्येव वैकृतानि स्वार्थिकोऽणप्रत्ययः प्रतप्तचामीकरणेन वैकृतानि निर्मितानि प्रतप्तचामीकरवैकृतानि विकाराणि वा तथोक्तानि । प्राकारशीर्षाणि प्राकारस्य प्रासादस्य शीर्षाणि शृङ्गाणि तथोक्तानि । न न भवन्ति । पुनः पुनः कानीत्यर्थः । पत्या पुरीप्रभुणा यस्याः पत्येतिचान्वयः । वियदङ्गणे वियत् आकाशस्याङ्गणेऽजिरे । दिशाम् ककुभाम् । भित्तिषु कुड्डेषु । लिप्तशेषाः लिप्येकस्म लिप्तः लिप्ताच्छेषास्तथोक्ता



लेपनावशिष्टा इत्यर्थः । ते प्रसिद्धाः । प्रतापपिण्डाः प्रतापस्य पराक्रमस्य पिण्डास्तथोक्ताः । भवन्तीत्यध्याहारः ॥ ४५ ॥ अपहवालंकारः ॥

भा० अ०—जिस राजगृह नगरीके प्राकार के प्रतप्त सुवर्णमय शिखर आकाश-प्राङ्गण की दिग्भित्तियों में लेप करने से बचे हुए नगराधिपति के प्रतापपिण्ड के समान दीख पड़ते थे ॥ ४५ ॥

उत्तोरणानां किल मन्दिराणामुद्यद्ध्वजानामसमेषु यस्याः ॥

धनुष्मतो वारिभृतस्सशम्पाच्चिर्माय निर्माय नमः प्रमार्ष्टि ॥ ४६ ॥

उत्तोरणानामित्यादि । नमः आकाशम् । धनुष्मतः धनुरस्त्येषामिति धनुष्मन्तस्तान् इन्द्रधनुस्सहितानित्यर्थः । सशम्पान् शम्पया विद्युता सह वर्तन्त इति सशम्पास्तान् । “शम्पाशतद्द्रुदा ह्रादीनो” त्यमरः । वारिभृतः वारि जलं विभ्रतीति-वारिभृतस्तान् मेघानित्यर्थः । निर्माय निर्माय निर्माणं पूर्वं पश्चात्किञ्चिदिति निर्माय “प्राक्काल” इत्यनेन क्त्वा प्रत्ययः “क्तोऽनञःप्य” इति प्यादेशः । वीप्सायां द्विः । यस्याः पुण्याः । उत्तोरणानाम् उद्गतानि तोरणानि येषान्तानि तेषाम् । उद्यद्ध्वजानाम् उद्यन्ति उद्गच्छन्ति ध्वजानि येषान्तानि तेषाम् । मन्दिराणाम् गृहाणाम् । असमेषु न समा असमास्तेषु सत्सु । वारिभृद्विशेषणम् । प्रमार्ष्टि परिहरतीत्यर्थः मृजू शुद्धौ लट् किल उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ४६ ॥

भा० अ०—राजगृह नगरी की अट्टालिकाओं की ऊंची नीची ध्वजाओं तथा तोरणों को देख कर मानों आकाश इन्द्रधनुष तथा विद्युत्सहित वार २ मेघों की रचना करता हुआ उनकी समानता करने की चेष्टा करता है । ४६ ।

यच्चन्द्रकान्तोपलमन्दिराणां ज्योत्स्नाप्रवाहैः परिवाहिता द्यौः ॥

क्रीडाधियामप्सरसाम्निधत्ते दिवा दिवा दिव्यसरः प्रमोषम् ॥ ४७ ॥

यदित्यादि । यच्चन्द्रकान्तोपलमन्दिराणाम् चन्द्रकान्तश्चासावुपलश्च तथोक्तस्तेन निर्मितानि मन्दिराणि यस्याः पुण्यास्तानि यच्चन्द्रकान्तोपलमन्दिराणि तेषाम् । ज्योत्स्ना-प्रवाहैः ज्योत्स्नायाश्चन्द्रिकायाः प्रवाहास्तैः । परिवाहिता परिवाहेति रिक्तस्य वमनं सोऽस्यसंजातेति तथोक्ता । द्यौः आकाशम् । “द्यौर्दिवौ द्वे स्त्रियामि” त्यमरः । क्रीडाधियाम् क्रीडायां धीबु द्विर्यासान्तास्तासाम् । अप्सरसाम् देवगणिकानाम् । दिव्यसरः प्रमोषम् दिवि भवं दिव्यं दिव्यञ्च तत्सरश्च दिव्यसरस्तदिति प्रमोषो भ्रान्तिस्तम् ।

दिव्य दिवा दिने दिने । वीप्सायामितिद्धिः । विधत्ते करोति । इधाम् धारण-
पोषणयोर्लट् तङ् । भ्रा० लं० ॥ ४७ ॥

भा० अ०—जहाँ चन्द्रकान्त मणि से बने हुए भवनों के ज्योत्स्ना-प्रकाश से परिप्लावित
आकाश सदा क्रीड़ासक्त अप्सराओं के दिव्य क्रीड़ासरो के भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं । ४७ ।

ताराफलायाम्बियदामलक्यां क्षेप्तुं व्रजन्तन्नतदारुबुद्ध्या ॥

यच्चन्द्रशालागतबालचन्द्रम्बालं हसन्ति स्फुटमीशदाराः ॥ ४८ ॥

तारेत्यादि । वियशमलक्याम् वियदेवाकाशमेवामलकी तस्याम् । ताराफलायाम्
तारा एव फलानि यस्यां तस्याम् नक्षत्रफलायां सत्याम् । यच्चन्द्रशालागतबालचन्द्रम्
चन्द्रशालां सौधशिरोगृहम् गच्छतिस्म चन्द्रशालागतः “चन्द्रशालाशिरोगृहमिति” विदग्धचूडा-
मणौ । बालश्चासौ चन्द्रश्च तथोक्तश्चन्द्रशालागतश्चासौ बालचन्द्रश्च चन्द्रशालागतबालचन्द्रो
यस्याः पुट्याः चन्द्रशालागतबालचन्द्रो यच्चन्द्रशालागतबालचन्द्रस्तम् । नतदारुबुद्ध्या
नतश्च तदारु च नतदारु वक्रयष्टिः नतदारु इति बुद्धिस्तया । क्षेप्तुम् क्षेपणाय क्षेप्तुम् । क्षेपो
बिलम्बे निद्रायां हेलापे रणलंघने गर्वेऽपि” इति विश्वः । व्रजन्तम् व्रजतीति व्रजन् तं गच्छ-
न्तमित्यर्थः । बालं माणवकम् । ईशदारा ईशस्य राज्ञो दारा रमण्यः । “दाराः पुंभूम्नि
चाक्षता” इत्यमरः । स्फुटम् व्यक्तम् । हसन्ति हास्यं कुर्वन्ति । हस हसने लट् । भ्रान्ति-
मानलंकारः । अनेन सौधानामौन्नत्यं कीर्त्यते ॥ ४८ ॥

भा० अ०—जहाँ आँवले के वृक्षरूपी आकाशमें फलरूपी ताराओं के उगने पर उसे तोड़ने
केलिये राजप्रासाद के शिखर पर उदित हुए बालचन्द्र को टेढ़ी छड़ी जानकर लेने को
दौड़ते हुए बच्चों को देख कर राजमहिलायें हँसा करती थीं । ४८ ।

नैतानि ताराणि नभस्सरस्याः सूनानि तान्यादधते सुकेश्यः ॥

यदुच्चसौधाप्रजुषो मृषा चेतप्रगे प्रगे कुत निलीनमेभिः ॥ ४९ ॥

नैत्यादि । एतानि इमानि । ताराणि नक्षत्राणि । “भं नक्षत्रं तारं तारके” इत्यादि
हलायुधः । न न भवन्ति । किन्तु नभस्सरस्याः नभ एव व्योमैव सरसी कासारस्त-
स्याः “कासारः सरसी सरः” इत्यमरः । सूनानि कुसुमानि । “सूनं प्रसवपुण्यो” रिति विश्वः ।
भवन्तीति शेषः । यदुच्चसौधाप्रजुषः उच्चाश्च ते सौधाश्चोच्चसौधास्तेषामग्रन्तज्जुषन्ति
गच्छन्ति इति उच्चसौधाप्रजुषो यस्याः पुट्या यदुच्चसौधाप्रजुषस्तथोक्तः । सुकेश्यः सु
शोभनाः केशा यासान्ताः सुकेश्यः स्त्रियः । तानि पुष्पाणि । आदधते स्वीकुर्वन्ति ।
इधाम् धारणपोषणयोर्लट् तङ् । मृषा चेत् अनृतञ्चेत् नक्षत्राप्येवेतिचेदित्यर्थः ।

“मृषा मिथ्या च वितथे पक्षान्तरे चेद्यदि चे” त्युभयत्रापि अमरः । एभिः नक्षत्रैः । प्रगे प्रगे प्रातः प्रातः । वीप्सायामिति द्विः । “प्रगे प्रातःप्रभाते” इत्यमरः । कुत्र कस्मिन्निति कुत्र प्रदेशे । निलोनम् तिरोभूतमितिप्रश्नः । अपह्नवालंकारः ॥ ४६ ॥

भा० अ०—ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि, ये तारायें नहीं हैं बल्कि आकाशरूपी सररोवर के पुष्प हैं । जिन्हें राजगृह की अट्टालिकाओं पर चढ़ी हुई युवतियाँ चुन लेती थीं । नहीं तो प्रतिदिन प्रातःकाल वे कहाँ विलीन हो जाते थे ? । ४६ ।

विकासिनेत्रांशुभिर्ङ्गनानां विपक्तगात्रैर्यसक्तगावाः ॥

विलासिनां सूचिगृहान्धकारा वितन्वते यत्र सदा नियुद्धम् ॥५०॥

विकासीत्यादि । यत्र पुट्याम् । अवसक्तगात्राः अवसक्तं सम्बद्धं गात्रं शरीरं येषान्ते तथोक्ताः । सूचिगृहान्धकाराः सूच्यते रहोऽस्मिन्निति सूचिः संकेतः सूचयतेरौणा द्विकः प्रत्ययः सूचिगृहाणां संकेतगृहाणामन्धकारा ध्वान्तानि । विपक्तगात्रैः विपक्तं प्रवेणितं गात्रं विग्रहो येषान्ते तैः । अङ्गनानाम् नारीणाम् । विकासिनेत्रांशुभिः विकसन्त्येवंशीलानि विकासीनि तानि च नानि नेत्राणि च विकासिनेत्राणि तेषामंशवः किरणास्तैः । विलासिनाम् विलासोस्त्येषामिति विलासिनस्तेषाम्बिटानाम् । नियुद्धम् बाहुयुद्धम् । “नियुद्धम्बाहुयुद्धं स्यात्” इत्यमरः । सदा अनवरतम् । वितन्वते विस्तारयन्ति तनुविस्तारे लट् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ५० ॥

भा० अ०—जिस पुरी में विलासी (लम्पटकामी) पुरुषों के सांकेतिक गृह की गाढ़ी अंधियारी वहाँ की विलासिनी नायिकाओं की प्रफुल्ल आँखों की चमक से बराबर बाहुयुद्ध किया करती थी । अर्थात् कामियों के संकेतगृह के अभीष्ट गाहान्धकार को अंगनाओं की आँखों की चमक सदा दूर भगाने की चेष्टा किया करती थी । ५० ।

सदा पटत्कोकिलनन्दनाढ्याः समुल्लसत्पाण्डुकभद्रशालाः ॥

जिनालयाः सौमनसालयान्ते जयन्ति मेरुनपि यत्र चित्रम् ॥५१॥

सदेत्यादि । यत्र पुट्याम् । पटत्कोकिलनन्दनाढ्याः पठन्तीति पठन्तः कोकिला इव कोकिलाः कोकिलाश्च ते नन्दना अर्भकाश्च कोकिलनन्दनाः पठन्तश्च ते कोकिलनन्दनाश्च पटत्कोकिलनन्दनास्तैराढ्याः पूर्णाः “दारको नन्दनोऽर्भक” इति धनञ्जयः । पक्षे पठन्तो ध्वनन्तः कोकिला यस्मिंस्तत्पटत्कोकिलं तच्चतन्नन्दनश्च तन्नामवनश्च तथोक्तन्तेनाढ्याः प्रपूर्णाः । समुल्लसत्पाण्डुकभद्रशालाः भद्रश्चासौशालश्च भद्रशालः पाण्डुरेव पाण्डुकः स्वार्थे क प्रत्ययः पाण्डुकश्चासौ भद्रशालश्च तथोक्तः “पाण्डुः कुन्तीपती सिते” इति

विश्वः । स्फटिकचन्द्रकान्तरजतमयदृढप्राकार इत्यर्थः समुल्लसतीति समुल्लसन् प्रस्फुरन् समुल्लसन् पाण्डुकभद्रशालो येषान्ते तथाक्ताः पक्षे पाण्डुकश्च भद्रशालश्चेति पाण्डुकभद्रशाले तद्भिधाने वने समुल्लसती पाण्डुकभद्रशाले येषान्ते तथोक्ताः । सौमनसालयाः शोभनं मनो येषान्ते सुमनसः सुमनसां विदुषामिमे सौमनसाः सौमनसा आलया अध्ययनशाला येषान्ते तथोक्ताः । “सुमनाः पुष्पमालत्योस्त्रिदशो कोविदेऽपि” इति विश्वः । पक्षे सौमनसस्य तन्नामवनस्थालयानिलाः सुमनसान्देवानामिमे सौमनसाः सौमनसा आलया येषु ते तथोक्ताः । जिनालयाः चैत्यगोहाः । मेरुनपि महामेरुपर्वतानपि । जयन्ति अभिभवन्ति । चित्रम् आश्चर्यम् । श्लेषालंकारः ॥५१॥

भा० अ०—आश्चर्य की बात है कि वहाँ पर कोकिल जैसी पढ़ती हुई वटु-मरडली से युक्त, वा कोकिल से प्रतिध्वनित नन्दनवनसे युक्त, स्फटिक और चन्द्रकान्त मणिमय प्राकारसे परिवेष्टित वा पाण्डुक और भद्रशाला वनसे युक्त और भव्यों के आलयभूत या देवताओं के आलयभूत जिनचैत्यालय सुमेरुपर्वत की भी उच्चता को तिरस्कृत किये हुए थे ॥५१॥

यत्नास्मगर्भार्कजिनालयत्विट्छन्नंऽभ्रमध्ये तपनो हठेन ॥

दूर्वाम्बुबुद्ध्या द्रवदश्वरोधक्कृशासहः किं कुर्वतेऽयने हे ॥ ५२ ॥

यत्रेत्यादि । यत्र पुट्याप् । अभ्रमध्ये अभ्रस्थाकाशस्य मध्यन्तस्मिन् । अस्मगर्भार्कजिनालयत्विट्छन्ने अस्मगर्भो नीलरत्नन्तच्चारकः स्फटिकोपलस्स च तथोक्तः “अस्मगर्भो हरिन्मणिः अर्कः स्फटिकसूर्ययोः” इत्युभयवाच्यमरः । ताभ्यान्निर्मिता जिनालयास्तथोक्ताः “मयूरव्यंसकादयः” इति तत्पुरुषत्वान्मध्यमपदलोपस्तेषां त्विट् कान्तिस्तया छन्नं लिप्तन्तस्मिन् सति “स्युः प्रमास्युच्चिस्त्विट्” इत्यमरः । दूर्वाम्बुबुद्ध्या दूर्वा चास्यु च दूर्वाम्बुनो तयोस्ते इति वा बुद्धिस्तया हरिन्मणिस्फटिकयोः कान्त्या दूर्वाम्बुनोर्बुद्धिर्जायत इत्यर्थः । द्रवदश्वरोधक्कृशासहः द्रवन्तीति द्रवन्तः प्रयान्तस्ते च ते अश्वाश्च तथोक्तास्तेषां निजयानवाजिनां रोधः स्थापनन्तेन जातः क्लेशस्तन्न सहत इति द्रवदश्वरोधक्कृशासहः । तपनः सूर्यः । हठेन बलात्कारेण । “प्रसभस्तु बलात्कारो हठः” इत्यमरः । द्वंऽयने दक्षिणात्तररूपे गती । “अयने द्वे गतिरुदक् दक्षिणार्कस्य वत्सरः” इत्यमरः । कुर्वते विधत्ते । किमेवं स्यादिति शङ्का । संकरालंकारः ॥ ५२ ॥

भा० अ०—नीलमणि तथा स्फटिकमणि से जड़ित, चैत्यालयों की कान्ति से परिप्लावित आकाश में हरी घास और जल की भ्रान्ति से विमुग्ध हो उनकी और भागते हुए घोड़ों को रोकने में असमर्थ होकर ही मानों सूर्य ने उत्तरायण तथा दक्षिणायन का निर्माण किया । ५२ ।

चित्रं जिनेन्द्रावसथस्थलेषु प्रमोदवाष्पोदकपिच्छिलेषु ॥

भव्यैः किलोप्ताः सिततण्डुलास्ते फलन्ति यस्यां बहुशः फलानि ॥५३॥

चित्रमित्यादि । यस्यां पुण्याम् । प्रमोदवाष्पोदकपिच्छिलेषु प्रमोदेन सन्तोषेण जातं वाष्पस्याश्रोतृदकं प्रमोदवाष्पोदकं “वाष्पोऽश्रुण्यम्बुधूमे च” इति वैजयन्ती । तेन पिच्छिलानि पङ्कोभूतानि तेषु । “पिच्छिलं स्याद्विजलकं पङ्कः स्यात्” इत्यादि हलायुधः । जिनेन्द्रावसथस्थलेषु जिनानामिन्द्रास्तथोक्ता जिनेन्द्राणामावसथा आलयास्तेषां स्थलानि तेषु । भव्यैः विनेयैः । उप्ताः उप्तन्तेस्म उप्ताः क्षिप्ताः । ते प्रसिद्धाः । सिततण्डुलाः सिताश्च ते तण्डुलाश्च तथाक्ताः शुभ्रतण्डुला इत्यर्थः । बहुशः अनेकशः । फलानि अभीष्टफलानि । फलन्ति निष्पादयन्ति । फल निष्पत्तौ लट् । चित्रम् अद्भुतम् ॥ ५३ ॥

भा० अ०—जहाँ भक्ति-विगलित आनन्दाश्रुसे पङ्कोभूत जिनमन्दिरों में भव्यों से बोये गये स्वच्छतण्डुल वार वार फलते हैं यह आश्चर्य था । ५३ ।

देवीनां मणिगृहमध्यवर्तिहेमप्रासादे सदलसकर्णिकाभ्युजाभे ॥

आवासे यदधिभुवः कृताधिवासा श्रीगामीद्वुवमगविन्दमन्दिरा सा ५४

देवीनामित्यादि । सदलसकर्णिकाभ्युजाभे दलेन पर्णेन सह वर्तत इति सदलं कर्णिकया सह वर्तत इति सकर्णिकम् अश्रुनि जायत इत्यश्रुजं सदलञ्च सकर्णिकञ्च तदश्रुजञ्चेति सदलसकर्णिकाभ्युजन्तस्याभः समानस्तस्मिन् पर्णकर्णिकासहितमगविन्द समान इत्यर्थः । देवीनाम् महिषाणाम् । मणिगृहमध्यवर्तिहेमप्रासादे मणिभीरत्नैर्निर्मिता गृहा मणिगृहास्नेपाम्मध्यन्तस्मिन् वर्तत इत्येवं शालो मणिगृहमध्यवर्ती हेमा निर्मितो हेमः “हेमादिभ्यः” इत्यञ् प्रत्ययः हेममय इत्यर्थः स चासौ प्रासादश्च हेमप्रासादः “हर्म्यादि धनिनां वासः प्रासादो देवभूभुजाम्” इत्यमरः । मणिगृहमध्यवर्तिचासौ हेमप्रासादश्च तथोक्तस्तस्मिन् । यदधिभुवः यस्याः पुण्यां अधिभूरधिपस्तस्य राजगृहाधिपस्य । आवासे आलये । कृताधिवासा कृतोऽधिवासो निलया यया सा तथोक्ता विहिताश्रया । सा प्रसिद्धा । श्रीः लक्ष्मीः । ध्रुवम् निश्चयेन । अरविन्दमन्दिरा अरविन्दं कमलन्तदेव मन्दिरमावासो यस्यास्सा तथाक्ता कमलनिलयाभिधाना । असीत् अभवत् । अस भुवि लट् ॥ ५४ ॥

इत्यर्हद्वासकृतेः काव्यरत्नटीकायां सुखवाधिन्यां भगवद्भिजनवर्णनो नाम प्रथमः सर्गोऽयं समाप्तः ॥

भा० अ०—जहाँ राजमहियियों के आवासों के मध्यमें पञ्च तथा कर्णिका-युक्त कमल-कासी आभावाले मणिभय सुवर्ण प्रासाद में निवास करती हुई राजलक्ष्मी अपने कमलासना नाम को-चरितार्थ किये हुई थी । ५४ ।

इति प्रथम सर्ग समाप्त

॥ अथ द्वितीयः सर्गः ॥

अथाभवत्तस्य पुरस्य राजा सुमित्र इत्यन्वितनामधेयः ॥

क्रियार्थयोः क्षेपणपालनार्थद्वयादसत्सद्विषयान्मुपूर्वात् ॥ १ ॥

अथेत्यादि । अथ राजधानीनिरूपणानन्तरं । तस्य पुरस्य राजगृहनगरस्य । क्रियार्थयोः क्रिया परिणतिः प्रवृत्तिर्वा सार्थो ययोस्तौ तथोक्तौ तयोः । “क्रियार्थो धातुः” इति सूत्रणात् धातुमकनोरित्यर्थः । असत्सद्विषयात् अमन्तो दुर्जनाश्च सन्तस्मज्जनाश्चासत्सन्तस्ते एव विषयो गोचरो यस्य तस्मात् । सुपूर्वात् सुशब्द एव पूर्वं यस्य तत्सुपूर्वं तस्मात् । क्षेपणपालनार्थद्वयात् क्षेपणनिग्रहणञ्च पालनं रक्षणञ्चेति क्षेपणपालनं तयोर्गर्थौ क्षेपणपालनार्थौ तयोर्द्वयन्तथोक्तं तस्मात् । सुमित्र इति सुमिनोति निगृह्णाति त्रायते पालयति इति सुमित्रः । डुमिन् प्रक्षेपणे त्रैङ्पालने इति सुपूर्वकधातुद्वयादुत्पन्नत्वात् । अन्वितनामधेय इति अन्वितं सार्थकं नामधेयं यस्यासौ तथोक्तः । “नामरूपभागधेयः” इति धेय प्रत्ययः । दुष्टनिग्रहशिष्टपालनसमर्थ इत्यर्थः । राजा नृपः । अभवत् आसीत् । भूसत्तायां लङ् ॥ १ ॥

भा० अ०—सज्जनों का रक्षण और दुर्जनों का दमन करने के कारण अपने नाम को सार्थक करता हुआ उस राजगृह नगरी का सुमित्र नाम का राजा हुआ । १ ।

यं राजशब्दात्सहस्रमन्यपुंसि श्रुत्वा भयाह्यः सुखरोचिर्गसीत् ॥

स्तुतिप्रसक्ताः कवयो वभ्रुवुर्यद्भोऽपि सत्यं धनदो वभ्रुव ॥२॥

यमित्यादि । अन्यपुंसि अन्यश्चासौ पुमांश्चान्यपुमान् तस्मिन् स्वस्मात्परपुरुषे । राजशब्दात्सहस्रं राजेशब्दो राजशब्दस्तन्न सहस्र इति राजशब्दात्सहस्रम् राजाभिधानप्रसहमानमित्यर्थः । यम् सुमित्रराजम् । श्रुत्वा आकर्ण्य । सुखरोचिः सुखमाहादनन्तद्रूपं रोचिः कान्तिर्यस्य स तथोक्तः “रोचिः शोचिर्हमे क्लीबे प्रकाशो द्योत आतपः” इत्यमरः । चन्द्र इत्यर्थः । भयाह्यः भयेन भीत्या आह्यः पूर्णः पक्षे भया कान्त्या आह्यस्ममृद्धः । आसीत् अभवत् । कवयः कवीश्वराः । स्तुतिप्रसक्ताः स्तुतौ स्तवने प्रसक्ताः प्रीताः । वभ्रुवुः आसन् । भूसत्तायां लिट् । यक्षोऽपि कुबेरोऽपि । धनदः धनन्ददातीति धनदो द्रव्यदायकः । वभ्रुव आसीत् । सत्त्वम् तत्त्वम् । कवौ

यक्षे मृगाङ्के च शके राजविभासित इत्यभिधानात्ते त्रयोऽपि तथा कुर्व्युरिति भावः ॥ २ ॥

भा० अ०—यह सुमित्र राजा दूसरे किसी की राजोपाधि नहीं सहन कर सकता यह सुन कर ही भयभीत हो राजोपाधि विभूषित मानों चन्द्रमा कान्तियुक्त, कवि-गण स्तुति परगयण तथा यक्ष धन देने में व्यस्त हो रहे थे ! ॥ २ ॥

कोपारुणोऽप्यक्षिणि यम्य चित्रं सकञ्चुकैः कुण्डलिभिः सनाथम्
शिवास्पदं काञ्चनवज्रपूर्णं वभूव सर्वं नगरं रिपूणाम् ॥ ३ ॥

कोपारुण इत्यादि । यस्य सुमित्रनृपस्य । अक्षिणि नेत्रे । कोपारुणेऽपि कोपेन रोषेणारुणं रक्तन्तत्तस्मिन्नपि । “अरुणो भास्करेऽपि स्याद्वर्णभेदेऽपि च त्रिषु” इत्यमरः । किंपुनर्युद्धायत इत्यपि शब्दार्थः । रिपूणां शत्रूणां । सर्वम् नगरम् पुरम् । सकञ्चुकैः कञ्चुकेन कवचेन सह वर्तन्त इति सकञ्चुकास्तैः सकवचत्व-स्यात्र विरोधः कञ्चुकेन निर्मोक्षेण सहवर्तन्त इति सकञ्चुकास्तैः । “कञ्चुको वाग्वाणे स्यान्निर्मोक्षे कवचेऽपि । वद्वापकगृहीताङ्गस्थितवस्त्रे च चोलेके” इति विश्वः । कुण्डलिभिः कुण्डलं कर्णवेष्टनमस्त्येषामिति कुण्डलिनस्तैः । कुण्डल-त्वस्य विरोधः कुण्डलिभिः भुजंगैः । “कुण्डली गूढपा चक्षुःश्रवाः” इत्यमरः । सनाथम् नाथेन सहितम् । शिवास्पदम् शिवानां मंगलानामास्पदम् शिवास्पदम् मङ्गलास्पदत्व-स्य विरोधः शिवानां शृगालानामास्पदम् तथोक्तम् । “शिवं मोक्षे सुखे भर्ते सलिले-ऽथ शिवो हरे । वेदे योगान्तरे कीले वालुके गुग्गुलेऽपि च । पुण्डरीकद्रुमे चापि शिवाभ्रंटाभ्रौषधी । अमयामलकी गौरी क्रोष्टी सक्तुफलासु च” इति विश्वः । काञ्चन-वज्रपूर्णम् काञ्चनञ्च वज्रञ्च काञ्चनवज्रं ताभ्याम्पूर्णं काञ्चनवज्रपूर्णम् । सुवर्णवज्र-पूर्णत्वस्य विरोधः किन्तु काञ्चनैर्धत्तैर्गन्धैर्वृक्षविशेषैर्वा वज्रैः सिंहादिभिश्च पूर्णम् । “काञ्चनः काञ्चनारे स्याच्चम्पके नागकेसरे उदुम्बरे च पुन्नागे हरिद्रायाञ्च काञ्चनी । काञ्चनं हेमि किञ्चुके पुन्नागे काञ्चभाजने । वज्रं हीरकदम्भोलिबाल-कामलकेषु च” इत्युभयत्रापि विश्वः । “धत्तूरः कनकाहवयः मिश्रेयाप्यथ सींहुण्डो वज्रः स्नुक्स्त्रीस्नुवी गुडे” इत्युभयत्राप्यमरः । वभूव जह्वे । भू सत्तायां लिट् । विरोधा-लंकारः ॥ ३ ॥

भा० अ०—सुमित्र राजा की आँखें क्रोध से लाल होने पर शत्रुओं के सभी नगर सापों का वखेरा, मियारों की माँद और धत्तूर तथा सेहूँडके सघन वन हो गये थे । अर्थात् डर के मारे शत्रुओं के भागजाने से उनके नगर बीहड़ बने हुए थे । ३ ।

प्रयाणभेरीश्रवणेन यस्य पलायमानानरिभूमिपालान् ॥

पदाभिघाताक्षमयैव सद्यः प्रकाशयामास समीरकेतुः ॥४॥

प्रयाणेत्यादि । यस्य सुमित्रराजस्य । प्रयाणभेरीश्रवणेन प्रयाणस्य भेरी प्रयाणभेरी तस्याः श्रवणन्तेन प्रस्थानपटहध्वानाकर्णनेनेत्यर्थः । पलायमानान् पलायन्त इति पलायमानास्तान् धावमानान् । “परापूर्वकादयधातोरानरो लोपाविति” पराशब्दस्य रेफस्य लः । अरिभूमिपालान् भूमिं पालयन्तीति भूमिपालाः अरयशशत्रवश्च ते च ते भूमिपालाश्च तथोक्तास्तान् । पदाभिघाताक्षमयैव पदानाञ्चरणानामभिघात-स्तथोक्तः न क्षमा भक्षमासहनम्पदाभिघातेन जाताक्षमापदाभिघातस्याक्षमा वा तयैव । “क्षितिः क्षान्तौ क्षमा ख्याता हिने शक्ते च वाच्यवत्” इति विश्वः । समीरकेतुः समीरस्य वायोः केतुः ध्वजः समीरकेतुः ध्वजश्चिह्नं धूलिरित्यर्थः । “नमस्वान् मातरि-श्वा च समीरश्च समीरणः” इति जयकीर्तिः । प्रकाशयामास प्रकटयामास । काश्टृ दीप्तौ “णिजन्ताह्यायित्यादीनाम्” तत्पलायनाध्वानन्दर्शयतिस्मेत्यर्थः । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ४ ॥

भा० अ०—सुमित्र महाराज की प्रयाणभेरी सुन कर भागते हुए शत्रुओं को उनके चरणाघात सहन करने में असमर्थ हुई धूलि ने ही प्रकटित कर दिया । अर्थात् शत्रुओं के भागने से जो उनके पैरों की धूलि उड़ी उसीसे वे पकड़ लिये गये । ४ ।

येनामिना युद्धशिरम्यरीणाम साङ्गच्छिदे वर्म्मणि रक्तधारा ॥

विनिर्यती तेन यथा व्यराजीदुद्भूतकोपाग्निशिखेव तेषाम् ॥५॥

येनेत्यादि । येन सुमित्रराजेन । युद्धशिरसि युद्धस्य संग्रामस्य शिरो युद्ध-शिरस्तस्मिन् । रणाग्र इत्यर्थः । असिना चन्द्रहासेन खड्गेनेत्यर्थः । अरीणाम् शत्रू-णाम् । वर्म्मणि कवचे । साङ्गच्छिदे अङ्गेन सह वर्त्तत इति साङ्गं साङ्गं छिनत्ति । साङ्ग-छित्तस्मिन् सति । “छिन्नं छातं लूनं कृत्तं दातं दितं छितं वृक्णम्” इत्यमरः । तेन यथा तच्छिद्रमार्गेण । विनिर्यती निष्क्रामन्ती निर्गच्छन्तीत्यर्थः । रक्तधारा रक्तस्य धारा प्रवाहस्तथोक्ता शोणिः प्रवाहः । तेषाम् शत्रुभूपानाम् । उद्भूतकोपाग्निशिखेव उद्भूतोऽ-सौ कोपश्चोद्भूतकोपः स एवाग्निस्तस्य शिखेव ज्वालैव । व्यराजीत् व्यवभासत राजृ दीप्तौ लुङ् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ५ ॥

भा० अ०—युद्धक्षेत्र में सुमित्रराज से खड्ग के द्वारा शत्रुओं के कवच के साथ २ अङ्ग काटे जाने पर उस छिन्न भिन्न शरीर से निकली हुई रक्त की धारा उनकी कोपा-ग्नि कीसी मालूम होती थी । ५ ।

रणेषु खड्गः करिकुम्भमुक्तासम्पृक्तधारोऽनुचकार यस्य ॥

विदारिते वक्तृबिले विधातुर्विधुन्तुदस्येन्दुकुटुम्बकानाम् ॥६॥

रणेष्वित्यादि । रणेषु संग्रामेषु । यस्य राज्ञः । करिकुम्भमुक्तासम्पृक्तधारः करिणां गजानां कुम्भाः करिकुम्भाः “कुम्भो घटेममूर्धाशौ” इत्यमरः । करिकुम्भेषु भवा मुक्ता मौक्तिकानि ताभिस्सम्पृक्ता युक्ता धारा यस्य स तथोक्तः । खड्गः कृपाणः । विदारिते विदीर्णे । वक्तृबिले मुखच्छिद्रे । इन्दुकुटुम्बकानाम् इन्दोश्चन्द्रस्य कुटुम्बान्येषु कुटुम्बकानि तेषाम् । विधातुः विदधातीति विधाता तस्य कुर्वतः कर्तुः वदने प्रसितुं स्थापयितुमित्यर्थः । विधुन्तुदस्य विधुन्तुदतीति विधुन्तुदस्तस्य राज्ञोः “विधावुपपदे तुदव्यथनेऽस्माद् विध्वरुस्तिलान्तुद” इत्यनेन खच्च प्रत्ययः “खित्यरुः” इत्यादिना मम् । अनुचकार अनुकरोतिस्म । डु कृत्र्करणे लिट् । इन्दुकुटुम्बकानां विधातुर्विधुन्तुदस्य चेत्युभयत्रापि कर्मपञ्चम्या तस्य सदृशोऽभूदित्यर्थः ॥ ६ ॥

भा० अ०—महाराज सुमित्र के खड्ग की धार युद्धक्षेत्र में हाथियों के मस्त्रकों को विदीर्ण करने समय गजमुक्ताओं से समलङ्कृत होती हुई चन्द्रपरिवार को प्रस्त करने के लिये समुद्यत राहु के समान जान पड़ती थी । ६ ।

कृपाणाभिन्नैर्युधिर्वैरिर्वैरिर्विभिन्नविम्बे मनि यम्य भानौ ॥

स्वयम्भयेनैव बभूव भिन्नः शशी न चेदद्य बिली किमेपः ॥७॥

कृपाणेत्यादि । युधि संग्रामे । यस्य प्रभोः । कृपाणभिन्नैः कृपाणेन खड्गेन भिन्ना-
श्लिखन्नास्तैः । वैरिर्वैरैः वैरिण एव वीरा वैरिर्वीरास्तैः शत्रुवीरैः । रूपकः । भानौ सूर्ये । विभिन्नविम्बे विभिन्नं छिन्नं विम्बं मण्डलं यस्य तस्मिन् । शशी चन्द्रः । भयेन भीत्या । स्वयमेव आत्मन्येव । भिन्नः विशीर्णः । बभूव भवतिस्म । न चेत् सृषाचेत् तर्हि । एषः सुधांशुः । बिली बिलमस्यास्तोति बिली छिद्रानित्यर्थः । किम् कथमभूदिति वितर्कः । “किं प्रश्ने वितर्कं च” इत्यमरः । संयुगे संस्थितरविं भित्त्वा वीरास्स्वर्गं प्रयान्तीति कावित्तासंकेतः ॥ अनुमित्यलंकारः ॥ ७ ॥

भा० अ०—त्रिस सुमित्रराज के खड्ग से मारें गये शत्रुओं की आत्माओं को सूर्य-
मण्डल को बिद्ध कर ऊपर जाते हुए देख कर भानों भय से चन्द्रमा स्वयं ही विदीर्ण हो गया । यदि यह बात नहीं होती तो चन्द्रमा बिली अर्थात् सच्छिद्र क्यों कहलाता । ७ ।

बाहौ यदीयेऽर्थिसुगुद्रमेऽपि मन्येऽसियाष्टिं विषत्रल्लिमन्याम

नोचेत्तया वैरिणि वेष्यमाने किन्तेपिरे तस्य कुटुम्बकानि ॥८॥

बाहावित्यादि । यदीये यस्यायं यदीयस्तस्मिन् । “दोश्छ” इति छ प्रत्ययः । बाही भुजे । अर्थिसुरदुपेऽपि अर्थयन्त्येवं शीला अर्थिनः सुरस्य द्रुमः सुरद्रुमः सुरद्रुम इव सुरद्रुमोऽर्थिनां सुरद्रुमस्तस्मिन् याचकजनकल्पवृक्षे सत्यप्युपमा । असियष्टिं खड्गलताम् । अन्यां भिन्नां छिन्नां लोकानिगामित्यर्थः । विपवह्लिम् विपलताम् । मन्ये जाने । नोचेत्तया खड्गलतया । वैरिणि वैरमस्यास्ताति वैरी तस्मिन् शत्रौ । वेष्ट्यमाने संश्रीयमाणे सति । तस्य वैरिणः । कुटुम्बकानि कुटुम्बानि । किम् किन्निमित्तम् । तेषिरे तपन्तिस्म । तप सन्तापे लिट् ॥ उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ८ ॥

भा० अ०—महाराज सुमित्र की भुजायें याचकों के लिये कल्पवृक्ष के समान अभीष्टप्रद होने पर भी उनकी तलवार को मैं विपलतिकासी समझता हूँ । नहीं तो इसके लक्ष्य बने हुए शत्रुओं के परिवार वर्ग क्यों दुःखी होते । ८ ।

यस्य प्रतापाग्निशिखावलीढं सर्वं जगन्मत्समिदं वदामि ॥

नेदं द्विपो यं यमगुः प्रदेशं तमा बभूवुः किमु तव तत्र ॥ ९ ॥

यस्येत्यादि । इदं एतन् । सर्वं विश्वं । जगत् भुवनम् । यस्य सुमित्रतृपस्य । प्रतापाग्निशिखावलीढम् प्रतापः पराक्रमः स एवाग्निस्तस्य शिखा ज्वाला तथावलीढं व्याप्तं प्रतापाग्निशिखावलीढम् । “सप्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोपदण्डजम्” इत्यमरः । सत्यम् तथ्यम् । वदामि ब्रवीमि । इदम् वचनम् । न नोत्तर्हि । द्विपोः शत्रवः । “द्विद्विपक्षाहिनामित्रदस्युशात्रवशत्रवः” इत्यमरः । यं यम् प्रदेशम् । अगुः यन्तिस्म । इण् गतौ लुङ् “गैत्योः” इति गादेशः । तत्र तत्र तस्मिन् तस्मिन् प्रदेशे । वीप्सायामिति द्विः । तमाः तपन्तेस्म तमाः । किं बभूवुः किन्निमित्तमवन्तिस्मेतिघितकः । अनुमित्यलंकारः ॥ ९ ॥

भा० अ०—मैं समझता हूँ कि, सुमित्रराज के प्रतापस्वी अग्नि की ज्वाला से सारा संसार व्याप्त हो रहा था । यदि यह नहीं होता तो इन के शत्रु जहाँ जहाँ जाते वहाँ २ क्यों सन्तत होते । ९ ।

यस्यासिधाराविनिपातभीतास्त्यजन्तु पद्माकरगगमानि ॥

विमुक्तवन्तः किल राजहंसाः स्वमुत्तराशाश्रितमानसञ्च ॥ १० ॥

यस्येत्यादि । यस्य भूपस्य । असिधाराविनिपातभीताः असेधारा असिधारा खड्गाग्रम् तस्या विनिपातो घातस्तेन भीतास्सन्त्रस्तास्ते तथोक्ताः पक्षे असिधारा धारा जलप्रवाहोऽसिधारा तस्या विनिपाताद्भीतास्तथोक्ताः । “धारा सैन्याग्रिमस्कन्धसन्तत्योःपत्तनान्तरे । द्रवद्रव्यप्रपातेऽपि तुरंगगतिपञ्चके । खड्गादीनाञ्च निशित-

मुखे धारोऽपि कीर्त्यते” इति विश्वः । राजहंसाः राज्ञां हंसाः राजहंसाः श्रेष्ठाः राजहंसाः भूपेन्द्रा इत्यर्थः पक्षे राजहंसाः हंसविशेषाः । “राजहंसो नृपश्रेष्ठे कादम्बकल-हंसयोः” इति विश्वः । पद्माकरसंगमानि पद्मां लक्ष्मीं कुर्वन्तीति पद्माकराणि सम्पद्विधाय-कानि तानि संगमानि संसर्गास्तथोक्तानि राज्यभोगादिसम्बन्धानीत्यर्थः पक्षे पद्मा-करस्य पद्मानामाकरस्तस्य तटाकस्य संगमानि सम्बन्धानीत्यर्थः । “पद्मः स्यात्पन्नगे व्यूहे निधौ संख्यान्तरेऽम्बुजे पद्मके बिन्दुजालेऽपि पद्मा भाङ्गीश्रियोरपि” इति विश्वः । विमुञ्चन्तिस्म विमुक्तवन्तः । स्वं स्वकीयम् । उत्तराशाश्रितमानसश्च उत्तरा भविष्यत्फल-रूपाशा वांछा तथोक्ता उत्तराशामाश्रयतिस्म तथोक्तमुत्तराशाश्रितश्च तन्मानसं चित्तश्च तथोक्तम् पक्षे उत्तरा चासावाशा च तथोक्ता उत्तरादिक् तामाश्रितमुत्तराशाश्रित-न्तश्चमानसं तन्नामसरश्चेति तथोक्तम् । “आशा तृष्णादिशोः प्रोक्ता, मानसं सरसि स्वान्ते” इत्युभयत्रापि विश्वः । त्यजन्तु मुञ्चन्तु । त्यजहानौ लोट् । किल सम्भावितेऽर्थे । “वार्ता सम्भावयोः किल” इत्यमरः । उत्तरदिशि धनदस्य चैत्ररथनामोद्याने मानसनाम सरोऽस्तीति लौकिकरूढिः ॥ श्लेषोपमालंकारः ॥ १० ॥

भाषा अ०—सुमित्र महाराज के खड्गप्रहार से भयभीत होकर बड़े २ राजाओं ने अपने राज्य के ऐश्वर्योपभोग तथा भावी आशाओं को अपने हृदय से निकाल दिया । (दूसरा पक्ष) अथवा राजहंस पक्षी ने सुमित्र महाराज के राज्य में तीव्रजलप्रवाह से त्रस्त होकर पद्माकर (सरोवर) का आना जाना छोड़ दिया तथा उत्तर दिशा में विराजमान मानससरोवर को भी छोड़ दिया । १० ।

तेजोऽनले व्याप्तसमस्तकाष्ठे तत्र स्थितिं कर्तुमशक्नुवानाः ॥

यस्याग्नौ वारिधिवासमापुर्नोचेत्तथा के किल वारिमर्त्याः ॥ ११ ॥

तेज इत्यादि । यस्य नरेन्द्रस्य । तेजोऽनले तेजः प्रभावस्तद्देवानलोऽग्निस्तस्मिन् । “तेजः प्रभावे दीप्तौ च बले शुकोपि” इत्यमरः । व्याप्तसमस्तकाष्ठे समस्ताश्रिताः काष्ठा दिशश्च तथोक्ता व्याप्ताः परिपूर्णाश्च ताः समस्तकाष्ठा येन स तस्मिन् सति “काष्ठोत्कर्षे स्थितौ दिशि” इत्यमरः । इन्धनानि ध्वन्यन्ते । तत्र दिक्षु । स्थितिम् स्थानम् । कर्तुम् कर-णाय कर्त्तुं विधानुमित्यर्थः । अशक्नुवानाः न शक्नुवन्तीत्यशक्नुवानाः । “वयः शक्ति शील” इति शान प्रत्ययः । अशक्नुवन्त इत्यर्थः । अरयः शत्रवः । वारिधिवासम् वारीणि धीयन्तेऽस्मिन्निति वारिधिस्समुद्रस्तस्मिन् वासो निवासस्तम् समुद्रावासमित्यर्थः । आपुः ययुः । व्यतिरेकः । तथा तेन प्रकारेण । नोचेत् यदि न भवेत् । वारिमर्त्याः

वारिणि प्रवर्त्तमाना मर्त्यास्तथोक्ता जलचरमनुष्याः ॥ के किल के भवन्ति ।
किलेति प्रश्नः । अनुमित्यलंकारः ॥ ११ ॥

भा ३० —इन महाराज की प्रतापाग्नि के सभी दिशाओं में व्याप्त होजाने पर इनके शत्रु या वधवार स्थान व पासमुद्र को शरण आ । यदि ऐसा न होता तो जलचर-मनुष्या का अस्तित्व ही मिट जाता । ११ ।

उपायनाश्वेष्वुरप्रहारमदाश्वुनिम्नी कृतपूर्णांमध्यम् ॥

रत्नाङ्गणां यत्नदसो विशालम् क्रीडासरोमद्विरराज लक्ष्म्याः ॥ १२ ॥

उपायनेयादि । यत्नदसः यस्य सदस्तस्य सुमित्रराजस्यमायाः । “आस्थानी क्लृप्तामास्थानं स्त्रीनपुंसक्याः सदः” इत्यमरः । उपायनाश्वेष्वुरप्रहारमदाश्वुनिम्नीकृत-पूर्णांमध्यम् अश्वाश्वेष्वच * अश्वेषामा उपायनार्थं उपहारनिमित्तमानाता अश्वेषामा उपायनाश्वेषामा खुराणां प्रहारः खुरप्रहारो मदस्याश्वु मदाश्वु खुरप्रहारश्च मदाश्वु च खुरप्रहारमदाश्वुना उपायनाश्वेषामानां खुरप्रहारमदाश्वुनी तथोक्तं प्रागनिम्नं इदानीं निम्नं क्रियतेऽस्मिन् निम्नाकृतम् पूर्वैरेव पूजम् उपायनाश्वेष्वुरप्रहारादाश्वुभ्यां निम्नकृत-पूर्णं मध्यं यस्य तत्तथाकर । यथासंख्यालंकारः । अश्वेष्वुरप्रहारेण निम्नाकृतम् इममदाश्वु-ना पूजामयमित्यर्थः । विशालं त्वस्तृतम् । रत्नाङ्गणम् त्वेर्निमित्तमङ्गणन्तथोक्तम् । “अङ्गणं चत्वरंजरे” इत्यमरः । लक्ष्म्याः श्रादेव्याः । क्रीडासरोवत् क्रीडासर इव क्रीडा-सरोवत् । उपमा । विरराज यमा । राज्ञ दसो लक्ष् ॥ १२ ॥

भा० ३० —भेद में आये हुए घाड़ा के खुर-प्रहार तथा मदमत्त हाथियों की मदधारा-से सुमित्र महाराज को सभा के रत्नजड़ित प्रांगण का मध्यभाग गड्ढासा हाकर लक्ष्मी महाराणा के क्रीडासरोवर के समान ज्ञात होता था ॥ १२ ॥

प्राणेश्वरी तस्य बभूव राज्ञः पद्मावतीनामनरन्द्रकन्या ।

ययाधिविज्ञाजनि भूतधात्री या चाधिविज्ञाजनि भूरिलक्ष्म्या ॥ १३ ॥

प्राणेश्वरीत्यादि । तस्य राज्ञः सुमित्रस्य । यया रमण्या । भूतधात्री भूदेवी । “भूतधात्र्यब्धिमेखला” इति धनञ्जयः । अधिाविन्ना विद्यतेऽस्मिन् विन्नं अधि उपरि विन्नं यस्याः सा अधिविन्ना सपत्नी “कृतसापालिकाध्युढाऽधिाविन्नाऽथस्वयम्बरा” इत्यमरः । अजनि अभूत् । जनैर्द्राद्रुभावे लुङ् “दीप्पूर्जनि” इत्यादिना त्रिः, “जः” इति तस्य लुक् । या

† जलजमनुष्या इत्यर्थः । * अश्वेष्वचमाश्वेष्विति विग्रहे सनाङ्गणन्त कव्यज्ञावा भवितुमुचित आसीत् ।

च नारी । भूरिलक्ष्म्या भूरिश्वासौलक्ष्मीश्चेति भूरिलक्ष्मीस्तया । अधिविन्ना सपत्नी अजनि अभूत् । सा पद्मावतीनामनरेन्द्रकन्या नराणामिन्द्रो नरेन्द्रः कश्चिद्भूपतिस्तस्य कन्या कुमारीपद्मा अस्या अस्तोति पद्मावतो पद्मावतीति नाम यस्याः सा तथोक्ता सा चासौ नरेन्द्र-कन्या च तथोक्ता । प्राणेश्वरो प्राणानामेश्वरो तथोक्ता वल्लभा । बभूव भवतिस्म । भूत-धात्रीभूरिलक्ष्मीभ्यां सपत्नी नत्वन्यामिरिति । अतिशयालंकारः ॥ १३ ॥

भा० अ०—महाराज की प्राणवल्लभा पद्मावती एक राजकन्या थीं । इनकी केवल दो सौतेली थीं । एक पृथ्वी और दूसरी राजलक्ष्मी ॥ १३ ॥

लावण्यवाराशितराङ्गकल्पलतां नृपस्त्रीमवलोक्य शङ्के ॥

तत्काम्ययाद्यापि करोति लक्ष्मीस्तपोऽम्बुमध्ये कमलासनस्था ॥ १४ ॥

लावण्येत्यादि । लावण्यवाराशितराङ्गकल्पलताम् लावण्यमेव सौहृष्यमेव वाराशिः वारां जलानां राशिः समुद्रः “वार्वारिजठमम्नोऽम्बु” इति धनञ्जयः । लावण्यवाराशिं तरतीति लावण्यवाराशितरा प्लवमानेत्यर्थः कल्पलताया वाराशिप्रभवत्वप्रसिद्धेः “स्वित्रजिह्वा दिभ्यः” इत्यच् प्रत्ययः । अङ्गमेव कल्पलताङ्गकल्पलता लावण्यवाराशितरा चासावङ्गकल्पलता च तथोक्ता ताम् । नृपस्त्रीम् नृन् पातीति नृपस्तस्य स्त्री ताम्पद्मावतीम् । अवलोक्य वीक्ष्य । लक्ष्मीः कमला । तत्काम्यया तदलावण्यमिच्छत्यात्मन इति तत्काम्या तथा तदलावण्यलाभेच्छया “सुपः कर्तुः काम्यः” इति वाञ्छार्थं काम्य प्रत्ययः । “प्रत्ययाद्यत्” इति यत् । “ततोऽजाद्यन्तामाप्” इति आप् । कमलासनस्था कमलमेवासनं कमलासनन्तस्मिन् तिष्ठतीति कमलासनस्था पद्मासनस्येत्यर्थः । अद्यापि इदानीमपि । अम्बु-मध्ये जलमध्ये । तपः पारिव्राज्यम् । करोति विदधाति । इति शंके मन्ये । शकि शंकायां लट् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ १४ ॥

भा० अ०—मुझे सन्देह होता है कि सौन्दर्य-समुद्र में तैरनेवाली तथा कल्पलतिका-सी अङ्गवाली राजमहिषी पद्मावती को देखकर इनकी सुन्दरता पाने की इच्छा से लक्ष्मी आज भी समुद्र के मध्य में तपस्या कर रही हैं ॥ १४ ॥

निशाकरस्फेटनिभानि तन्व्या नखानि पादाङ्गुलिसंगतानि ॥

जगज्जिगीषोर्मकरध्वजस्य प्रपेदिरे खेटकभल्लकत्वम् ॥ १५ ॥

निशाकरेत्यादि । तन्व्याः कृशाङ्ग्याः । निशाकरस्फेटनिभानि निशां करोति इति निशा-करो विधुस्तस्य स्फेटाः खण्डानि तेषां निभानि समानानि तथोक्तानि । “निभो

व्याजसदृक्षयोः” इति विश्वः । उपमा । पादाङ्गुलिसंगतानि पादयोरंगुलयस्ताः संगच्छन्तेऽभ
तथोक्तानि । नखानि नखराणि “नखोऽखिनखरोऽख्रियाम्” इत्यमरः । जगज्जिगीषोः जेतुमिच्छु
र्जिगीषुः “सम्भिभक्ष्य” इत्यादिना उ प्रत्ययः । जगतो जिगीषुस्तस्य । मकरध्वजस्य मकरो ध्वजो
यस्य स मकरध्वजस्तस्य मन्मथस्य । खेटकभल्लकत्वम् खेटकः फलकः स च भल्लकः
कुन्तस्स च खेटकभल्लकौ तयोर्भावः खेटकभल्लकत्वम् । प्रपेदिरे प्रजग्मुः । पद् गतौ लिट्
उत्प्रेक्षालंकारः ॥ १५ ॥

भा० अ०—चन्द्रमाके खण्डके समान रानी के पैर की अंगुलियों के नख, संसार को
जीतने की इच्छा करने वाले कामदेव के अस्त्रभूत ढाल और भाले बन गये । १५ ।

स्वर्गापगारक्तसरोरुहाणां सजातमेतदृद्यमित्यवैमि ।

सुरांगनानां कथमन्यथास्ताम् चिगय मेव्यौ चरणौ मृगाद्याः ॥ १६ ॥

स्वर्गेत्यादि । मृगाद्याः मृगस्येवाक्षिणी नयने यस्यास्तस्याः एणाद्याः पद्मावत्याः ।
एतदृद्यम् एतयोश्चरणयोर्द्वयम् तथोक्तम् । स्वर्गापगारक्तसरोरुहाणाम् स्वर्गस्यापगा नदी
तथोक्ता सरसि रोहन्तीति सरोरुहाणि रक्तानि च तानि सरोरुहाणि च रक्तसरोरुहाणि
स्वर्गापगायाः रक्तसरोरुहाणि तथोक्तानि तेषाम् । सजातम् सह जायतेऽस्म इति सजातम्
सहोदरम् इति । अवैमि जानामि । इण् गतौ लट् । अन्यथा एवं नोचेत् । सुरांगनानाम्
सुराणामंगनाः सुरांगनास्तासाम् देवमानिनीनाम् चरणौ पादौ । “पदंश्चिरणोऽख्रियाम्”
इत्यमरः । चिगय अनवतरम् । “चिराय चिररात्राय दीर्घकाले प्रयुज्यते” इति हलायुधः ।
सेव्यौ सेवितुं आराधितुं योग्यौ । कथं केन प्रकारेण । आस्ताम् अभवताम् । अस् भुवि लङ्
उत्प्रेक्षालंकारः ॥ १६ ॥

भा० अ०—पद्मावती रानी के दोनों पैर स्वर्गीय नदी के रक्तकमलों के सहोदर से
ज्ञात होते थे । यदि यह बात नहीं होती तो वे देवाङ्गनाओं से क्यों पूजित होते ? १६ ।

सपर्वरम्भासदृशोस्तदूर्वोः सजंघयोःसंगजकाहला का ।

कियांश्च पञ्चायुधपृष्ठतृणाः क्रियत्तरौ मन्मथदन्तिदन्तौ ॥ १७ ॥

सपर्वेत्यादि । सपर्वरम्भासदृशोः पर्वणा ग्रन्थिना सह वर्त्तन इति सपर्वा सा चासौ
रम्भा च सपर्वरम्भा तथा सदृशौ तथोक्तौ तयोः । “सदृक्षः सदृशः सदृक्” इत्यमरः । सग्रन्धि-
कदलीस्तम्भसमानयोरित्यर्थः । उपमा । सजंघयोः जंघाभ्यां सह वर्तते इति सजंघौ तयोः ।
तदूर्वोः तस्याः पद्मावत्या ऊरू तदूरू तयोस्तदूर्वोः पुरत इति शेषः । अंगजकाहला अंगे
जायत इत्यंगजो मन्मथस्तस्य काहला । का काकुः तदूर्वोः पुरः कामस्य काहलाकि-

यती भवतीत्यर्थः । पञ्चायुधपृष्ठतूणः पञ्चायुधानि यस्य स पञ्चायुधो मन्मथस्तस्य पृष्ठे शरीर-
चरमभागास्तस्मिन् विद्यमानस्तूण इषुधिः पञ्चायुधपृष्ठतूणः । कियान् किं मानमस्येति
कियान् “घत्त्विदं किम” इति मानार्थे घतुप्रत्ययः “द घ ड ष फ” इत्यादिना घस्य
इयादेशः “किमिदमिः कोश” इति किं शब्दस्य क्यादेशः उगित्वान्नुप् । मन्मथदन्तिदन्तौ
मन्मथः कामस्तस्य दन्ता गजस्तस्य दन्ता रदां रूपकः । कियत्तर्गौ प्रकृष्टौ कियन्तां कियत्तर्गौ ।
भवतः । आक्षपालंकारः ॥ १७ ॥

भा० अ०—गाँठ के साथ २ कदली के खंभे के समान पद्मावती रानी की दौनों
जाँघों के आगे कामदेव का क्या बश था ? कामदेव के तरकस तथा इनके हाथों के
दौनां दाँत भी रानी की जाँघ के आगे कुछ नहीं थे । १७ ।

परिस्फुरन्काञ्चनकाञ्चिबन्धं निबद्धनीवीविलसद्दुकूलम् ।

कलत्रभारं कलिकायुधोऽस्याश्चकार वास्त्रं किल चक्रयानम् ॥ १८ ॥

परिस्फुरदित्यादि । कलिकायुधः कलिकाः कोरका एवायुधानि यस्य स तथोक्तः
पुष्पायुध इत्यर्थः । अस्याः एतस्याः पद्मावत्याः । परिस्फुरत्काञ्चनकाञ्चिबन्धम् काञ्चन्याः
मेखलायाः बन्धस्तथोक्तः क्वचिन् महतां प्रयोगे इकारान्तेकारान्तयोरभेदो लक्ष्यते । काञ्चनेन
निर्मितः काञ्चि बन्धः काञ्चनकाञ्चिबन्धः परिस्फुरतीति परिस्फुरन् परिस्फुरन् काञ्चनकाञ्चि
बन्ध पश्य स तथाकस्त् । निबद्धनीवीविलसद्दुकूलम् निबद्धा चासौ नीवी च निबद्ध-
न नी तयः प्रन्थरन्चया विलसद्दिग्गजदुकूलम् सूक्ष्मश्वेतवस्त्रं यस्य स तन् । “दुकूलन्तु
क्षे सूक्ष्मशुक्ति तन्” इति भास्करः । कलत्रभारम् कलत्रस्य नितम्बस्य भारस्त् ।
“कलत्रं श्रोणिभार्ययाः” इत्यमरः । वास्त्रम् वस्त्रेण छन्दं वास्त्रम् “छन्दे रथ” इत्यण प्रत्ययः ।
“रथं काम्यठवन्नाथाः कम्बलादिभगावृते” इत्यमरः । चक्रयानम् चक्रैरुद्धं यानं चक्रयानम्
रथमित्यर्थः । चकार विद्ध्यौ । डुकृत् करणे लिट् । किल सम्भाव्यम् । उत्प्रेक्षलंकारः ॥ १८ ॥

भा० अ०—सुवर्णमय समृद्धव कटिभूषण और नीवी-बन्धन-युक्त साड़ी से सुशा-
भित महारानी पद्मावती के नितम्ब-भार को कामदेव ने बस्त्र से ढँके हुए रथ का चक्रा
बना डाला । १८ ।

वलिवयत्रासतरङ्गितेऽस्या विलसन्सौन्दर्यमहास्तुराशौ ॥

उपर्युदस्तस्तनशैलतक्यो रराज संतुर्नवरोमराजिः ॥ १९ ॥

वलिवयेत्यादि । अस्याः पद्मावत्याः । वलिवयत्रासतरङ्गिते वलीनां त्रयं वलिवयं तस्य
त्रासाञ्चलनानि त एव तरङ्गास्तथाक्ता वलिवयत्रासतरङ्गाः संजाता आस्मन्निति वलिवय-

त्रासतरङ्गितस्तस्मिन् । विलग्नसौन्दर्यमहाम्बुराशौ विलगति सन्नतति अतिकृशात्वादिति विलग्नं मध्यम् “मध्यमञ्चावलग्नं च मध्योऽस्त्री” इत्यमरः । तस्य सौन्दर्यम् सौरूप्यम् तथोक्तम् अभ्यूनां राशिरम्बुराशिः महांश्चात्मात्रम्बुराशिश्च तथोक्तो विलग्नसौन्दर्यमेव महाम्बुराशिस्तस्मिन् । उपरि श्रे । उदस्तस्तनशैलतर्क्यः उदस्येतेस्म उदस्तौ उन्नतौ च तौ स्तनौ चोदस्तस्तनौ तावेव शैलौ ताभ्यां तक्रितुं योग्यस्तनक्य ऊह्यस्तथोक्तः । नवगोमराजिः नवानि च तानि रोमाणि च नवरोमाणि तेषां राजिः श्रेणी नवगोमराजिः । सेतुः आलि सेतुबन्ध इत्यर्थः । रराज यमौ राजृदीप्तौ लिट् । सेतुः स्तीनापतिना महेन्द्रशैलावधियज्ञः सन्निवानीमम्बुधिजलमग्नत्वादलक्ष्योऽप्यग्रभागे शैलं दृष्ट्वा यथा चित्तक्यते तथा विलग्नसौन्दर्यमहाम्बुराशौ निमग्नत्वादलक्ष्योऽप्यस्या नवरोमराजिग्रभागे स्तनशैलमवलोक्य चित्तक्यते इति भावः । रूपकालंकारः ॥ १६ ॥

भा० अ० त्रिवलीरूपी तरंगवाले कटि-सौन्दर्य समुद्र में ऊपर की ओर उठे हुए कुचरूपी पर्वतों से अनुमान की जाती हुई अंकुरित रोमावली से तु के समान शोभाती थी । १६।

भुजायता चम्पकमालिका पलाय कृत्वावतः पंकजकुडमलश्च ॥

मृदुत्वकाठिन्यगुणौ मृदुत्वकाठिन्ये ते एव गुणौ पृ स्तौ । रूपकः । कथं केन प्रकारेण । दधीत स्वीकुर्यात् । इधाञ् धारणे च लिङ् तङ् । प्रदीपालंकारः ॥ २० ॥

भुजायतेत्यादि । मृगाक्ष्याः मृगसोत्राक्षिणी यस्याः सा मृगाक्षी तस्या मृगाक्ष्याः पणाक्ष्याः । भुजायता भुजाविधायतौ यस्या सा भुजायता भुजायती । चम्पकमालिका चम्पकस्य हेमपुष्पस्य मालिका तथोक्ता । कुचावतः कुचावित्तत्वास्तुक्तस्तथोक्तः । पंकजकुडमलश्च पंके जायते इति पंकजं तस्य कुडमलं मुकुलस्तथोक्तः । पलाय भयेत् । तथापि उभयमपि चम्पकमालिकपंकजकुडमलद्वयमपि । उभययोः उभावययत् तस्या उन्मथणी “मिदुमिदिङ्” तस्याः भुजकुचद्वयस्य । मृदुत्वकाठिन्यगुणौ मृदुत्वकाठिन्ये ते एव गुणौ पृ स्तौ । रूपकः । कथं केन प्रकारेण । दधीत स्वीकुर्यात् । इधाञ् धारणे च लिङ् तङ् । प्रदीपालंकारः ॥ २० ॥

भा० अ० मृगाक्षी पलायनी का तस्वीं वाहें यदि चम्पक की माला कहीं जायँ और उन्नत कुच कमल-कुडमल कहे जायँ तो ये दोनों भुज और कुच की मृदुता तथा कठिनता कैसे धारण कर सकते हैं अर्थात् ये दोनों उपमायें अपनी सार्थकता सिद्ध नहीं कर सकतीं ॥ २० ॥

शुभेन रेखात्रितयेन तन्व्याः कराटः स्फुटं कम्बुममान एव ॥

सुधासदाद्रेणा पुनः स्वरेणा विपंचिकाप्यञ्चत एव तस्य ॥ २१ ॥

शुभेनैत्यादि । तन्व्याः कृशांग्याः । कण्ठः ग्रीवा । शुभेन प्रशस्तरूपेण । रेखात्रितयेन रेखाणां त्रिनयं रेखात्रितयन्तेन । स्फुटम् व्यक्तम् । कम्बुसमान एव कम्बुः शंखस्तस्य समान एव शंखसदृश इत्यर्थः । “कम्बुर्नाविलये शंखः” इत्यमरः । पुनः किन्तु । सुधासदाद्र्घेण सदा अनवरतमाद्र्घः सदाद्र्घः सुधया पीयूषेण सदाद्र्घस्तेन । स्वरेण नादेन । “स्वरोऽकारादि-मात्रासु मध्यमादिषु च ध्वनौ । उदात्तादिष्वपि प्रोक्तः स्वरो नासासमीरणे” इति विश्वः । विपञ्चिकापि वीणापि । तस्य कण्ठस्य । अञ्जत एव अञ्जतान्ततो दूरत एवेत्यर्थः । “मञ्चके लसदञ्चके” इति प्रभञ्जनचरित्रकारप्रयोगात् । किम्पुनः कम्बुरिति भावः ॥ २१ ॥

भा० अ०—कृशांगी पद्मावती रानी के कण्ठ में जो शुभ-सूचक तीन रेखाएँ थीं इन से वह शंख के समान कण्ठ अमृतमय सुमधुर स्वर से वीणा को भी पददलित किये हुआ था ॥ २१ ॥

यदञ्जसौन्दर्यसखं मुखञ्च यदम्बके मीनविडम्बके च ।

नभःश्रियः साम्यमुपागता या मरःश्रियः साम्यमतोगता सा ॥ २२ ॥

यदित्यादि । यत् यस्पात्कारणान् । मुखम् वक्त्रम् । अञ्जसौन्दर्यसखम् अञ्जस्य चन्द्रस्य कमलस्य च सौन्दर्यन्तस्य सखा अञ्जसौन्दर्यसखम् “राजनसखेः” इत्यट् । “अञ्जो धन्वन्तरौ चन्द्रे निचूके शंखपद्मयोगेऽञ्जं स्यात्” इति विश्वः । यच्च यस्माद्धेतोः । अम्बके च नयने । “दृग्दृ-ष्टिनेत्रलोचनचक्षुर्नयनाम्बकेक्षणाक्षिणि” इति हलायुधः । मीनविडम्बके मीनस्य मत्स्यस्य मीनराशेश्च विडम्बके तिरस्कारके “मीनो राश्यन्तरे मत्स्ये” इति विश्वः । अतः अस्मात् कारणात् । या देवी । नभःश्रियः नभसो व्योमनः श्रीः शोभा तथोक्ता तस्याः साम्यम् समस्य भावः साम्यम् । उपागता उपगच्छतिस्मेत्युपागता प्राप्ता । सा पद्मावती । सरःश्रियः सरसः कासारस्य श्रीः शोभा तस्याः साम्यम् तुलाम् गता प्राप्ता । मुखनेत्रयोः चन्द्रमीनराशयोः तुलया नभसः श्रीसाम्यम् पद्ममत्स्ययोस्त्वाम्यात् । सरःश्रीसाम्यमिति नभःश्रीः सरःश्रीः राज्ञी चेति तिल्लोऽपि समाना इति भावः । उपमालंकारः ॥ २२ ॥

भा० अ०—पद्मावती का मुख, चन्द्रया की सुन्दरता का सहचर था तथा आँखें मछ-लियों को तिरस्कृत किये हुई थीं अतएव यह रानी आकाश की सुन्दरता की समानता करती हुई सरोवर की शोभा की तुलना किये हुई थी ॥ २२ ॥

त्रिलोकनारीतिलकस्य तस्याः क्व केशपाशस्य पुरो भवामः ॥

इतीदमद्याप्यभिनेतुमेते सधूतयश्चामरवालहरताः ॥ २३ ॥

त्रिलोकनारीत्यादि । त्रिलोकनारीतिलकस्य त्रयध्वते लोकाश्चत्रिलोकास्तेषु विद्यमाना

नार्यस्त्रिलोकनार्यस्तासाम् तिलकं तथोक्तस्य तिलकशब्दस्याविष्टलिङ्गत्वात्पुंसकत्वम्
उत्कृष्टाया इत्यर्थः । तस्याः पद्मावत्याः । केशपाशस्य केशानां पाशः केशपाशस्तस्य
धम्मिल्लस्य । पुराऽप्रे । ष्व कुत्र “ष्व कुत्रात्रेह” इति निपातनात्साधुः । भवामः स्मः । सद्गशा न
भवाम इत्यर्थः । इतोद्गम् एतद्वचनम् । अभिनेतुम् अभिनयायाभिनेतुं निजव्यापारेण दर्शयितुम् ।
एते इमे । चामरवालहस्ताः चमर्या इमे चामरास्ते च ते वालहस्ताश्च तथोक्ताश्चामरवाल-
धियः “वालहस्तश्चवालधिः” इत्यमरः । अद्यापि इदानीमपि । सधूतयः धवनं धूतिः धूत्या सह
वर्तन्ते इति सधूतयः सकम्पना इत्यर्थः । भवन्तीति साध्याहारः । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ २३ ॥

भा० अ०—त्रिभुवन की ललनाओं में शिरोभूषण पद्मावती रानी के बालों की तुलना
हम नहीं कर सकते—इस बात को जताने के लिये ही मानों चामर भाज भी कम्पित होते
रहते हैं ॥ २३ ॥

मनोजसम्मोहनमंत्रचिन्ताफलं नु भूपालतपःफलं नु ॥

जनेक्षणाद्दृष्टफलं नु किञ्चिन्नवेद्मि सृष्टेः कलशाकृतिस्मा ॥२४॥

मनोजेत्यादि । सृष्टेः निर्मितेः । कलशाकृतिः कलशास्याकृतिराकारो यस्यास्ता
कलशाकृतिः । सा पद्मावतीदेवी । मनोजसम्मोहनमन्त्रचिन्ताफलम् मनसि जायत इति मनोज-
स्तस्य सम्मोहनस्तस्य मन्त्रो मनोजसम्मोहनमन्त्रस्तस्याचिन्ता तथोक्ता तस्याः फलम्
मनोजसम्मोहनमन्त्रचिन्ताफलम् मन्त्रवशीकरणमन्त्रध्यानसम्पादितफलमित्यर्थः । नु किम्वा ।
भूपालतपःफलम् भुवं पालयतीति भूपालस्तस्य तपो भूपालतपस्तस्य फलन्तथोक्तम्
सुमित्रमहाराजस्य गतभवविहिततपश्चरणफलमित्यर्थः । नु किम्वा । जनेक्षणाद्दृष्टफलम् जनाना-
मीक्षणानि जनेक्षणानि तेषामद्दृष्टस्तस्य फलं तथोक्तम् प्रेक्षकलोकनेत्राणां पुण्यफलमित्यर्थः । नु
किम्वेति । किञ्चित् किमपि । न वेद्मि न जानं विद्मि ज्ञानं लट् । संशयालंकारः ॥ २४ ॥

भा० अ०—सृष्टि के कलशा के समान पद्मावती रानी कामदेव के मोहन-मंत्र के ध्यान
का फल स्वरूप है अथवा सुमित्र महाराज को पूर्व तपस्या का फल या जनता के दर्शन
सौभाग्य का फल है यह बात मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता ॥ २४ ॥

निर्मूलिताशेषविपक्षकक्षो निराकुलीभूतसमस्तभूतः ।

युवा स पुष्पायुधबाणकोणव्यधात्परं व्याकुलमानसोऽभूत् ॥२५॥

निर्मूलितेत्यादि । निर्मूल्यते स्म निर्मूलितमशेषाश्च ते विपक्षाश्चाशेषविपक्षास्त एव
कक्षमरण्यं तथोक्तं निर्मूलितमशेषविपक्षकक्षं येन स तथोक्तः । “विपिनं गहनं कक्षमरण्यम्”
इति धनञ्जयः । समूलोद्धृतसमस्तशत्रु विपिनः । निराकुलीभूतसमस्तभूतः प्रागनिरा

कुला इदानीं निराकुला भवन्तिस्मेति निराकुलीभूताः समस्ताश्च ते भूताश्च समस्तभूता निरा-
कुलाभूताः समस्तभूता यस्मात्स तथोक्तः । बाधाग्रहितसकलप्रजानिकरः । “युक्तेक्ष्मा
दावृते भूतं प्राण्यर्नाते समं त्रिपु” इत्यमरः । युवा तरुणः । “वयस्थ्यस्तरुणो युवा” इत्यमरः । सः
सुमित्रमहाराजः । पुष्पापुष्पवाणनाणयथात् पुष्पाप्येव आयुधानि यस्य स पुष्पा-
युधः मनाभूस्तस्य वाणः शरस्तस्या काणाऽयं तस्य व्यघ्नं व्याधो घातस्तस्मात् मन्मथवा-
णाप्रवाचनादित्यर्थः । “वाद्यमृदास्त्रगुडादिषु कोण” इति नानार्थरत्नकोष । परम् केवलम्
व्याकुलमानस व्याकुलं मानसं यस्य स तथोक्तः व्यग्रधीः । अभूत् अभवत् भूस्तथायां
लुङ् । रूपकालंकारः ॥२५॥

भा० अ०—समां शत्रु रूप घ्ननां निर्मूलका सर्वे प्राणिवर्गो निराकुल करनेवाले नवयुवक
सुमित्र महाराज कामदेव के वाणाग्र से वेध जाने के कारण व्याकुल-चित्त हो गये । २५ ।

कुलागते वर्षिणि पृष्टशोचि समंविदर्गेऽर्पितराज्यभारः ।

तथा समं मन्मथशासनानि बभार भावातिमनोहराणि ॥२६॥

कुलागते इत्यादि । कुलागते कुलाद्भवन्तिस्मिन् वंशपरम्परागतानि । वर्षिणि वर्षाणि
सन्त्यस्येति वर्षी वृद्धे भूतार्थे इन् तास्मिन् वर्षिणि । ज्यायसि वृद्ध इत्यर्थः । पृष्टशोचि पृष्टं शौचं
यस्मिन्स्मिन्नुपधाशुद्ध इत्यर्थः । “धर्मार्थिकामभयव्याजेन परावृत्तपरीक्षणमुपधा” इति
राजनीतिवचनान् ! मंत्रिवर्गे मंत्रिणां सचिवानां वर्गस्त्वमूहस्तस्मिन् । अर्पितराज्यभारः
राज्यस्य भारः राज्यभारोऽर्पितः संस्थापितो राज्यभारो येन स तथोक्तः । सः सुमित्रभूपः ।
तथा पृष्टमहिष्या पश्चाच्चत्वा । समं साकम् । “साकं सत्रा समं सह” इत्यमरः । भावाति-
मनोहराणि वक्ष्यमाणानि भाना आलम्ब्यो नोद्दीपनकारणानि नागादयो भावास्तीराटस्यनादि-
भिरतिमनोहराणि अत्यन्तं मनोहराणि तथोक्तानि । मन्मथशासनानि मन्मथस्य शासनानि
तथोक्तानि कामराज्यानीत्यर्थः । बभार धरतिस्म भृञ् भरणे लिट् । पण्डित्यलंकारः ॥२६॥

भा० अ०—तथा वंशपरंपरा से चले आते हुए और सूक्ष्मदर्शी तथा बूढ़े मंत्रियों पर राज्यभार
सौंप कर विविध भावों से पश्चाच्चती के साथ मनोहर कामदेव के शासन का सहर्ष सम्पन्न
करने लगे । २६ ।

अगायदेषा स ततान तानमनृत्यदेषा सतताड तालम् ।

अवाद्यद्वल्लकिकामथैषा स वल्लकीवानुजगौ द्वितीया ॥२७॥

अगायदित्यादि । एषा इयम्पश्चाच्चती । अगायत् गानप्रकरोत् । कै ग र शब्द लङ् । सः
सुमित्रभूपः । तानम् श्रुतिम् । ततान विस्तारयतिस्म तनु विस्तारे लिट् । एषा पश्चाच्चती

अनृत्यत् अनटत् नृ तै गात्र-विक्षेपे लङ् । सः सुमित्रः । तालम् कांश्यम् । तताड ताडयतिस्म
तड ताडने लिट् । अथ अनन्तरे । एषा पद्मावती । वल्लकिकाम् वीणाम् । अवाद्यत् अनाद्यत्
वद् व्यकायां वाचि लङ् । सः सुमित्रः । द्वितीया द्वयोः पूर्णा द्वितीया । वल्लकीव वीणिव ।
अनुजगौ अनुगायतिस्म गौ शब्दे लिट् ॥२७॥

भा० अ०—महारानी पद्मावती यदि गाती थी तो सुमित्र महाराज तान छेड़ते थे,
वह नृत्य करती थी तो वे बाजे बजाते थे और वह कहीं वीणा बजाती थी तो सुमित्र
महाराज दूसरी वीणा के समान अपने सुमधुर कण्ठ से गाते थे ॥ २७ ॥

सह प्रयातौ दयितौ वनान्तं सह प्रियौ केलिसरः प्रविष्टौ ।

सहाधिरूढौ रमणौ च दोलाम् सह स्थितौ सौधशिरस्सु कान्तौ ॥२८॥

सहेत्यादि । दयितौ दयिता च दयितश्चेति दयितौ स्त्रीपुरुषौ “समानमेकः” इत्येक-
शेषः । वनान्तं वनमध्यं । सह साकम् । “साकं सत्रा समं सह” इत्यमरः । प्रयातौ । प्रियौ प्रिया
च प्रियश्च प्रियो अयमप्येकशेषः । केलिसरः केल्याः सरः केलिसरः कीडासरोवरम् । सह
समम् । प्रविष्टौ प्रविशतस्म । रमणौ रमणी च रमणश्च रमणी दम्पती । अत्राप्येकशेषः ।
दोलाम् प्रान्दोलिकाम् । “आन्दोलनं स्यादान्दोलं दालास्याद्दोलिकापि च” इति वैजयन्ती ।
सह सत्रा । अधिरूढौ अधिरोहतः स्म तथोक्तौ । कान्तौ कान्ता च कान्तश्च कान्तौ एकशेषः ।
सौधशिरस्सु सौधानां शिरांसि तथोक्तानि तेषु हर्म्याग्रभागेषु । सह साकम् । स्थितौ तिष्ठ-
तः स्म ॥२८॥

भा० अ०—कमनीय कलेवर वाले ये युगल दम्पती साथ ही साथ वन में जाकर
सरोवरों में जल क्रीड़ा करते थे । हिंडोले पर झूलते थे और राजप्रासाद की छत पर बैठते
थे ॥२८॥

उरोजयोरंगामदेन तस्याः कुतूहलीयं मकरं लिलेख ।

त्रिभावयामास स भावयोनेः स्थूलाग्रजाग्रन्मकरध्वजस्य ॥२९॥

उरोजयोरित्यादि । तस्याः पद्मावत्याः । उरोजयोः उरसि जायेते इत्युरोजौ तयोः स्तनयोः ।
एणमदेन एणस्य मद एणमदस्नेन कस्तूर्या । कुतूहलीयम् कुतूहलाय भवं कुतूहलीयम् ।
“कौतूहलं कौतुकञ्च कुतुकञ्च कुतूहलं” इत्यमरः । मकरम् जलचरविशेषम् । लिलेख लिखतिस्म
लिख अक्षरविन्यासे लिट् । सः मकरः । भावयोनेः भाव एव योनिद्वयसिस्थानं यस्य स तस्य
मारस्य । स्थूलाग्रजाग्रन्मकरध्वजस्य स्थूलस्य पटकुट्या अग्रं स्थूलाग्रं “दूर्घ्यं स्थूलं पट
कुटी गुणलयनी केणिका तुल्याः” इति वैजयन्ती । अथवा स्थूलस्य दूर्घ्यकूटस्याग्रं स्थूलाग्रम्

“स्थूलं स्यात्पीवरं कूटे निष्प्रहं पुनरन्यथत्” इति विश्वः । तस्मिन् जागतीति जाग्रत् प्रस्फुरन् मकरो यस्य स स्थूलाग्रजाग्रन्मकरस्त चार्सौ ध्वजश्च तथोक्तस्तस्य । कर्मणि षष्ठी । विभावयामास स्मारयतिस्म । भूकृपोरवकल्पने लिट् । पुनश्च कामोद्दोषिमकरोदिति भावः । अतिशयालंकारः ॥२६॥

भा० अ०—पञ्चावती के दानों स्तनों पर कस्तूरिकामय चन्दन से चित्रित कुतूहलकारक मकरचिह्न कामदेव के तम्बू के मकरध्वज के समान दिखाई पड़ना था ॥२६॥

सखीसभायां चतुरङ्गकेलां चुचुम्ब्य संरक्षितुमादृतस्य ॥

हयस्य याच्नाकपटेन कामी मुहुर्मुहुः स्मेरमुखीं कपोले ॥३०॥

सखीत्यादि । कामी कामोऽस्यास्तीति कामी सुमित्रः । सखीसभायाम् सखीनां सभा सखीसभा तस्याम् वयस्यानां गोष्ठ्याम् । चतुरंगकेली चत्वार्यङ्गानि यस्य तत् चतुरंगम् तस्य कैलित्तस्याम् चतुरंगक्रीडायाम् । आदृतस्य आद्रियतेस्मेत्यादृतस्तस्य प्रीतस्य वाञ्छितस्य वा । “आदृतौ साद्राचिनौ” इत्यमरः । हयस्य अश्वस्य । संरक्षितुम् संरक्षणाय संरक्षितुम् । कृतकामुकस्येति कर्मणि षष्ठी । याच्नाकपटेन याच्नायाः प्रार्थनायाः कपटेन व्याजेन । स्मेरमुखीम् स्मेरेण स्मितेन युक्तं मुखं यस्यास्सा तात् दरहासवदनाम् । कपोले गण्ड-
खले । मुहुर्मुहुः पुनः पुनः । चुचुम्ब्य चुम्बतिस्म । चुवि वक्त्रसंयोगे लिट् ॥ ३० ॥

भा० अ०—सखियों की मण्डली में पञ्चावती के साथ चौसर खेलते हुए सुमित्र महाराज अपने प्यारे घोड़े (घोड़े के नाम से विख्यात एक चौसर की गोटी) को रक्षा के लिये प्रार्थना के बहाने मन्द २ मुसकुगती हुई पञ्चावती का बारबार मुखचुम्बन किया करते थे ॥ ३० ॥

मुक्तागुणाच्छायमिषेण तन्व्याः रसेनलावण्यमयेन पूर्णे ।

नाभिहृदे नाथनिवेशितेन त्रिलांघनेनानिमिषेण जज्ञे ॥३१॥

मुक्तागुणेत्यादि । तन्व्याः कृशाङ्गयाः । लावण्यमयेन लावण्यस्य विकारो लाव-
ण्यमयस्तेन देहकान्तिमयेन । “लावण्यम् देहकान्तिता च” इत्यभिधानात् । रसेन अमृत-
द्रवेण । “रसो रामे विषे वाच्ये तिकादौ पारदे द्रवे । रेतस्यास्नादने हेनि निर्यासोऽमृत-
शब्दयोः” इति वैजयन्ती । मुक्तागुणच्छायमिषेण मुक्तानां गुणा दामानि “मौर्व्यप्रधान” इत्यादि
नानार्थकोषे । तेषां छाया छाषमुं कागुणच्छाय अनत्र तत्पुरुषे “सेनाच्छायाशालासुरानिशा”
इति स्त्रीनपुंसकविशेषपाठात् षष्ठातत्पुरुषे छायाशब्दस्य वा नपुंसकत्वम् मुक्तागुणच्छायस्य
मिषं व्याजस्तेन “छायात्वनातपे कान्ती मिषं गजनिमीलनम्” इत्यभिधानात् । पूर्णे

सम्पूर्णं । नाभिहृदे नाभिरेव हृदस्तस्मिन् “तत्रागाधजलो हृदः” इत्यमरः । नाधनिवेशिनेन पत्या निवेशितं तथोक्तनेन । विलोचनेन नयनेन । अनिमिषेण मत्स्येन । रूपकः । जज्ञे जनेङ् प्राकुभावे कर्मणि लिट् जातमित्यर्थः ॥३१॥

भा० अ०—मौक्तिक कांची (करधनी) से प्रकाशित और सुन्दरता तथा अमृत रससे परिपूर्ण पद्मावती के नाभि-सरोवर पर सुमित्र महाराज की एकटक दृष्टि लगी हुई थी ॥३१॥

अमर्षणायाः श्रवणावतंसमपाङ्गविद्युद्द्विनिवर्तनेन ॥

स्मरेण कोशादवकृष्यमाणं रथाङ्गमुर्वीपतिगशशंके ॥३२॥

अमर्षणाया इत्यादि । उर्वीपतिः उर्वीः भूमेः पतिः स्वामी उर्वीपतिः सुमित्रविभुः । अमर्षणायाः प्रणयकोपयुतायाः । अपाङ्गविद्युद्द्विनिवर्तनेन अपाङ्गः कटाक्षः स एव विद्युत् अपाङ्गविद्युत् तस्या विनिवर्तनेन पुनर्व्यावर्तनेन तैर्न । श्रवणावतंसम् श्रवणयोः कर्णयोरवतंसमाभूषणम् “पुंस्युत्तंमावतंसो द्वौ कर्णपूरे च शेखरे” इत्यमरः । स्मरेण कामेन । कोशात् आयुधविधानात् । “कोपोऽस्त्री कुड्मले खड्गविधानैर्धौघद्विव्ययोः” इत्यमरः । अवकृष्यमाणम् आकृष्यमाणम् । रथाङ्गम् चक्रायुधम् “चक्रं रथाङ्गम्” इत्यमरः । आशशंके आशं कतेस्म शक्ति शंकायाम् लिट् ॥ उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ३२ ॥

भा० अ०—सुमित्र महाराज प्रणयकलहवती पद्मावती के विजली के समान त्योंरी बदलने पर उसके कर्णभूषण को कामदेव के द्वारा म्यान से निकला हुआ चक्रायुध समझते थे ॥ ३२ ॥

रहस्सु वस्त्राहरणे प्रवृत्ताः महासगर्जाः क्षितिपालवध्वाः ॥

सकोपकन्दर्पधनुष्प्रमुक्तशरौघहंकारगवा इवाभुः ॥ ३३ ॥

रहस्स्वित्यादि । क्षितिपालवध्वाः क्षितिं पालयति रक्षतीति क्षितिपालः सुमित्रनरेन्द्र-स्तस्य वधूर्नारी पद्मावती गज्ञानस्याः । रहस्सु एकान्तेषु । “तथा रहः रहश्चोर्षाशु चालिङ्ग” इत्यमरः । वस्त्राहरणे वस्त्रस्याहरणन्तयोक्तं तत्र वस्त्रावकृषणे । प्रवृत्ता जाताः । महासगर्जाः हासेन हसनैर्न सह वर्त्तन्त इति महामास्ने च ते गर्जा गर्जनानि च तथोक्ताः । सकोपकन्दर्पधनुष्प्रमुक्तशरौघहंकारगवा इव कोपेन सह वर्त्तन्त इति सकोपः स चासौ कन्दर्पश्च सकोपकन्दर्पस्तस्य धनुः चापं तस्मात्प्रमुच्यन्तेस्म प्रमुक्तास्ते शराश्चेति सकोपकन्दर्पधनुष्प्रमुक्तशरास्तेषामोघः समूहः परम्परा वा “ओघो वृन्दे पयोवेगे द्रुत-नृत्योपदेशयोः ओघः परम्परायां च” इति विश्वः । हूं करोतीति हूंकारोऽनुकरणध्वनिः सकोपकन्दर्पधनुष्प्रमुक्तशरौघस्य हूंकारस्तथोक्तास्ते च ते रवाश्च तथोक्ताः त इव । अभुः

अबकासुः । शोभन्तेस्म भा दीप्तौ लङ् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ३३ ॥

भा० अ०—एकान्त में पद्मावती रानी का वस्त्रापहरण करते समय जो हँसी के साथ कुछ शब्द हुए वे शरसमूहों को छोड़ते समय क्रुद्ध कामदेव के हुंकार के समान श्राव्य होते थे । ३३ ।

इति किलाभिमतौ सुरदम्पतीप्रतिमरूपकलागुणशालिनौ ॥

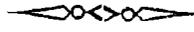
विविधकेलिरसैः कृतसम्मदैः सफलतां युवतामुपनिन्यतुः ॥ ३४ ॥

इतीत्यादि । इति एवं प्रकारेण । किल वार्त्तादौ । “किल शब्दस्तु वार्त्तायां सम्भाव्यानुनयार्थयोः” इति विश्वः । अभिमतौ अभिमन्येतेस्मेत्यभिमतौ अभीष्टावित्यर्थः । सुरदम्पती-प्रतिमरूपकलागुणशालिनौ सुराणां दम्पती जायापती सुरदम्पती रूपं सौन्दर्यं च कलाघाः कौशल्यञ्च गुणो नायकनायकीभावश्च रूपकलागुणाः सुरदम्पत्याः प्रतिमाः समानाश्च ते रूपकलागुणास्तथोक्तास्तैः शालिनौ समृद्धौ देवमिथुनसमानसौन्दर्यसंगीतादिकलाविशिष्टगुणप्रपूर्णावित्यर्थः । कृतसम्मदैः क्रियन्तेस्म कृतास्ते च ते सम्मदाश्च तथोक्तास्तैः विहितप्रमोदैः “प्रमोदा मोदसम्मदा” इत्यमरः । विविधकेलिरसैः विविधाश्च ताः केलयश्च विविधकेलयस्नासां रसास्तैः नानाविधक्रीडास्वादनैः । “रसो रागे विषे वीर्ये तिकादौ पारदे द्रवे रेतस्यास्वादने हेस्त्रि निर्यासेऽमृतशब्दयोः” इति वैजयन्ती । युवताम् यूनं भावः कृत्यम्वा युवता ताम् तरुणत्वम् । सफलताम् फलेन सह वर्त्तत इति सफलम् तस्य भावः सफलता ताम् सार्थकत्वम् । उपनिन्यतुः प्रापयतः स्म । णीञ् प्रापणे लिट् । इत्यर्हद्वासकृतकाव्यरत्नस्य टीकायां सुखवाञ्छिन्यां भगवज्जननीजनकवर्णना नाम द्वितीयः सर्गोऽयं समाप्तः ॥ ३४ ॥

भा० अ०—देवदम्पती के समान कला तथा गुण को धारण करने वाले सुमित्र महाराज और रानी पद्मावती जैसे अभीष्ट आदर्शभूत दम्पती ने अत्यन्त आनन्दप्रद विविध केलि क्रीडाओं से अपना यौवनकाल सार्थक किया । ३४ ।

इति द्वितीय सर्ग समाप्त

अथ तृतीयः सर्गः



एषैकदा तु नवकल्पलतेव भूयो भूयः प्रपन्नऋतुकाऽपि फलेन हीना ॥

आलोक्य केलिकलहंसवधूं मगर्भा दध्यौ धराधिपवधूरिति दीनचेताः ॥ १ ॥

एषेत्यादि । एकदा एकस्मिन् काले एकदा तु विशेषोऽस्ति । नवकल्पलतेव कल्पा चासौ लता च तथाका नवा चासौ कल्पलता च नवकल्पलता सेव । भूयो भूयः पुनः पुनः । प्रपन्नऋतुकापि प्रपन्नाः प्राप्ताः ऋतवः षडृतवो यस्याम्ना तथोक्ता पक्षे प्रपन्ना ऋतु-
रातवं यस्यास्सा तथाका “ऋतुः खोकुसुमे मासि वसन्तादिषु धारयोः” इति विश्वः । ऋत्य-
कः” इति हुस्वादेशान् अरादेशो न भवति । फलेन सन्तत्या शलाटुना च । हीना रहिता ।
एषा इयम् । धराधिपवधूः धराया अधिपो धराधिपस्तस्य भुमिन्नृपालस्य वधूर्बलुभा पद्मावती
देवी । सगर्भाम् गर्भेण सह वर्तन् इति सगर्भाम् ताम् गर्भिणीमित्यर्थः । केलिकलहंसवधूम् कल-
हंसस्य वधूस्तथोक्ता केल्याः कलहंसवधू सा तान् कोडाकादम्बस्त्रियम् । “कलहंसस्तु कादम्बे
राजहंसे नृपोत्तमे” इति विश्वः । आलोक्य वीक्ष्य । दीनचेताः दीनं चेतो यस्यास्सा तथोक्ता
अधीरचित्ता सती । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । दध्यौ चिन्तयामास । ध्यै चिन्तायां लिट् ॥ १ ॥

भा० अ०—नव कल्पलतासौ राज-महिषी पद्मावती बार बार ऋतुमती होती हुई भी
फलहीन होने के कारण एक दिन कोडासक कलहंसवधू का गर्भवती देखकर उदासीन-
चित्त हो सोचने लगी ॥१॥

आपुष्पितापि विफलेत्र रसालयष्टिः मेनेव नायकगतापि जयेन शून्या ॥

काले स्थितापि घनराजिर्वर्षणेन मिथ्या दधामि हतकुक्षिमदृष्टतोका ॥ २ ॥

आ इत्यादि । रसालयष्टिः इक्षुदण्डः “रसाल इक्षुः” इत्यमरः । पुष्पितापि पुष्पं संजातमस्य
इति पुष्पिता संजातकुसुमापि । विफलेन विनष्टं फलं यस्यास्सा विफाला सेव । सेना चमूः ।
नायकगतापि नेतृयुतापि नायकं गच्छतिस्म नायकगतापि । जयेन विजयेन । शून्येव रहितेव ।
घनराजिः मेघध्रेणिः काले प्रावृत्समये । स्थितापि तिष्ठतिस्म स्थितापि । अवर्षणेव न विद्यते
वर्षणं वृष्टिर्यस्यास्सा अवर्षणा सेव वृष्टिहीनेव । अहं पुष्पितापि ऋतुमत्यपि नायकगतापि
पतियुतापि काले वयसि स्थितापि अदृष्टतोका अदृष्टं तोकमपत्यं यया सा तथोक्ता
अप्राप्तनन्दना “तुक्तोक्तं चात्मजः प्रजा” इति धनञ्जयः । हतकुक्षिम् हन्यतेस्म हतः स चासौ

कुक्षिश्च तं दग्धोदरमित्यर्थः । मित्थया व्यर्थम् । दधामि धरामि दुधाञ् धारणे च लट् ।
आपीडायाम् । “आस्तु स्यात् कोपपीडयोः” इत्यमरः । उपमालंकारः ॥२॥

भा० आ०—पुष्पयुक्त होने पर भी फलहीन इक्षुदण्ड के समान, सेनापति से अधिष्ठित होने पर भी विजयशून्य सेना के तुल्य तथा वर्णा ऋतु में भी बिना वृष्टि की मेघमाला के समान मैंने व्यर्थ ही बिना सन्तान का यह उदर धारण किया है । अर्थात् ऋतुमती पतियुक्ता और युवती होने पर भी निस्सन्तान होकर निरर्थक सी हूँ ॥२॥

चिन्ताभगादिति वहन्नयनोदकान्तां कान्तोऽनुषद्य करपल्लवदत्तगण्डाम् ॥

व्यग्रीभवत्परिजनादवगम्य सर्वमाश्वामयत्युचितसूक्तिरमेन यावत् ॥३॥

चिन्तेत्यादि । कान्तः सुमित्रमहाराजः । इति उक्तगोत्या । चिन्ताभगात्
चिन्ताया भास्तथोक्तस्तस्यात् “रगोऽतिशयभारयोः” इति विश्वः । करपल्लवदत्तगण्डाम्
कर एव पल्लवः करपल्लवः करपल्लवे दत्तो गण्डो यथा सा तथोक्ता ताम् हस्तकिसलयनि-
विष्ट रूपोलाम् । वहन्नयनोदकाम् नयनयोरुदकं नयनोदकं वहतीति वहन् निस्सन्तं नयनोदकं
यस्यास्सा वहन्नयनोदका ताम् पद्मावतीम् । अनुषद्य अनुमदनं पूर्वं पश्चात्किञ्चिदिति
अनुषद्य “क्तोऽनञःप्यः” इति क्त्वा प्रत्ययस्य प्यादेशः समीपमाश्रित्य । व्यग्रीभवत्परिजनात्
प्रागव्यप्र इदानीं व्यग्री भवतीति व्यग्रीभवन् व्यग्रीभवश्चासौ परिजनश्चेति व्यग्रीभवत्-
परिजनस्तस्मात् । “व्यग्रा व्यासक्त आकुले” इत्यमरः । सर्वम् हंसवधूप्रेक्षणादिसकल-
वृत्तान्तम् । अवगम्य ज्ञात्वा । यावत् तन्मानमस्य यावत् कालमित्यर्थः । “यावन्नावच्छ साकल्ये
ऽवधौ मानेऽवधारणम्” इत्यमरः । उचितसूक्तिरमेन सुष्ठु उक्तिः सूक्तिरचिता चासौ सूक्ति-
श्चोचितसूक्तिस्तस्या रसस्तेन योग्यसुवचोऽमृतेन । “रसो रागे विषे वीर्ये तिकादौ पारदे द्रवे
रेतस्यास्वादाने हेमि निर्यामेऽमृतशब्दयोः” इति वैजयन्ती । आश्वासयति सान्त्वयति श्वस्
प्राणने णिजन्ताल्लिट् ॥ ३ ॥

भा०अ०—महाराज सुमित्र व्याकुल परिजनो से सभी वृत्तान्त जानकर चिन्ता की अधि-
कता से करकमल पर रूपोल रखले हुई अथु पूर्ण नेत्रवाली महारानी पद्मावती के पास
जाकर उन्हें अपनी सरल युक्तिपूर्ण मीठी २ वानों से समझाने लगे ॥३॥

तावत्तमम्बरतलादवतीर्य्य देव्यो मित्रं दिनेन मितया रमया समेतम् ॥

मुक्त्वा श्रिया सततसंगतया सनाथं भक्तुं सुमित्रमित्र दीधितयोऽधिजग्मुः । ४ ।

तावदित्यादि । तावत् तन्मानमस्य तावत् तदाश्वासनावसरे । देव्यः देवानां भार्य्या
देव्यो देवरमण्यः । अम्बरतलात् अम्बरस्य विहायसस्तलन्तथोक्तस्तस्मात् व्योमप्रदेशात् ।

अवतीर्य्य अवतरणं पूर्वं पश्चात्किञ्चिदित्यवतीर्य्य आपत्य । दिनेन दिवसेन त्रिंशदष्टिका-
मिरित्यर्थः । मितया मीयतेस्म मितया तया प्रमितया । रमया लक्ष्म्या । समेतम् संयुतम् ।
मित्रम् सूर्य्यम् सलायम्वा । मुक्त्वा त्यक्त्वा । सततसंगतया अनवरतयुतया । श्रिया सम्पदा ।
सनाथम् युक्तम् । तं सुमित्रम् सुष्टु मित्रः सुमित्रस्तम् विशिष्टरविं शोभनसुहृदं सुमित्र-
महाराजम्वा “मित्रं सुहृदि मित्रोऽर्कः” इति विश्वः । भक्तुम् भजनाय भक्तुम् सेवितुम् ।
दीधितय इव घृतय इव । अधिजग्मुः अधिगच्छन्तिस्म । गम्लृगतौ लिट् । सहस्रकिरणस्य
किरणा दिनमात्रप्रमिताश्रितत्वात् तं त्यक्त्वा सुमित्रनरेन्द्रं श्रयन्ति वंतिदैव्यः उपजग्म-
रितिभावः । उत्प्रेक्षालंकारः ॥४॥

भा० अ०—इतनेही में आकाश से देवांगनायें मानों किरणों के समान केवल दिन भर साथ देने वाले मित्र (सूर्य) को छोड़कर सदा सहचरी लक्ष्मी से युक्त सुमित्र महाराज के निकट आईं ॥४॥

भूपोऽथजीवजयनन्दपदाम्पदास्यास्ताः प्राञ्जलीर्गभनिरोक्ष्य विलक्षचक्षुः ।
प्राप्तासनेषु विनिवेश्य मुदेदमृचे प्राप्ताःकिमत्र सुरलोकसुखैकसाराः ॥५॥

भूपइत्यादि । अथ अनन्तरे । विलक्षचक्षुः विलक्षे चक्षुषी यस्य स विलक्षचक्षु विचि-
त्रोपेतनयनः । “विलक्षो विस्मयान्वितः” इत्यमरः । भूपः भुवम्पाति रक्षतीति भूपः सुमित्र-
नरेन्द्रः । जीवजयनन्दपदास्पदास्याः जीव जीवनात् जीवप्राणधारणे लाट् जय सर्वो-
त्कर्षेण वर्त्तस्व जिज्ञि अभिभवे लाट् नन्द समृद्धो भव दु नदु समृद्धो लाट् “उदित्वात्”
नम् जीवेति जयेति नन्देति पदानि जीवजयनन्दपदानि तेषामास्पदं निलयः आस्यंमुखं
यासान्तास्तथोक्ताः । जीवेत्याद्याशीर्वादशब्दाधारास्याः । प्राञ्जलीः प्रकृष्टोऽञ्जलि-
र्यासान्ता कृतकरकुडमलाः । “तौ युवतावञ्जलिः पुमान्” इत्यमरः । ताः देवकामिनोः ।
अभिनिरोक्ष्य अवलोक्य । प्राप्तासनेषु प्राप्तानि च तान्यासनानि च प्राप्तासनानि
तेषु दत्तोचितासनेषु । विनिवेश्य उपस्थाप्य । सुरलोकसुखैकसाराः सुराणां लोकस्सुर-
लोकस्तस्य सुखमानन्दस्तेनैका मुख्यास्ताश्च तास्साराश्च तथोक्ताः स्वर्गसौख्य-
केवलनिर्यासाः यूयम् । “एके मुख्यान्यकेवलाः । सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये
ह्योषं वरे त्रिषु” इत्यमरः । अत्र अस्मिन्नत्र इह भुवि । किम् किं कारणम् । प्राप्ताः
प्राप्नुवन्तिस्म प्राप्ताः आयाताः । इति एवं एतद्वचः । मुदा हर्षेण । ऊचे ब्रूतेस्म ब्रूञ्
व्यक्ततायां चाञ्चि लिट् । “अस्तिब्रुवांभूवचौ” इति वचादेशः “श्चयादिस्ववच् किति”
इत्यनेन यत्र इक् ॥ ५ ॥

भा० अ०—चिरंजीवी हो, जयशाली हों तथा प्रसन्न रहो इत्यादि वचनों को उच्चारण

करती हाथ जोड़े हुईं उन देवांगनाओं को आश्चर्य-भरी दृष्टि से देख कर तथा समुचित आसनों पर बैठ कर महाराज सुमित्र ने उनसे पूछा कि स्वर्गसुख की सारभूत आप यहाँ कैसे आयीं ॥५॥

आकर्ण्य वाचमिति तस्य सुरांगनाभिः श्रीरीहिता कथयदागमहेतुमेवम् ॥
मन्दस्मितद्विगुणमंजुलवाक्प्रसूनैर्वत्स्यत्फलं क्षितिपतेरिव सूचयन्ती ॥६॥

आकर्ण्येत्यादि । तस्य सुमित्रराजस्य । इति एवम् । वाच र् वाणोम् । आकर्ण्य श्रुत्वा । सुरांगनाभिः सुरांगनामंगनास्नयाकास्ताभिः सुरसामन्तिनीभिः । ईरिता ईर्यतेस्म ईरिता प्रेरिता । श्राः श्रादेवो । मन्दस्मितद्विगुणमंजुलवाक्प्रसूनैः मन्दश्च तत् स्मितश्च मन्दस्मितम् द्वौ गुणा येषान्तानि द्विगुणानि मन्दस्मितेनेषद्वसनेन द्विगुणानि तथोक्तानि वाच एव प्रसूनानि कुसुमानि तथाक्तानि "प्रसूनं पुष्पक उयो" इत्यमरः । मंजुलानि मनो-
ज्ञानि च तानि वाक्प्रसूनानि च तथोक्तानि "मनाज् मंजु मंजुलम्" इत्यमरः । मन्दस्मित-
द्विगुणानि च तानि मंजुलवाक्प्रसूनानि च तथोक्तानि मन्दस्मितानि वाक्प्रसूनानि च तानि मिलितत्वात् द्विगुणान्तीत्यस्यैः । वत्स्यत्कठं वत्स्यतीति वत्स्यत् भविष्यत् तच्च तत्फलं च तथाक्तम् । क्षितिपते क्षित्याः पतिः तस्य सुमित्रावतादस्य । सूचयन्तीव सूचयतीति सूचयन्ती संव --लता यथा प्रसूनैर्भविष्यत् फलन्तथेयमपि ज्ञापयन्तीव । आगमहेतुम् आग-
मनमागमस्तस्य हेतुस्तम् निजागतनिमित्तम् । एवम् वक्ष्यमाणप्रकारेण । अकथयत् अत्रवीत् ।
कथ वाक्यप्रबन्धे लङ् ॥६॥

भा० अ०—सुमित्र महाराज की यह बात सुनकर तथा और देवांगनाओं से प्रेरित होकर श्रादेवी ने मन्दहास्य से द्विगुणित मधुर भाषण रूप कुसुम-वर्षण के द्वारा मानों राजा का भावो फल कहती हुई इस प्रकार अपने आने का कारण कहा ॥६॥

भूपार्य्यखण्ड इह भूविदितेऽङ्गदेशे चम्पापुरं नृपवरो हरिवर्मनामा ॥

आसीद्यशःकवचित्तावनिरस्रवागमंज्ञावितारिनृपतद्वनितावितानः ॥७॥

भूप इत्यादि । भूप भो सुमित्रनृप । इह अस्मिन्नह । आर्य्यखण्डे आर्य्याणां खण्डं भूभाग आर्य्यखण्डन्तस्मिन् धर्मखण्डे "मितं सकलखण्डे वा" इत्यमरः । भूविदिते भुवि विदितस्त-
स्मिन् भुवनप्रसिद्धे "बुद्धं बुधितं मणितं विदितम्" इत्यमरः । अंगदेशे अंगश्चासौ देशश्च तथोक्तस्तस्मिन् अंग इति वा देशस्तस्मिन् । चम्पापुरं चम्पेति पुरन्तस्मिन् । यशः-
कवचित्तावतिः यशसा कीर्त्या कवचिता वर्मिता तथोक्ता सावनिः क्षितिर्त्यस्य स तथोक्तः कीर्त्तित्यामभूतलः । अस्रवारासप्लावितारिनृपतद्वनितावितानः अस्रं रक्तम-

श्रु च “अस्त्रमश्रुणि शोषिने” इति विश्वः । अस्त्रञ्चास्त्रञ्चेति अस्त्रे “सुप्यसंख्ये” इत्ये-
कशेषः अस्त्रयोर्धारा तथोक्ता अग्यो गिप इश्च ते नृपाश्च तयोक्तस्तेषां वनितास्तद्वनिता अग्नि-
नृपाश्च तद्वनिताश्चेत्यग्निनृपतद्वनिताः तामां वितानं समूहः “वितानो यज्ञविस्तारोल्लो-
चेषु वृत्तभेदावसरयोः” इति विश्वः । अस्त्रधारया रुधिरधारया वाष्पाम्बुधारया च संश्लेषितं
सार्द्धीकृतमग्निनृपतद्वनितावितानं यस्य स तथोक्तः रक्तसार्द्धीकृतशत्रुनिवहः अश्रुसार्द्धीकृत-
तद्वनितानिवहश्चेत्यर्थः । हरिवर्मनामा हरिवर्म नाम यस्यास्मौ हरिवर्मनामा । नृपवरः
नृपेषु वरो नृपवरो नृपश्रेष्ठ इत्यर्थः । आसीन् अभवत् अम भुवि लङ् । अतिशयालंकारः ॥७॥

भा० अ०—हे राजन् ! इस लोक-प्रसिद्ध आर्यखण्ड के अंनदेश के अन्तर्गत चंपापुर
नगर में यश से भूमण्डल को आच्छादित किये हुआ तथा शत्रुभूत राजाओं की स्त्रियों को
उनकी अश्रु धारा से सिक्त करनेवाला एक नृपश्रेष्ठ हरिवर्मा नाम का राजा था ॥७॥

ज्ञात्वा जिनाञ्जनदुःस्वप्नन्तवीर्यार्थिषोऽवगीतभवभोगशरीरगगः ॥

मत्वा तृणाय निजराज्यपदं मनीषी तत्पादयोः किल बभार जिनेन्द्रमुद्राम् ॥८॥

ज्ञात्वेत्यादि । मनीषी कंविदः । “वीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः” इत्यमरः । एष अयम् हरिवर्मा ।
अनन्तवीर्यान् अनन्तमनवसानं वीर्यं यस्य स तस्मान् । जिनात् दुर्जयकर्मठकर्मरतीन्
जयति निमूलं यतीति जिनस्तस्मात् । जनदुःखम् जननस्य जन्मनो दुःखम् जननदुःखं संसार-
जननदुःखम् । ज्ञात्वा विज्ञाय । अवगीतभवभोगशरीरगगः भवश्च भोगश्च शरीरञ्चेति
भवभोगशरीराणि तेषां तेषु वा रागो विरागस्तथोक्तः अवगीतः स्फुटं गर्हितो भवभोग-
शरीररागो येन स तथोक्तः “अवगीतः क्यातगर्हणः” इत्यमरः । निरस्तसंसारभोगशरीरानुगम
इत्यर्थः “भावो भवश्च संसारः संवरणं च संसृतिः । तत्त्वज्ञश्चतुरो धीरस्तपजेज्जन्माजवंजवम्”
इति धनंजयः । निजराज्यपदम् राज्ञो भावः कुन्त्यम्वा राज्यन्तस्य पदं राज्यपदं निजस्य स्वस्य
राज्यपदं तथोक्तम् । तृणाय मत्वा तृणं मत्वा तृणादप्यवमत्येत्यर्थः । “मन्यस्याका-
कादिषु” इत्यादि कर्मणि चतुर्थी । तत्पादयोः तस्य पादौ तत्पादौ तयोस्तत्पादयोः अनन्तवी-
र्यजिनस्य पादयोः । जिनेन्द्रमुद्राम् जिनानामिन्द्रस्तस्याप्रनत्तादिकक्षीणकषायवासानैकदेश-
जिनानामीशस्यार्हतो मुद्रा तथोक्ताताम् दिगम्बरमुद्राम् । बभार किल दध्ने किल दध्नावित्यर्थः ।
भृश भरणे लिट् । अत्र विरागस्य भवभोगशरीरभेदात्त्रैविध्यमिष्यते ॥ ८ ॥

भा० अ०—मनस्वी हरिवर्मा राजा ने अनन्तवीर्य मुनि से जन्मजन्य दुखों को जान
कर मोहमायादि शारीरिक विषयवासना को दूर कर तथा राज्य को तुच्छ समझ कर
उक्त मुनिमहाराज की सेवा में जिनदीक्षा धारण कर ली ॥८॥

सन्त्यक्तसर्वविषयोऽप्यवरोधमुक्तोऽप्येकाक्षरक्षणपरोऽप्यनिशं यतीशः ॥

सम्भक्तसर्वविषयोऽजनि सावरोधः पञ्चाक्षनिग्रहपरः परमेष चित्रम् ॥९॥

सन्त्यक्तेत्यादि । एषः अयम् हरिवर्मा । सन्त्यक्तसर्वविषयोऽपि सर्वं च ते विषयाश्च सर्वविषयाः सन्त्यक्ताः सर्वविषया येन स तथोक्तः सर्वपञ्चैन्द्रियविषयरहितोऽपि । सम्भक्तसर्वविषयः सम्भक्ताः सर्वविषया येन स तथोक्तः संसेवितविश्वजनपदः “विषयः स्यादिन्द्रियार्थं देशे जनपदेऽपि च” इति विश्वः । अवरोधमुक्तोऽपि अवरोधस्समवरोधस्तेन मुक्तस्त्यक्तोऽपि अन्तःपुररहितोऽपि । सावरोधः अवरोधेन सह वर्त्तत इति सावरोधः दुष्कर्मसम्भरनहितः । “अवरोधस्तिरोधाने शुद्धान्ते राजवेदमनि” इति विश्वः । एकाक्षरक्षणपरोऽपि एकमक्षमिन्द्रियं येषान्ते तथोक्ता एकेन्द्रियप्राणिनस्तेषां रक्षणन्तथोक्तं तस्मिन् परस्त्पर एकेन्द्रियजीवपालनशक्तोऽपि । पञ्चाक्षनिग्रहपरः पञ्चै च तान्यक्षाणि च पञ्चाक्षाणि तेषां स्पर्शनादीनां निग्रहः स्वविषयाम्चरणं तस्मिन् परस्त्परः । “अक्ष कर्षे तुषे चक्रे शकटे व्यवहारयोः । आत्मज्ञे पाशके चाक्षं तुष्यमौवर्च्चलेन्द्रिये” इति विश्वः । परं केवलम् । “परोऽरिः परमात्मा च केवले परमव्ययम्” इति भास्करः । अजनि अजायत । जनैड् प्रादुर्भावे कर्त्तरि लुङ् ॥ चित्रम् अद्भुतम् । अत्र सन्त्यक्तसर्वविषयस्य सम्भक्तसर्वविषयत्वम् अवरोधमुक्तस्य सावरोधत्वम् एकाक्षरक्षणपरस्य पञ्चाक्षनिग्रहत्वं च विरुद्धम् तत्परिहारोऽर्थान्तरेण निश्चितमिति भावः । विरोधाभासालंकारः ॥ ९ ॥

भा० अ०—आश्चर्य की बात है कि, उक्त मुनिमहाराज विषयों को त्यागकर भी सभी विषयों (संसार के सभी जनपदों) की सेवा (भलाई) करने वाले, अवरोध (अन्तःपुर) से मुक्त होने पर भी अवरोध (दुष्कर्मों का सम्भर) के साथ रहने वाले तथा एकाक्ष (एकेन्द्रियजीव) के रक्षक होते हुए भी पंचाक्ष (पंचेन्द्रियों) को दमन करनेवाले थे ॥९॥

कुर्वंस्तपो जिननिरूपितलक्ष्मलक्ष्मीभूतं प्रभूतविनयो विविधं मुनीन्द्रः ॥

एकादशांगकुशलोऽजनि हेतुयुग्मसामग्र्यसंजनिततीर्थकरत्वपुरायः । १० ।

कुर्वन्नित्यादि । जिननिरूपितलक्ष्मलक्ष्मीभूतम् जिनेन निरूपितं जिननिरूपितं तच्च तल्लक्ष्म च जिननिरूपितलक्ष्म प्रागलक्ष्मिदानौ लक्षं भवतिस्म लक्ष्मीभूतम् “चिह्नं लक्ष्म च लक्षणं । लक्षं लक्ष्यञ्च” इत्युभयत्राप्यमरः । जिननिरूपितलक्ष्मणो लक्ष्मीभूतः तथोक्तम् जिनप्रणीतचरणानुयागलक्षणस्य लक्ष्यज्ञातमित्यर्थः । विविधम् नामाप्रकारम् । तपः इच्छानितोद्यस्तप इति पारिव्राज्यम् । कुर्वन् करोतीति कुर्वन् । प्रभूतविनयः प्रभूता बहुलो विनयो यस्य स तथोक्तः प्रचुरज्ञानादिविनयवान् । “प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यम्” इत्यमरः । मुनीन्द्रः मुनीना-

मिन्द्रो मुनीन्द्रो मुनिध्रष्ट इत्यर्थः । एकादशांगकुशलः एकेनाधिका दश एकादश
तानि च तान्यंगानि चैकादशांगानि आचारांगादीनि तेषु कुशलः प्राज्ञस्तथोक्त एकादशांग-
श्रुतवेदीत्यर्थः । हेतुयुग्मसामग्र्यसंजनिततोर्यकरत्वपुण्यः हेत्वोर्बाह्याभ्यन्तरसाधनयो-
र्युग्मं द्रव्यं तस्य सप्रग्रस्य भावः सामग्र्यं साकलयन्तथोक्तम् तेन संजनितं समुद्भूतं
तत्राद्यो हेतुर्दशनविशुद्ध्यादिग्निरस्तु केवलिनः श्रुतकेवलिनो वा सन्निधिः तीर्थं करोतीति
तीर्थकरस्तस्य भावस्तीर्थकरत्वम् तच्च तत्पुण्यञ्च तथाक्तम् तीर्थकरत्वस्य नामकर्मत्वार्थः ।
“तीर्थं प्रवचने पात्रे लब्धाम्नाये विदाम्वरे । पुण्यारण्ये जलोत्तारे महासत्ये महामुनौ” इति
धर्मजयः । हेतुयुग्मसामग्र्यसंजनितं तीर्थकरत्वपुण्यं यस्य स तथोक्तः । अजनि अजा-
यत । जनैर्द्र प्रादुर्भावे कर्त्तरि लुङ् ॥ १० ॥

भा० अ०—जिन-प्रणीत चरणानुयोग की लक्ष्यभूत अनेक प्रकार की तपस्या करते हुए
एकदशांग श्रुत के मर्मज्ञ मुनि महाराज ने अन्तरंग और बाह्यरंग साधनों की अधिकता से
तीर्थङ्कर नाम कर्म का बन्ध किया ॥ १० ॥

अन्ते समाधिविधिसात्कृतदेहभारः स्वःप्राणतं तदभिधानविमानमध्ये ॥

स प्राणतेन्द्र इति सेन्द्रपतिर्बभूव लोकेषु तप्तपसां किमसाध्यमस्ति । ११ ।

अन्त इत्यादि । सः हरिवर्मा । अन्ते आयुर्वसाने । समाधिविधिनात्कृतदेहभारः
समाधेर्विधिस्समाधिविधिः समाधिविधावश्रोनं क्रियतेस्मेति समाधिविधिसात्कृतः
देह एव भारो देहभारः रूपकः समाधिविधिसात्कृता देहभारः येन स तथाक्तः तत्राधानार्थं
सात्प्रत्ययः समाधिविधानेन स्वायत्ताकृतशरीरभार इत्यर्थः । “समाधिर्नियमे ध्याने नीचाके
च समर्थने” इति विश्वः । प्राणतं प्राणतनाम्नि । स्वः स्वर्गः । “स्वरव्ययम्” इत्यभिधानात्
सर्वत्र सदृशं रूपम् । तदभिधानविमानमध्ये तद्देवाभिधानं यस्य तत् तच्च तद्विमानञ्च तदभि-
धानविमानं तस्य मध्यं तदभिधानविमानमध्यम् तस्मिन् प्राणतनामधेयावमानमध्य
इत्यर्थः । प्राणतेन्द्र इति प्राणतस्येन्द्रः प्राणतेन्द्रः स इति । सेन्द्रपतिरिति सेन्द्राणां देवाना-
म्पतिः सेन्द्रपतिः सुरेश्वर इत्यर्थः “निलिम्पाः स्वर्गिणः सेन्द्राः” इत्यभिधानात् । बभूव जह्ने
भूसत्तायां लिङ् । तथाहि लोकेषु जगत्सु । तप्तपसाम् तप्यतेस्मेति तप्तं तप्तं तपो येषा-
न्ते तप्तपसस्तेषान्ततपसां योगीन्द्राणाम् । असाध्यम् न साध्यमसाध्यमप्राप्यम् ।
किमस्ति न किमपीत्यर्थः ॥ अर्थान्तरन्यासः ॥ ११ ॥

भा० अ०—अन्त में वे मुनिराज समाधिमरण से शरीर त्याग कर प्राणत-स्वर्ग के
प्राणत नामवाले विमान में प्राणतेन्द्र नाम के देवेन्द्र हुए । उत्तम तपस्वियों के लिये संसार
में कोई वस्तु अलभ्य नहीं है ॥ ११ ॥

मासानतीत्य पडयं गुडनिर्विशेषीभूतेतविंशतिनदीपतिसम्मितायुः ॥

सूनुर्भविष्यति च तंऽतुलपुण्यगणेशोस्तीर्थस्य विंशतिनमो भविता च कर्त्ता ॥१२

मासान्त्यादि । गुडनिर्विशेषीभूतेतविंशतिनदीपतिसम्मितायुः प्रागनिर्विशेषमिदानीं निर्विशेषम्भवतिस्मेत निर्विशेषीभूतम् सद्दशमित्यर्थः गुडस्यक्षुपाकस्य निर्विशेषीभूतं तथोक्तम् एतिस्म इतं गतं नदीनाम्पतयो नदीपतयः नदीपतय इव नदीपतयो विंशति नदीपतयस्तथोक्तास्तैस्सम्मितां प्रमितं विंशतिनदीपतिसम्मितां गुडनिर्विशेषीभूतञ्च तदितञ्च तथोक्तम् तच्च विंशतिनदीपतिसम्मितामायुर्ग्रहस्य स तथोक्तः गुडवत्सुख-प्रदत्वेनैव गलितविंशतिमागरोपमायुष्मानित्यर्थः । अयं हरिचर्मचरः प्राणतेन्द्रः । षण्मासान् वर्षार्धम् । अतीत्य अत्ययनं पूर्वं पश्चात्किञ्चिदित्यतीत्य अपसार्य । विंशति-तमः विंशतेः पूर्णां विंशतिनमः मुनिसुव्रतजिनः । तीर्थस्य धर्मस्य प्रवचनस्य वा कर्त्ता प्रभुः । भविता भविष्यतीति भविता । तृप्तयः भविष्यन्नित्यर्थः । अतुलपुण्यराशेः न विद्यते तुला यस्य सोऽतुलः पुण्यानां राशिः पुण्यराशिरतुलः पुण्यराशिर्यस्य स तथोक्तस्तस्य अनुपमेयसुकृतांत्करस्य अतुलः पुण्यराशिर्यस्मात्तस्येति तीर्थस्य वा विशेषणम् । ते तव । सूनुः नन्दनः । भविष्यति जनिष्यते । भूसन्तायां लृट् ॥ १२ ॥

भा० अ०—इक्षुरस-पाक के स्वादुतुल्य सुखपूर्वक व्यतीत हाती हुई बीस सागर प्रमाण की आयुवाले वे प्राणतेन्द्र, छः मास के बाद से तुम्हारे जैसे पुण्यात्माके घर अवतीर्ण होकर मुनिसुव्रत नाम के बीसवें तीर्थङ्कर होंगे ॥ १२ ॥

तस्माद्दयं जिनपतेर्भुवनैकचन्द्रपादारविन्दयुगलस्य भविष्यतोऽग्रे ॥

दास्यं विपुण्यजनदुर्लभमद्ययाता सातुर्विधातुममरेश्वरशाशनेन ॥१३॥

तस्मादित्यादि । तस्मात् कारणान् । भुवनैकचन्द्रपादारविन्दयुगलस्य पादावेवारविन्दे पादारविन्दे तथोर्युगलं तथोक्तम् भुवने एकचन्द्र भुवनैकचन्द्र भुवनैकचन्द्र पादारविन्दयुगलं यस्य स तस्य । अग्रे पुरः । भविष्यतः भविष्यतीति भविष्यन् तस्य । जिनपतेः जिनश्चासौपतिश्च तथोक्तः जिनानां पतिवां तस्य मुनिसुव्रतस्वामिनः । मातुः जनन्याः पद्मावत्याः । विपुण्यजन-दुर्लभम् विनष्टं पुण्यं येषान्ते विपुण्याः विपुण्याश्चते जनाश्च तथोक्ताः दुःखेन महताकष्टेन लभ्यन् इति दुर्लभम् सुकृतिविहितलोकालभ्यम् । दास्यम् दासस्य भावो दास्यम् किं करत्वम्-अमरेश्वरशासनेन अमराणामीश्वरस्तथोक्तस्तस्य शासनं तेन देवेन्द्राज्ञया । “शासनं राज-दत्तोर्व्यां लेवाहा शास्त्रशास्त्रिपु” इति विश्वः । विधातुम् विधानाय विधातुं कर्त्तुम् । वयम् श्रयादयोऽमरस्त्रियः । अद्य अस्मिन् काले अद्य दानीम् । याताः आगताः ॥ १३ ॥

भा० अ० —इसीलिये इन्द्रमहाराज की आज्ञा से हम सब आज उस भावी तीर्थङ्कर महाराज की पूज्य माता की सेवा—जो बड़े बड़े पुण्यात्माओं को भी दुर्लभ है करने को आई हैं ॥ १३ ॥

इत्थं तदीयमुखचन्द्रमसस्ममुद्यद्वाक्चन्द्रिकाम् श्रुतिपुटेन निपीय सद्यः ॥
चेतस्यवाप चपलेक्षणया समेता भूपश्चक्रोर् इव भूरितरप्रमोदम् ॥१४॥

इत्थमित्यादि । चपलेक्षणया चपले चञ्चले ईक्षणो यस्यास्त्वा तथा चञ्चललोचनया पञ्चावत्या चकार्या च । समेतः समेतस्म समेतः सदितः । भूपः सुमित्रनरेश्वरः । इत्थम् अनेन प्रकारेणेत्यम् उक्तरीत्या । तदीयमुखचन्द्रमसः तस्याः श्रोत्रेण इदं तदीयं “दोशु” इति छ प्रत्ययः । तच्च तत्तदीयमुखञ्च तदेवचन्द्रमास्तस्मात् । “चन्द्रमाश्चन्द्र इन्दुः” इत्यमरः । समुद्यद्वाक्चन्द्रिकाम् समुदेतीति समुद्यती वागेव चन्द्रिका वाचन्द्रिका समुद्यतो चासौ वाचन्द्रिका च तथोक्ता ताम् समुत्पद्यमानज्यात्स्नाम् रूपकः । चक्रोर् इव चक्रोर् पक्षी इव उपमा । श्रुतिपुटेन श्रुतिरेवपुटं तथोक्तनेन श्रावरात्रं ण । निपीय पीत्वा । सद्यः तस्मिन् काले सद्यः । चेतास चित्तं । भूरितरप्रमोदम् प्रकृत्यो भूर्भूम्रितरः भूरितरश्चासौ प्रमोदश्च तथोक्तस्तम् बहुतरतोपम् । अयाप ययौ आप्लव्यातीति ॥१४॥

भा० अ० —चंचल नेत्रवाली चक्रोर् रूप पञ्चावती से युक्त चक्रोर् के समान सुमित्र महाराजाने उन देवांगनाओं के मुखरूप चन्द्रमा से निकली हुई वचन रूपा चन्द्रिका को पान कर तत्क्षण अपने चित्तमें बड़ी प्रसन्नता प्राप्त की ॥ १४ ॥

भूमीपतेर्नुमताभिश्चामराणां भ्रूवल्लरीविलसनेन विलासिकाभिः ॥
भूपालमौलिर्दायिता भृतस्सम्प्रदाभिर्भूलोकमेव्यचरणाम्बुहृद्वा सिपंवे ॥१५॥

भूमीपतेरित्यादि । अथ अनन्तरे । भूमीपतेः भूम्याः पृथिव्याः पतिः स्वामी तस्य सुमित्र-भूभुजः । भ्रूवल्लरीविलसनेन भ्रुवावेव वल्लर्यपौ मञ्जरीयौ भ्रूवल्लर्यौ तथाविलसनं तेन भ्रूविक्षेपेण । अनुमताभिः अनुमन्यन्तस्मेत्यनुमतास्ताभिः सम्मताभिर्भ्रुभंगेन तत्से-वार्थप्रेरिताभिरित्यर्थः । भृतस्सम्प्रदाभिः भृतस्सम्प्रदो याभिस्ताभिः धृतहर्षाभिः । अमराणाम् देवानाम् । विलासिकाभिः विलासिन्य एव विलासिकास्ताभिः सीमन्तिनीभिः । भूलोकसेव्य-चरणाम्बुहृद्वा भुवि विशपाता लोका भूलोकास्नैः सेव्ये चरणाम्बुहृद्दे यस्यास्त्वा तथोक्ता भूज-नाराध्यपादकमला । भूपालमौलिर्दायिता भुवं पालयन्ति रक्षन्तीति भूपालाः मौलिश्च मौलिः श्रेष्ठः भूपालानां मौलिस्तथोक्तस्त्वस्य सुमित्रनरेश्वरस्य दायिता पञ्चावती देवी तथोक्ता । सिपंवे सेव्यतेस्म पवड् संवने लिट् ॥ १५ ॥

भा० अ० — इसके बाद सुमित्र महाराज की आँखों के इशारे से अनुमत तथा अत्यन्त प्रसन्न वे देवांगनार्ये संसार के सभी लोगों के पूजित चरण कमलवाली राजमहिषी पद्मावती की सेवा करने लगीं ॥ १५ ॥

साधः कयाऽपि विधृतस्य सुरेन्द्रनीलच्छत्रस्य चारुवलयस्य महौषधीव ॥
रेजे प्रकारण्डरुचिरस्य सुरद्रुमस्य धारान्तरस्य च घनस्य तटिल्लतेव ॥ १६ ॥

संत्यादि । कयाऽपि देववनितयाऽपि । विधृतस्य भृतस्य । चारुवलयस्य चारु सुन्दरं वलयं वृत्तं यस्य तथोक्तस्य । सुरेन्द्रनीलच्छत्रस्य सुरेन्द्रनीलेन इन्द्रनीलरत्नेन निर्मितं छत्रमातपत्रं तथोक्तस्य । अधः अत्रोभागे । सा पद्मावती देवी । प्रकारण्डरुचिरस्य प्रकाण्डैः शाखाभिः रुचिरा मनोरमस्तथोक्तस्य “प्रकाण्डो विटपे शस्ते मूलस्कन्धान्तरे तरो” इति विश्वः । सुरद्रुमस्य सुराणां द्रुमस्तथोक्तस्य कल्पवृक्षस्य । अधः अधस्तले । महौषधीव महती चासावौषधी च तथाका संव संजीवनवत् । धारान्तरस्य धाराणां जलधारणामन्तरं विद्यमानो धारान्तरस्तस्य आसारमध्यगतस्य । घनस्य मेघस्य । अधः अधरदेशे । तटिल्लतेव तटितो लता तटिदेव लता वा सा तथोक्ता सेव विद्युद्बल्लिव । रेजे बभौ राज्ञु दोप्तौ लिट् । राज्ञी महौषधी तटिल्लता च दीप्राङ्गत्वात् मिथः समान इति भावः । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ १६ ॥

भा० अ० — किसी देवांगना से लगायं गये सुन्दर वृत्ताकार तथा इन्द्रनील मणि-जटित छत्र के नीचे पद्मावती शाखोपशाखा से सुमनोहर कल्पवृक्ष के नीचे संजीवनौषधी के समान शोभती थी ॥ १६ ॥

दिव्याङ्गनावधुतचामरलालिताङ्गा तिष्ठन्त्यसावरुचदुन्नतरत्नपीठे ॥

लक्ष्मी सुधाब्धिचटुलोर्मिहतेव शेषे चान्द्रीकलेव शरदभ्रचितोदयाद्रौ ॥ १७ ॥

दिव्याङ्गनेत्यादि । उन्नतरत्नपीठे रत्नैर्निर्मितं पीठं रत्नपीठं उन्नतञ्च तद्रत्नपीठञ्च तथोक्तन्तस्मिन् उत्तुङ्गमाणिक्यासने । तिष्ठन्ती तिष्ठतीति तिष्ठन्ती । दिव्याङ्गनावधुतचामरलालिताङ्गा दिधि भवा दिव्यास्ताश्च ता अङ्गनाश्चेति दिव्याङ्गनास्ताभिरवधुतानि च तानि चामराणि च दिव्याङ्गनावधुतचामराणि तैर्लालितमङ्गं यस्यास्ता तथोक्ता देवस्त्रीसुक्ष्मप्रकीर्णकशोभिताङ्गा । “अङ्गं गात्रान्तिकापायप्रतीकेष्वप्रधानकं” इति विश्वः । असौ पद्मावती । शेषे महाशेषे “शेषोन्तो वासुकिस्तु सर्पराजाः” इत्यमरः । सुधाब्धिचटुलोर्मिहता सुधारूपोऽब्धिः सुधाब्धिश्चटुलाश्चता उर्मयस्तथोक्ताः सुधाब्धिश्चटुलोर्मयस्ताभिर्हता तथोक्ता क्षीरोदधिचञ्चलतरङ्गप्रोता । लक्ष्मीरिव श्रीरिव । उदयाद्रौ उदयस्याद्रिखुदयाद्रिस्तस्मिन् पूर्वाचले । शरदभ्रचिता शरदोऽभ्रं शरदभ्रं तेन चीयतेस्मेति चिता शरत्कलाभ्राश्रिता । चान्द्री चन्द्रस्येयं

चान्द्री सुधासम्बधिनी । कलेव कलावत् । “कला स्यान्मूलविवृद्धौ शिल्पादावशमात्रके । षोडशांशे च चन्द्रस्य कलनाकालयोः कला” इति विश्वः । अरुचत् रोचतेस्म । रुच् दीप्तौ लुङ् उत्प्रेक्षालंकारः ।

भा० अ०—उन्नत रत्नजटित सिंहासन पर बैठी हुई तथा देवांगनाओं से लगाये गये छत्र से समुद्रासित शरीरवाली पद्मावती शेष नाग के ऊपर क्षीरसमुद्र की चंचल तरंगों की उछाल खाती हुई लक्ष्मी के समान और उदयाचल पर्वत पर शरत्कालीन निर्मलाकांश में उगी हुई चाँदनी की सी शोभती थी ॥ १७ ॥

सा कुंकुमेन परया कुचयोर्विलिप्ता कर्पूरकलमतिलका निटिले चकासे ॥

सम्बद्धकुन्तलभरा शिरसि द्विरेफव्याप्तेव पल्लवितपुष्पितकल्पवल्ली ॥ १८ ॥

सेत्यादि । परया अन्यया देवस्त्रिया । कुचयोः स्तनयोः । कुंकुमेन काश्मीरेण । विलिप्ता विलिप्यतेस्मेति विलिप्ता । निटिले ललाटे । कर्पूरकलमतिलका कर्पूरेणकलमं तिलकं यस्यास्सा तथोक्ता घनसाररचिततिलका । शिरसि मस्तके । सम्बद्धकुन्तलभरा कुन्तलानां भरस्तथोक्तः सम्बध्यतेस्म सम्बद्धः सम्बद्धः कुन्तलभरो यस्यास्सा तथोक्ता नन्दितशिरोरुहातिशया । “भरोऽतिशयभारयो” इति नानार्थरत्नमालायाम् । सा पद्मावती देवी । द्विरेफव्याप्ता द्विरेफैर्व्याप्ता भ्रमरैराश्रिता । पल्लवितपुष्पितकल्पवल्ली पल्लवः संजानां ऽस्या इति पल्लविता पुष्पं संजातमस्या इति पुष्पिता सा चासौ कल्पवल्ली च पुष्पितकल्पवल्ली पल्लविता चासौ पुष्पितकल्पवल्ली च तथाका कुंकुमलेपनेन पल्लवितेव कर्पूरतिलकेन पुष्पितेव कुन्तलभरेण द्विरेफव्याप्तकल्पवल्लीव चकासे वभासे काश्टदीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ १८ ॥

भा० अ०—किसी दूसरी देवांगना द्वारा दोनों कुचों पर कुंकुम और ललाट पर कर्पूर तिलक लगाये हुई तथा वेणी बाँधे हुई महारानी पद्मावती भ्रमरों से परिवेष्टित पल्लवित और पुष्पित कल्पवल्ली के तुल्य शोभती थीं ॥ १८ ॥

तस्याः शिरोरुहभरे विनियोज्यमानं कृष्णां कयाऽपि चमरीरुहमावभासे ॥

तापिच्छकच्छमुपसर्पदिवान्धकारं निलाब्जकुञ्जमुपयन्निव भृंगगशिः ॥ १९ ॥

तस्या इत्यादि । तस्याः पद्मावत्याः । शिरोरुहभरे शिरसि रोहन्ति इति शिरोरुहास्तेषां भरस्तथोक्तस्मिन् कुन्तलसमूहे । कयापि देवस्त्रिया । विनियोज्यमानम् निक्षिप्यमाणम् । कृष्णम् श्यामलम् । चमरीरुहम् आरोहतीत्यारोहश्चमर्यामारोहश्चमरोरुहस्तम् । तापिच्छकच्छम् तापिच्छास्तमालाः “कालस्कन्धस्तमालाः स्यात्तापिच्छोऽपि” इत्यमरः । कच्छो वनं प्रत्युक्तं च राघवपाण्डवीये “कच्छान्तरेषु मस्तः कृतपुष्पवासा” इति । तापिच्छानां कच्छ-

स्तथोक्तम् तमालतदकुञ्जम् । उपसर्पन् उपसर्पतीत्युपसर्पन् समाश्रयत् । अन्धकारमिव
अन्धं करोतीत्यन्धकारस्तम् ध्वान्तमिव । “अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तम्” इत्यमरः । नीलाञ्ज-
कुञ्जम् नीलानि च तान्यञ्जानि तेषां कुञ्जं तथोक्तम् नीलोत्पलषण्डम् । उपयन् उपैतो-
त्युपयन् उपगच्छन् । भृंगराशिगिव भृंगाणां भ्रमराणां राशिस्ममूहस्तथोक्तः स इव
आचमासे रेजे भासृङ् दीपौ लिट् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ १६ ॥

भा० अ० महारानी पद्मावती के केशगुच्छ में किसी अन्य देवंगना से लगाया गया
चमरी का काला बाल तमालोपवनान्तर्गत अन्धकार के समान तथा नीलकमल के कुंज
में मड़राते हुए भ्रमर समूह के समान ज्ञात होता था ॥ १६ ॥

कर्पूरमौक्तिकखगेन्द्रमणिप्रकृतमैत्राटंकहारवल्लयैरुपरोपनीतैः ।

डिंडारितः क्वचन बुद्बुदितः पर्व शैवालितः क्वचिद्दत्तं सुपमाब्धिरग्न्याः २०

कर्पूरत्यादि । अस्याः पद्मावत्याः । सुपमाब्धिः सुपमैवाब्धिः सुपमाब्धिः
देहकान्तिसमुद्रः । “सुपमं चारुममयोः सुपमा परमयुतौ” इति विश्वः । अपरोपनीतैः
अपराभिरुपनीतानि तैः अन्यदेवस्त्रीभिर्न्यस्तैः । कर्पूरमौक्तिकखगेन्द्रमणिप्रकृतैः
कर्पूरश्च मौक्तिकश्च खगेन्द्रमणिश्च कर्पूरमौक्तिकखगेन्द्रमणयस्तैः प्रकृतानि तैः कर्पूरमौक्ति-
कखगेन्द्रमणिप्रकृतैः घनस्मारमुक्ताफलगरुडोद्गाररत्नचित्तैः । ताटंकहारवल्लयैः ताटंकश्च
हारश्च वल्लयश्चेति ताटंकहारवल्लयानि तैः कर्णभूषणहारकंकणैः । “कर्णपूरस्तु पुष्पाद्यै-
स्ताडंगो दन्तकादिभिः” इति वैजयन्ती । क्वचन क्व कस्मिन् क्वचन प्रदेशे । “अस्माकलये
तु चिच्चन” इत्यमरः । डिंडारितः डिंडारमंत्रज्ञानोऽस्येति तथोक्तः संज्ञातडिंडारः ।
“डिंडारोऽभिप्रकफः फेन” इत्यमरः । परत्र परस्मिन्निति परत्र अत्र प्रदेशे । बुद्बुदितः
बुद्बुदं संज्ञातोऽस्येति बुद्बुदितः संज्ञातबुद्बुदः । क्वचिन् प्रदेशे । शैवालितः शैवाल
पत्र शैवालः शैवालः संज्ञातोऽस्येति तथोक्तः संज्ञातशैवालः “जलनीली तु शैवालः” इत्यमरः ।
अहो आश्चर्यम् । अत्रापमातोपमेयदानां क्रमेणार्थोऽन्वीयते । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ २० ॥

भा० अ०—कर्पूर, मोती तथा गरुड मणि से बने हुए कर्णभूषण, हार और कंकणों से
किसी दूसरी देवबाला द्वारा सुसज्जित की गयी पद्मावती का सुपमा-समुद्र (सौन्दर्यजल-
निधि) कहीं फेन युक्त, कहीं जलबुद्बुदमय तथा कहीं शैवाल युक्त प्रतीत होता था ॥ २० ॥

वामे फलव्यवहिते व्यरुच्यकुचोऽन्यस्तत्रीविवादनचलमिदशांगनायाः ॥

वक्त्रेन्दुना महचरीमभिशंक्य यातामुत्कम्पमान इव कान्तिभरीगथाङ्गः २३

वामेत्यादि । त्रिदशांगनायाः कस्याश्चिद्देवतास्त्रियाः । वामे वामकुचे । फलव्यवहिते
फलैः व्यवहितस्तस्मिन् त्रीणां फलैः नान्तरिते । तंत्रीविवादनचलः तंत्र्या विवादनं तथोक्तं

तेन चलस्तथोक्तः तंत्रीध्वनचंचलः । अन्यः कुचः दक्षिणकुचः । वक्त्रेन्दुना वक्त्रमेवेन्दु-
र्वक्त्रेन्दुस्तेन वक्त्रेन्दुना मुखचन्द्रेण । याताम् यातिस्मेति याताम् वियुक्ताम् ।
सहचरीम् सहचरतीति सहचरी ताम् प्राणकान्ताम् । अभिशंक्य आशंक्य । उत्कम्पमानः
उत्कम्पत इत्युत्कम्पमानः विरहोद्रेकचकितः । कान्तिभररीरथाङ्गः कान्तिरेव भररी
कान्तिभररी तस्यां प्रवर्त्तमानो रथाङ्गस्तथोक्तः किरणप्रवाहप्रवर्त्तमानचक्रवाकपक्षीव । “प्रवाहो
निर्भरो भररी” इत्यभिधानात् ई प्रत्ययान्तोऽप्यस्त्येव । व्यरुचत् व्यराजत् रुच्दीप्तौ लुङ् ।
उत्प्रेक्षालंकारः ॥२१॥

भा० अ०—वीणा की तुम्हीसे किसी एक देवांगना के कामकुच के ढक जानेपर वीणा-
वादन से चलायमान दक्षिणकुच अपनी सहचरी चक्रवाकी को मुखचन्द्र से वियुक्त
हुई मानकर कान्ति-प्रवाह में प्रवाहित अत एव कम्पायमान चक्रवाक के समान ज्ञात होता
था ॥ २१ ॥

ताभिर्यथावसरमित्थमुपास्यमाना सा नीततुर्त्यसवना किल तीर्थतोयैः ॥

शुभ्राम्बराभरणमाल्यविलेपना च शिश्ये सुखेन रमणेन समानतल्पा ॥२२॥

ताभिरित्यादि । इत्थम् अनेन प्रकारेणेत्यं एतत्प्रकारेण । यथावसरम् अवसरमन्तिकम्य
यथावसरम् कालानुकूलमित्यर्थः । ताभिः देवनिताभिः । उपास्यमाना उपास्यत इत्युपास्य-
माना सेव्यमाना । तीर्थतोयैः तीर्थानां तोयानि तीर्थतोयानि तैः पुण्योदकैः । नीततुर्त्य-
सवना चतुर्णां पूर्णं तुर्त्यं “यछौ च श्लुक् ” इति य प्रत्ययश्चकारस्लोपश्च तुर्त्यञ्च तत्सवनञ्च
तथोक्तं नीयतेस्मेति नीतं नीतं तुर्त्यसवनं यस्यास्सा तथोक्ता प्रापितचतुर्थस्नानम् । शुभ्रा-
म्बराभरणमाल्यविलेपना च अम्बरादीनां भरणञ्च माल्यं पुष्पमाल्यञ्च विलेपनञ्च त्यम्बरा-
भरणमाल्यविलेपनानि शुभ्राणि अम्बरादीनि यस्यास्सा तथोक्ता । अत्र वस्त्रादीनां शुभ्रविशेषण-
मिष्यते । सा पद्मावती देवी । रमणेन सुमित्रनरेन्द्रेण । समानतल्पा समानं तल्पं यस्या-
स्सा तथोक्ता सदृशशयना सती । “तल्पं शय्यादृदारे” इत्यमरः । सुखेन सौख्येन । शिश्ये
किल सुध्वाप किल । शीङ् स्वप्ने लिट् ॥२२॥

भा० अ०—उन देवांगनाओं से सेवित, तीर्थजलों से चौथे दिन का स्नान किये हुई तथा
सुन्दर कपड़े पहने और पुष्पमाला पहने हुई पद्मावती पति के साथ साथ शय्या पर
सोयी ॥ २२ ॥

नागं वृषाधिपमाजारिरमाश्च माले चन्द्रार्कमीनयुगकुंभसुगानि वापीम् ॥

शंभोनिधिं च हरिपीठविमानभोगिस्थानानि रत्ननिकरं च विधूममग्निम् ॥२३॥

स्वप्नेऽथ सा सदृशताप्रणयादिवैतानेतान गजेन्द्रगतिरात्तवृषाधिपत्वा ॥
शातोदरी सविभवा सुकुमारगात्री चन्द्रानना सकलविष्टपसेव्यपादा ॥२४॥

मीनेक्षणो घटकुचा हृदनिम्ननाभिर्गाभीर्यपर्यवसितिः सुनितंबपीठा ॥
मानोन्नता च कृतभोगिपतिप्रमोदा चेतस्विरत्नममला क्रमशो ददर्श ॥२५॥

नागमित्यादि । अथ रत्यन्तरे । गजेन्द्रगतिः गजानामिन्द्रो गजेन्द्रस्तस्यैव गतिर्यस्यास्सा तथोक्ता मत्तगजेन्द्रवत् मंदगमना । आत्तवृषाधिपत्वा अधिपस्य भावोऽधिपत्वं वृषस्याधिपत्वं तथोक्तं आधीयतेस्म आत्तं प्राप्तं वृषाधिपत्वं यस्यास्सा तथोक्ता संप्राप्तसद्धर्माधिरत्या “सुकृते वृषमे वृषः” इत्यभिधानादत्र वृषभार्थः श्लेषेणोपमीयते । शातोदरी शातमुदरं यस्यास्सा तथोक्ता सिंहवत् कृशोदरी “शितं शातं च निशिते कृशे शातं च शर्मणि” इति विश्वः । सविभवा विभवेन सह वर्तत इति सविभवा । श्रीरिव ससंपत् । सुकुमारगात्री सुकुमारं गात्रं यस्यास्सा तथोक्ता पुष्पधामवत्कोमलांगी “सुकुमारन्तु कोमलं मृदुलं मृदु” इत्यमरः । चन्द्रानना चन्द्र इवाननं यस्याः सा तथोक्ता सुधांशुमुखी । सकलविष्टपसेव्यपादा सकलञ्च तद्विष्टपञ्च तथोक्तं तेन सेव्यौ पादौ यस्यास्सा तथोक्ता चरणौ किरणाश्च अर्कवन्निखिललोकाराध्यपादा “पादा रश्म्यघ्नितुर्यांशाः” इत्यभिधानात्किरणार्थः श्लेषत्वेनोपमीयते ।

मीनेक्षणा मीनाविवेक्षणे यस्यास्सा तथोक्ता मीनलोचना । घटकुचा घटाविव कुची यस्यास्सा तथोक्ता कुंभवत्पीनोन्नतस्तना । हृदनिम्ननाभिः हृद इव निम्नो नाभिर्यस्यास्सा तथोक्ता हृदवदुगंभीरनाभिः । गांभीर्यपर्यवसितिः गांभीर्यस्य पर्यवसितिः तथोक्ता अंभोधिवद्गंभीरत्वपर्यवसाना । सुनितंबपीठा सु शोभनं नितंबस्य पीठं यस्यास्सा तथोक्ता नितंबमेव पीठं यस्या वा तथोक्ता भद्रासनवत् पृथुलश्रोणिप्रदेशा । मानोन्नता च मानेनोन्नता तथोक्ता हानोत्कृष्टा “मानं प्रमाणे प्रक्षादी मानश्चित्तान्नतौ ग्रहः” इत्यभिधानादत्र मानार्थः श्लेषभावेनोपमीयते । कृतभोगिपतिप्रमोदा भोगोऽस्यास्तीति भोगी स चासौ पतिश्च भोगिपतिस्तस्य प्रमोदस्तथोक्तः कृतो भोगिपतिप्रमोदो यस्यास्सा तथोक्ता विहितभोगीन्द्रवद्भोगी भर्तृतोषा “भोगी भुजंगमे राज्ञि ग्रामण्यां नापितेऽपि च” इति विश्वः । चेतस्विरत्नं चेतोऽस्त्यासामिति चेतस्विरत्यस्तासां रत्नं प्रधानभूतविशिष्टलिङ्गत्वान्नपुंसकत्वं “मनस्विनि भवत्यार्ये” इति धनंजयः । “रत्नं स्वजातिश्रेष्ठेऽपि” इत्यमरः । अमला न विद्यते मलं यस्यास्साऽमला निर्धूमवह्निवन्निर्मलस्वभावा । सा पद्मावती देवी । पतानिष प्रागुक्तषोडशविशेषणस्वभावानिव ।

नागं गजेन्द्रम् । वृषाधिपगजारिरमाश्च वृषाणामधिपो वृषाधिपो वृषभेन्द्रः गजा-
नामरिस्तथोक्तस्सिंहो वृषाधिपश्च गजारिश्च रमा श्रीश्च वृषाधिपगजारिरमास्ताः
वृषभसिंहलक्ष्म्यश्च । माले माला च माला च माले द्वन्द्वैकशेषः द्विवचनबलेन माला-
युगलमित्यर्थः । चन्द्रार्कमीनयुगकुम्भयुगानि मीनयोर्युगं मीनयुगं कुम्भयोर्युगं कुम्भयुगं चन्द्रश्च
अर्कश्च मीनयुगं च कुम्भयुगं च तथोक्तानि चन्द्रसूर्यमत्स्ययुगमपूर्णकलशयुग्मानि ।
वापीम् सरोवरं । अंभोनिधिं च अंभसि निधायतेऽस्मिन्नित्यंभोनिधिस्तं समुद्रं च । हरिपीठ-
विमानभोगिस्थानानि हरिभिर्धृतं पीठं हरिपीठं भोगोऽस्त्येषामिति भोगिनस्तेषां
स्थानं भोगिस्थानं हरिपीठं च विमानं च भोगिस्थानं च तथोक्तानि सिंहासनव्यो-
मयाननागेन्द्रश्रामानि । रत्ननिकरं रत्नानां निकरः तथोक्तस्तं मणिराशिं । विधूमं विनिर्गतो
धूमो यस्मात्स तं निर्धूमं । अग्निं पावकं च । एतान् इमान् षोडश । सद्दशताप्रणयात्
सद्दशस्य भावः सद्दशता तस्याः प्रणयस्तथोक्तस्तस्मात् प्राग्विशेषणैः स्वस्मिन्नारोपितधर्म-
स्नेहात् । “प्रणयः प्रेम्णि विश्रंभे याञ्जाप्रसरयोरपि” इति विश्वः । स्वप्ने स्वपने । क्रमशः
क्रमेण क्रमशः “बह्वृत्तार्थशसि” इति शस् प्रत्ययः । ददर्श पश्यतिस्म दृष्टप्रेक्षणो लिट् ।
त्रिमिः विशेषकम् । २३ । २४ । २५ ।

भा० अ० — दृशोदरी, ऐश्वर्यवती, सुकुमारांगी, गजगामिनी, चन्द्रमुखी, मीनाक्षी, उन्नत-
स्तनी, गंभीरनाभिवाली, गंभीरता में आदर्शभूत, सुन्दरनितम्बवाली, मलरहिता, मनस्वि-
नियों में शिरमौर, धर्माधिरथ्य प्राप्त किये हुई, आने प्राणवल्लभ को सन्तुष्ट किये हुई
तथा सभी देवताओं द्वारा सेविता चरणरुमलोंवाली महाराणी पद्मावती ने समानस्नेह के
विकाश से गजेन्द्र, वृषभ, सिंह, महालक्ष्मी, मालायें, चन्द्र, सूर्य, युगलकलश तथा मीन,
सरोवर, समुद्र, सिंहासन, रथ, नागभवन, रत्नराशि तथा निर्धूमाम्नि ऐसे सोलह स्वप्नों
को देखा । २३, २४ और २५ ।

राज्ञी विबुध्य सुरवल्लभिकासुगीतैः कादम्बिनीकलकलैरिव केकिकांता ॥

उत्थाय तल्पतलतः सुममाप्य कृत्यं प्राभातिकं सपदि वल्लभमाससाद ॥२६॥

राज्ञीत्यादि । राज्ञी राज्ञ भार्या राज्ञी पद्मावती महादेवी । सुरवल्लभिकासुगीतैः सु शोभ-
नानि गीतानि सुगीतानि वदन्मा एव वल्लभिकाः सुराणां वल्लभिकास्तथोक्तास्तासां सुगीतानि
सुरवल्लभिकासुगीतानि तैः प्रभातप्रयुक्तैः देवरमणीसंगीतैः । केकिकांता केकाऽस्यास्तीति
केकी तस्य कांता तथोक्ता मयूरपत्नी । कादम्बिनीकलकलैरिव कादम्बिन्याः कलकलास्तैः
मेघमालाकोलाहलैरिव “कादम्बिनी मेघमाला । कोलाहलः कलकलः” इत्युभयत्राप्यमरः । विबुध्य
विबोधनं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति विबुध्य प्रबुध्य । तल्पतलतः तल्पस्य तलं तल्पतलं तल्पत-

लासत्पतलतः शय्यातलात् । उत्थाय उत्थानं पूर्वं पश्चात्किञ्चित्पुन्युत्थाय । प्राभातिकं प्रभा-
तस्येदं प्राभातिकं उदयकालसंबन्धि । कृत्यं कर्तुं योग्यं कृत्यं ह्यानदेवपूजादिकार्यं । सुसमाप्य
सुसमापनं पूर्वं पश्चात्किञ्चिदिति सुसमाप्य संपूर्णं कृत्वा । वल्लभं प्राणकांतं । सपदि
शौघं । “द्राक् मंशु सपदि द्रुते” इत्यमरः । आससाद् ययौ षड्लृविशरणगत्यवसादनेषु
लिट् उत्प्रेक्षालंकारः ॥२६॥

भा० अ०—कादम्बिनी (मेघमाला) की गंभीर ध्वनि के समान देवांगनाओं के
संगीत से मयूरी के समान प्रसन्न हो जगकर महारानी पञ्चावती शय्या त्याग प्रातःकालीन
कृत्य सम्पन्न कर शीघ्र अपने प्रियतम के पास पहुँची ॥ २६ ॥

अर्धासने प्रियनिवेशितवल्लभायै स्थित्वा क्षणं श्रुतिसुखं विनिवेदितायाः ॥
स्वप्नावलेरिति जगाद् फलं कुचांते दन्तार्चिषा विरचयन्निव चर्चिकां सः ॥२७॥

अर्धासन इत्यादि । आसनस्यार्धमर्धासनं तस्मिन् “समेऽर्धम्” इति समासः । प्रियनिवे-
शितवल्लभायै प्रियेण निवेशिता प्रियनिवेशिता सा चासौवल्लभा च प्रियनिवेशितवल्लभा तस्यै
प्राणकांतेननिवेशितरमण्यै । क्षणं क्षणपर्यन्तम् । “कालाध्वनोर्याती” इति कालवाचिनो
व्याप्त्यर्थे द्वितीया । स्थित्वा स्थापनं पूर्वं पश्चात्किञ्चिदिति स्थित्वा । श्रुतिसुखं श्रुत्योस्सुखं
यथा भवति तथा क्रियाविशेषणं । विनिवेदितायाः विनिवेद्यतस्मिन् विनिवेदिता तस्याः विज्ञा-
पितायाः । स्वप्नावलेः स्वप्नानामवल्लिस्तथोक्ता तस्याः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । फलं ।
सः । कुचांते कुचयोरंतः कुचांस्तस्मिन् स्तनयोर्मध्ये । दन्तार्चिषा दन्तानामर्चिस्तेन दन्त-
कांत्या “अर्चिर्मयूखशिखयोः” इति विश्वः । चर्चिकां चर्चव चर्चिका तां लेपनं “चर्चा तु
चार्चिक्यं स्यासकः” इत्यमरः । विरचयन्निव विरचयतीति विरचयन् कुर्वन्निव । जगाद्
उवाच । गदव्यक्तायां वाचि लिट् उत्प्रेक्षालंकारः ॥२७॥

भा० अ०—महाराज सुमित्र ने अर्धासन पर बैठाकर रानी पञ्चावती से श्रवण-सुखद
पूर्वक सोलह स्वप्नों को सुनकर अपनी दन्तद्युति से उनके स्तनों को प्रतिफलित करते
हुए उन का फल कहा ॥ २७ ॥

नागेन तुंगचरितो वृषतो वृषात्मा सिंहेन विक्रमधनो रमयाधिकश्रीः ॥
स्रग्भ्यां धृतश्च शिरसा शशिना क्लमच्छित्सूर्येण दीप्तिमहितो ऋषतः सुरूपः ॥२८॥

कल्याणभाक्कलशतः सरसः सरस्तो गंभीरधीरुदधिनासनतस्तदीशः ॥

देवाह्वियम्भशिराशयनसैः प्रतीतदेवोरगागमगुणोद्गमकर्मदाहः ॥२९॥

एवंविधस्तत्र भविष्यति तीर्थकर्त्ता पुत्रो जगत्त्रयविनेयजनैकमित्तं ॥

मर्त्यामरोरगखगप्रमदातिशायिपुण्यातिशायनघनायितचारुमूर्तेः ॥३०॥

नागेन गजेन्द्रदर्शनैतैत्यर्थः । तुंगचरितः तुंगं चरितं यस्य स तथोक्तः यथारढयातीत्यं-
महाचारित्रः । वृषतो गवेद्रात् । वृषात्मा वृष एव आत्मा यस्य स तथोक्तः धर्मस्वरूपः “धर्मोऽयं
वृषरूपेण” इति धर्मस्य वृषत्वप्रसिद्धेः रूपकः । सिंहेन मृगेन्द्रेण । विक्रमधनः विक्रम एव
धनं यस्य सः तथोक्तोऽनंतवीर्यः । रमया श्रीदेव्या । अघिकेशोः अघिका श्रीर्यस्य स अघिक-
श्रीः । स्वभ्यां मालाभ्यां । शिरसा मस्तकेन । धृतश्च भृतश्च धरनीति धृत इति कर्त्तरि क्तः
उभयलक्ष्मीपरिणयार्ह इत्यर्थः । शशिना चन्द्रेण । क्लमच्छिन् क्लमं छिनत्तीति क्लमच्छित्
संसारक्लेशनाशकः । सूर्येण दिवाकरेण । दीप्तिमहितः दीप्त्या महितः देहकान्तिसमृद्धः । ऋषतः
ऋषाभ्यां ऋषतः मीनयुगलतः । सुरूपः सुं शोभनं रूपं यस्य स तथोक्तः मनोहररूपः ॥२८॥

कल्याणभागित्यादि । कलशतः कलशाभ्यां कलशतः पूर्णघटयुगलात् । कल्याणभाक्
कल्याणानि भजतीति कल्याणभाक् “विण भज” इति विण् प्रत्ययः पंचकल्याणसेवितः । सरस्तः
सरसः सरस्तः सरोवरात् सरसः रसेन सह वर्त्तत इति सरसः वात्मल्यसहितः । उद्घिना
उद्कानि धीयन्तेऽस्मिन्नित्युद्घिस्तेन समासत्वाद्दुदादेशः समुद्रेण । गंभीरधीः गंभीरा धीर्यस्य
स तथोक्तः गंभीरबुद्धिः । आसनतः आसनादासनतः सिंहासनात् । तदीशः तस्य ईशस्तथोक्तः
सिंहासनाधिपः । देवाहिवासमणिराशयनलैः देवाश्चाहयश्च देवाहयस्तेषां वासस्तथोक्तः
मणीनां राशिमणिराशिः देवाहिवासश्च मणिगराशश्च अतलश्च देवाहिवाचमणिराशयनलास्तैः
दैवविमाननागभवतरत्नगराशिवह्निभिः । प्रतीतदेवोरगागमगुणोद्गमकर्मदाहः देवाश्चोरगा-
श्च तथोक्तास्तेषामागमस्तथोक्तः उद्गमनमुद्गमो गुणानामुद्गमः प्रादुर्भावस्तथोक्तः दहनं दाहः
कर्मणां दाहस्तथोक्तः देवोरगागमश्च गुणोद्गमश्च कर्मदाहश्च तथोक्ताः प्रतीता जगद्विनुता देवोर-
गागमगुणोद्गमकर्मदाहा यस्य सः तथोक्तः प्रसिद्धस्वसेवार्थिकल्पवासिदेवागमनभवनवासिदे-
वागमनकेवलज्ञानादिगुणोत्पत्तियुतोऽष्टविधकर्मदाहकश्च ॥२९॥

एवंविध इत्यादि । मर्त्यामरोरगखगप्रमदातिशायिपुण्यातिशायनघनायितचारुमूर्तेः मर्त्या-
श्च अमराश्च उरसा गच्छतीत्युरगाः नागाश्च खे गच्छतीति खगा विद्याधरास्ते च मर्त्याम-
रोरगखगास्तेषां प्रमदास्तथोक्तास्ताः अतिशेन इत्येवं शीलं तदतिशायि तच्च तत्पुण्यं च
मर्त्यामरोरगखगप्रमदातिशायिपुण्यं तस्यातिशायनं तेन घनायतेस्म घनायिता चार्वी चासौ
मूर्तिश्च चारुमूर्तिः मर्त्यामरोरगखगप्रमदातिशायिपुण्यातिशायनघनायितचारुमूर्तिर्यस्यास्सा
तथोक्ता तस्याः मनुष्यकल्पवासिभवनविद्याधरवनितात्युत्कृष्टसुकृतप्रवर्धनघनीभूतमनोरम-
शरीरस्य । एवंविधः कथितप्रकारः । जगत्त्रयविनेयजनैकमित्तं जगतां त्रयं जगत्त्रयं विनेतुं योग्यं

विनेयास्ते च ते जनाश्च तथोक्ताः जगत्त्रयस्य विनेयजनास्तथोक्ताः जगत्त्रयविनेयजनानामेकं च तत् मित्रं च तथोक्तं सद्धर्मोपदेशेन श्रेयस्पथप्रापकत्वात् त्रिलोकभव्यजनमुख्यबंधुः “एके मुष्यान्वकेवला” इत्यमरः । मित्रशब्दस्यविशिष्टलिङ्गत्वान्नपुंसकत्वं । तीर्थकर्ता तीर्थस्य कर्ता तीर्थकर्ता सद्धर्मोद्गावकः । तत्र ते युष्मदस्मदोरलिङ्गत्वात् त्रिलिङ्ग्यामेकत्वं । पुत्रः तनयः । भविष्यति जनिष्यति । अतिशयालंकारः । नागेनेत्यादिपद्यत्रयेण विशेषकम् इत्यन्वयो विधातव्यः ॥३०॥

भा० अ०—अयि! मनुष्य-कल्याणवासी भवनवासी तथा विद्याधरों की स्त्रियों के पुण्य को पद क्लित करने वाले पुण्यसे सुन्दर मूर्त्ति वाली पद्मावती! गजेन्द्र-दर्शन से यथाख्यात महाचरित्रवाला, वृषभ से धर्मोद्धारक, सिंह दर्शन से पराक्रमी, लक्ष्मी से अधिक श्री-सम्पन्न, माला से सबों का शिरोधार्य, चन्द्रमा से संसार के सन्ताप को दूर करने वाला, सूर्य से अधिक नेत्रम्बो, तथा मोनदर्शन से सुन्दर आकृति वाला, कलश से कल्याणारूपद अर्थात् पञ्चकल्याण-द्वारा सेवित, सरोवर से वात्सल्य रस-युक्त समुद्र से गंभीर बुद्धि वाला, सिंहासन से राज्यसिंहासनारोही, देवविमान, नाग-भवन, रत्नराशि तथा अग्नि आदि के दर्शन से देवों का आगम, नागों का आगमन, गुणों के प्रकटीकरण तथा अष्टकर्म दहनादि गुणों से युक्त त्रिभुवन के विनीत भव्यों के एक मात्र मित्र ऐसा तीर्थङ्कर के रूप में तुम्हें पुत्र होगा ॥२८॥ २९ और ३० ॥

एतन्निशम्य वचनं रुचिनस्य देवी रोमांचकंचुकितचंचुरगात्रयष्टिः ।

आकर्णितान्यभृतमंजुरवा वनांतं माकंदवल्लिरिव कोरकिता बभूव ॥३१॥

एतदित्यादि । देवी पद्मावती राज्ञी । रुचिनस्य रोचतेस्म रुचितस्तस्य प्राणकान्तस्य । एतत् इदं । वचनं भाषितं । निशम्य निशमनं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति निशम्य श्रुत्वा । वनांतं वनमध्ये । माकंदवल्लिः माकंदाश्वासौ वलिश्च तथोक्ता आम्रलता । आकर्णितान्यभृतमंजुर-रवा मंजुश्वासौ रवश्च मंजुरवः अन्येन भ्रियतेस्म अन्यभृतस्तस्य मंजुरवस्तथोक्तः आकर्ण्यतेस्म आकर्णितोऽन्यभृतमंजुरवो यथा सा तथोक्ता आकर्णितकोकिलमनोहरध्वनियुता । “वनप्रियः परभृतः कोकिलः पिकः, मनोज्ञं मंजु मंजुलं” इत्युभयत्राप्यमरः । कोरकिता कोरकः संजातोऽस्या इति कोरकिता संजातकलिकेव कोकिलनादस्य वसंतसूचकत्वात्तन्निनादेन कोरकिता यथा बभूव तथा इत्युपचारोक्तिः । रोमांचकंचुकितचंचुरगात्रयष्टिः रोमांचेन कंचुकः संजातोऽस्या इति रोमांचकंचुकिता रोमांचकंचुकिता चंचुरगात्रयष्टिर्यस्याः सेति बहुपदबहुव्रीहिः रोमांचसंजातकंचुकमनोहरदैहयष्टिः । बभूव भवतिस्म उत्प्रेक्षा-लंकारः ॥३१॥

भा० अ०—अपने प्राणबल्लभ की यह बात सुनकर कोयल की कुहू २ की ध्वनि से जैसे उपवनों में आम्रबह्नी मुकुलित होती है उसी प्रकार महारानी पद्मावती की देहयष्टि रोमाञ्च-रूप कंचुकसे आच्छन्न हो गयी ॥३१॥

देवोऽथ पूर्वगदितस्त्रिदिवादुपेतो देव्या वपुः करिवपुर्वदनादविक्षत् ॥

पक्षे परे नभसि मासि तिथौ द्वितीये योगे शिवे श्रवसि भे विरतौ रजन्याः ॥३२॥

देव इत्यादि । अथ अनंतरे । पूर्वगदितः गद्यतेस्म गदितः पूर्वस्मिन् गदितस्तथोक्तः प्रागुक्तः । देवः हरिवर्मचरः प्राणतेन्द्रः । नभसि श्रावणे । “श्रावणे तु स्यान्नभाः श्रावणिकश्च सः” इत्यमरः । मासि मासे पदन्नित्यादिना मासशब्दस्य मासादेशः । परे अपरे । पक्षे कृष्णपक्ष इत्यर्थः । द्वितीये द्वयोः पूरणो द्वितीयस्तस्मिन् “तिथयोर्द्वयोः” इत्यमरसिंहप्रामाण्याद्विशेष्यस्य पुंस्त्वेन विवक्षितत्वाद्द्विशेषणस्यापि पुंस्त्वं । तिथौ दिवसे । शिवे योगे शिवनामयोगे । श्रवसि श्रावणे—ज्योतिषिकप्रसिद्धप्रयोगोऽयं । मे नक्षत्रे । “नक्षत्रमृक्षं भं तारा” इत्यमरः । रजन्याः निशायाः । विरतौ विरमणं विरतिस्तस्याभवसाने । त्रिदिवात् स्वर्गात् । उपेतः उपैतिस्म उपेतः आगतः सन् । करिवपुः करोऽस्यास्तीति करी करिणो वपुर्विव वपुर्वस्य सः तथोक्तः गजाकारस्सन् । देव्याः पद्मावती-महादेव्याः । वपुः शरीरं । वदनात् मुखात् वदनविवरात् । अविक्षत् आविशत् विशप्रवेशने लुङ् “ब्रध्न भ्रस्ज” इत्यादिना शस्य षः “षढः कस्सि” इति षस्य कः ॥ ३२ ॥

भा० अ०—पूर्वोक्त प्राणतेन्द्र स्वर्ग से आकर श्रावण कृष्ण द्वितीया को श्रावण-नक्षत्र तथा शिव-योग में रात बीत जाने पर गजाकार से मुखद्वारा पद्मावती के शरीर में प्रविष्ट हुए ॥३२॥

विज्ञायासनकंपतः सुरपतिस्तस्यावतारं प्रभोः

स्वर्गादित्य चतुर्विधैस्सह सुरैरस्यांबिकां कल्पजैः ।

आकल्पांबरगंधमाल्यनिवहैरभ्यर्च्यनामं स्तवं

गानं नर्तनमारचय्य जनकं चादृत्य भूयो गतः ॥३३॥

विज्ञायेत्यादि । सुरपतिः सुराणां पतिः सुरपतिः सौधमेन्द्रः । तस्य प्रभोः मुनिसुव्रततीर्थ-शस्य । अवतारं अवतरणमवतारस्तं गर्भावतरणं । आसनकंपतः आसनस्य कंपस्तथोक्त आसनकंपादासनकंपतः सिंहासनकंपतः । विज्ञाय विबुध्य । चतुर्विधैः चत्वारो विधा ये-षां तैः चतुःप्रकारैः भवनव्यंतरज्योतिष्ककल्पवासिभेदैरित्यर्थः । सुरैः देवैः । सह साकं ।

स्वर्गात् त्रिदिवात् । पत्य आगत्य । अस्य मुनिसुव्रततीर्थेशस्य । अंबिकां जननीं । जनकं च पितरं च । कल्पजैः कल्पे जायंत इति कल्पजास्तैः स्वर्गसंभूतैः । आकल्यांबरगंधमाल्यनिवहैः आकल्याश्च अंबराणि च गंधाश्च माल्यानि च आकल्यांबरगंधमाल्यानि तेषां निवहास्तैः आभरणदुकूलगंधमालासमूहैः । “आकल्पत्रेषौ नेपथ्यं प्रति कर्म प्रसादनः” इत्यमरः । अभ्यर्च्य अभ्यर्चनं पूर्वपश्चात्किञ्चिदित्यभ्यर्च्यं पूजयित्वा । नामं नमनं नामस्तं नमस्कारं । स्तवं स्तोत्रं । गानं गीतं । नर्तनं आनंदनर्तनं च । आरचय्य आरचनं पूर्वपश्चात्किञ्चिदित्यारचय्य कृत्वा । भूयः पुनः । भव्यजनं च आद्रुत्य सत्कृत्य । गतः गच्छतिस्मिन् गतः यातः ॥३३॥

इत्यर्हद्वासकृतेः काव्यरत्नटीकायां सुखबोधिन्यां भगवद्गर्भावतरणवर्णनो

नाम तृतीयः सर्गोऽयं समाप्तः

भा० अ० —सौधर्मेन्द्र अपने सिंहासन के कम्पित होने से श्रीमुनिसुव्रत तीर्थङ्कर का गर्भावतार जान भवन, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा कल्पवासी देवों के साथ आकर स्वर्गीय भूषण, वसन, गन्ध तथा मालाओं से मुनिसुव्रत महाराज के पिता माता की पूजाकर वन्दना, स्तुति तथा नृत्यकर के पुनः अपने स्थान को चले गये ॥३३॥

इति तृतीय सर्ग समाप्त

॥ अथ चतुर्थः सर्गः ॥

न्यग्रोधशाखेव रराज सांद्रच्छाया दधाना पुरुषोत्तमं तम् ॥

पत्रोदरेऽथाऽऽर्त्तवमुष्णाशीतमुच्चैस्तनीयं नुदति प्रियस्य ॥ १ ॥

न्यग्रोधेत्यादि । अथ अनंतरम् । सांद्रच्छाया सांद्रा छाया यस्या सा तथोक्ता निरंतरकां-
तियुता । “घनं निरंतरं सांद्रं छाया सूर्यप्रिया कांतिः प्रतिबिंबमनातपः” इत्युभयत्राप्यमरः ।
पत्रोदरे पत्रमिवोदरं तथोक्तं तस्मिन् पर्णवत्कृशोदरे । पुरुषोत्तमं पुरुषेपूत्तमस्तथोक्तस्तं पुरु-
षश्रेष्ठम् । तं मुनितुवतस्वामिनं । दधाना दधन इति दधाना “सल्लड्ड” इत्यादिना आनश्-
प्रत्ययः । प्रियस्य प्राणनाथस्य । आर्तव्रं ऋतुषु भवमार्तव्रं समस्तर्तुसंभूतं । उष्णशीतं उष्णं
च शीतं च उष्णशीतं तद्द्रव्यैकत्वं उष्णशीतलं । नुदति नुदतीति नुदति अपहरति शतुप्रत्य-
यान्तात् “नृदुगिद्” इत्यादिना डी । उच्चैस्तनी उच्चैस्तनी यस्याः सा तथोक्ता पीनोत्तुंग-
पयोधरा । इयं एषा देवी । सांद्रा छाया यस्याः सा तथोक्ता निविडानातपवती । पत्रोदरे पत्र-
स्योदरं पत्रोदरं तस्मिन् पर्णानर्भागे । तं प्रसिद्धं । पुरुषोत्तमं नारायणं “श्रीपतिः पुरुषोत्तमः”
इत्यमरः । दधाना धान्ती । प्रियस्य प्रीतिमज्जनस्य । आर्तव्रं ऋतुषु भवं उष्णशीतं नुदति ।
उच्चैस्तनी उच्चैर्भवा तथोक्ता । “मायं चिरं प्राह्वे प्रगेऽव्ययात्” इति अनट् प्रत्ययः
अतिमहतीत्यर्थः । “अल्पे नीचैर्महत्युच्चैः” इत्यमरः । न्यग्रोधशाखा न्यग्रोधस्य शाखा तथोक्ता
सेव । रराज राज् दीप्तौ लिट् श्लेषोपमा । यदाह—“शान्तकाले भवेदुष्णमुष्णकाले तु शीतलं ।
कूपोदकं वटच्छाया तांबूलं तरुणीस्तनी” इति । सप्तसगराणां परतः विष्णुर्वटपत्रे शीत
इति लौकिकोक्तिरुपमीयते ॥ १ ॥

भा० अ०—सदा ज्योतिर्मयी, उन्नतस्तनी पत्रवत् कृशोदर में तीर्थङ्कर भगवान को
धारण किये हुई पद्मावती पत्रान्तर्भाग में नारायण भगवान को धारण किये हुई सघन
छायावली वटच्छाया के समान अपने प्रियतम का ऋतुसम्बन्धो शीतोष्णजन्य सन्ताप
अपहरण करती हुई शोभती थी ॥१॥

सा गर्भिणी सिंहकिशोरगर्भा गुहेव मेरोरमृतांशुगर्भा ॥

वैलेव सिंधोः स्मृतिरत्नगर्भा रेजेतरां हेमकरंडिकेव ॥ २ ॥

सेत्यादि । गर्भिणी गर्भोऽस्या अस्तीति गर्भिणी अंतर्वत्नी । सा महादेवी । सिंहकिशोर-
गर्भा सिंहस्य किशोरः पोतो गर्भेऽन्तर्भागे यस्याः सा तथोक्ता । “बालः किशोरः” इत्यमरः ।
मेरोः मंदरपर्वतस्य । गुहेव गह्वरवत् । अमृतांशुगर्भा अमृतरूपा अंशवो यस्य स तथोक्तस्स-
एव गर्भे यस्यास्सा तथोक्ता चंद्रगुकांतर्भागा । सिंधोः समुद्रस्य । वेल्लेव तीरमिव । “वैला-
ब्धितीराब्धिवृद्धयोः कालमयाद्योरपि” इति भास्करः । स्मृतिरत्नगर्भा स्मृत्यर्थप्रधानं रत्नं
स्मृतिरत्नं तद्देव गर्भे यस्यास्सा तथोक्ता चिंतामणिसहितांतर्भागा । “गर्भो भ्रूणेऽर्भके कुक्षौ
संधौ पनसकंठके” इति विश्वः । हेमकरंडिकेव हेम्रा विरचिता करंडिका तथोक्ता सुवर्ण-
भाजनमिव । रेजेतरां बभास्वेतरा । “द्वयोर्विभज्ये च तरप्” इति तरप् प्रत्ययः । गर्भस्थस्य तस्य
सिंहकिशोरामृतांशुस्मृतिरत्नदृष्टांतत्वेन क्रमाद्दृश्यत्वगुणाभिगम्यतागुणत्यागगुणभूयिष्ठत्वं
सूचितं भवति । तस्यास्तु मेरुगुहासिंधुवेलाहेमकरंडिकादृष्टांतत्वेनानाक्रम्यत्वगांभीर्यदिव्यौ-
षधशुद्धोरस्त्वानि सूचितानि भवन्ति उत्प्रेक्षालंकारः ॥ २ ॥

भा० अ०—गर्भवती महादेवी पद्मावती सिंहशिशु को रखवे हुई गिरि-गुहा के तुल्य,
चन्द्रगर्भा समुद्र वेलाके समान और चिन्तामणियुक्त सुवर्ण-मंजूषा के सदृश ज्ञात होती
थी ॥२॥

वह्नी वसंतात्मरसी घनांतात्मंपन्नयाच्चन्द्रमसोऽब्धिवेला ॥

यथा तथाऽजायत मा कृशांगी गर्भाभ्रकाटुज्वलरूपसंपत् ॥३॥

वह्नीत्यादि । कृशांगी कृशं अंगं यस्याः सा तथोक्ता तन्वी । सा पद्मावती । वसंतात्
वसंतकालात् । वह्नी लता । घनांतात् घनस्य अन्तस्तथोक्तस्तस्मात् वर्षकालांतात्
शरत्कालादित्यर्थः । सरसी सरोवरः । नयान् नीतिमार्गान् । संपत् । चंद्रमसः चन्द्रात् ।
अब्धिवेला अब्धेर्वेला तथोक्ता । यथा येन प्रकारेण यथा । तथा तेन प्रकारेण तथा । गर्भा-
भ्रकात् गर्भे विद्यमानोऽर्भको गर्भाभ्रकस्तस्मात् । उज्वलरूपसंपत् रूपस्य संपत् रूपसंपत्
उज्वला रूपसंपत् यस्यास्सा तथोक्ता । अजायत अभूत् । जनैङ् प्रादुर्भावे लङ् ।

भा० अ०—वसन्तागमन से वह्नी के समान, शरत्काल से सरसी के समान, सुन्दर-
नय से सम्पत्ति के समान तथा चन्द्रमा से समुद्र-वेला के समान गर्भस्थित बालक से
कृशांगी पद्मावती अत्यन्त उज्ज्वल सौन्दर्य-सम्पत्ति से सम्पन्न हुई ॥३॥

जिनस्य माहात्म्यपदेन हृष्टौ सामिप्यलाभेन कुचौ तदीयौ ॥

न बिभ्रतुः श्यामलतां मुखेऽल्पामप्येष नो हर्षयतीह कांस्कान् ॥४॥

जिनस्येत्यादि । जिनस्य जिनबालकस्य । सामिप्यलाभेन समीपमेव सामिप्यं तस्य
लाभस्तथोक्तस्तेन आसन्नतालाभेन । माहात्म्यपदेन महंश्यासावात्मा च महात्मा तस्य

भावस्तथोक्तं महात्म्यमेव पदं व्याजस्तेन महत्त्वव्याजेन । हृष्टौ हृष्येतेस्म हृष्टौ संतुष्टौ । तदीयौ तस्याः इमौ तदीयौ पद्मावतीसंबन्धिनीं । कुचौ स्तनौ । मुखे वक्त्रे अग्ने च चूचुक इत्यर्थः । अल्यामपि स्तोकापि । श्यामलतां श्यामलस्य भावः श्यामलता तां कृष्णत्वम् । न बिभ्रतुः न धरतःस्म भृञ् भरणे लिट् । तथाहि—एषः अयं सामिप्यलाभः । इह अस्मिन्निह । काँस्कान् कान् कान् “काँस्कान् सीसक्” इति निपातनात्सिद्धं । नो हर्षयति न संतोषयति अपि तु सर्वान् हर्षयत्येव । हृषु अलीके लट् अतिशयालंकारः ॥४॥

भा० अ०—जिनेन्द्र भगवान् के समीप रहने से अथवा जिनेन्द्र भगवान् की महिमा की अधिकता से पद्मावती के दोनों स्तनों ने जरा भी कृष्णता धारण नहीं की । जिनेन्द्र भगवान् का सामिप्य-लाभ इस संसार में भला किसको प्रसन्न नहीं कर सकता है ॥४॥

सुतस्य गंभीरतरम्य संगान्तस्योदरिण्या अपि राजपत्न्याः ॥

नाभिर्न तत्याज गभीरभावं गुणाँन्त्यजेत्को गुणिसंगमेन ॥५॥

सुतस्येत्यादि । उदरिण्या अपि उदरमस्या अस्तीत्युदरिणी तस्याः गर्भिण्या अपि । राज-पत्न्याः राज्ञः पत्नी तथोक्ता तस्याः पद्मावत्याः । नाभि नाभिस्थानं । गंभीरतरस्य प्रकृष्टो गंभीरो गंभीरतरस्तस्य अत्यंतगंभीरस्य । तस्य सुतस्य जिनबालकस्य । संगान् संसर्गात् । गभीरभावं गभीरस्य भावस्तथोक्तत्वं निम्नत्वं गंभीरत्वं । न तत्याज न मुमोच । त्यज हानौ लिट् “निम्नं गभीरं गंभीरम्” इत्यमरः । तथाहि—गुणिसंगमेन गुणास्सन्त्यस्येति गुणी तस्य संगमस्तथोक्तस्तेन गुणवत्स्वसंगेण । गुणान् गांभोर्यादिस्वभावान् । कः को वा पुरुषः । त्यजेत् मुंचेत् त्यज हानौ लिट् । अर्थातरन्यासः ॥५॥

भा० अ०—गर्भवती होती हुई भी राजमहिमा पद्मावती की नामी ने गांभीर्य गुणशाली उन तीर्थङ्कर-रूप पुत्र के समागम से अपना स्वभाविक निम्नता नहीं छोड़ी । गुणी के आ जाने पर कौनसा व्यक्ति अपना गुण छोड़ सकता है ? ॥५॥

गर्भेऽपि बोधत्रयनायकोऽयमितीदमावेदयितुं किलास्याः ॥

वलिप्रभावाद्बलयो न नष्टाः सनाभिनाशं भुवि के सहन्ते ॥६॥

गर्भ इत्यादि । अयं जिनबालकः । गर्भेऽपि उदरेऽपि । बोधत्रयनायकः बोधानां त्रयं बोधत्रयं तस्य नायकस्तथोक्तः मतिभ्रुतावाध्ररूपज्ञानत्रयस्य स्वामी । इति एवं प्रकारवचनं । आवेदयितुं ज्ञापयितुं । अस्याः पद्मावत्याः । बलयः त्रिवलयः । वलिप्रभावात् बलमस्यास्तीति बली तस्य प्रभावस्तस्मात् “यमकश्लेषचित्रेषु वययोर्दलयोरभेदः” इति वाग्भट्टभाषणात् वययोरभेदः । बलवतोऽनंतवीर्यवतोऽर्हतः सामर्थ्यात् पक्षे वलिनां च प्रभावात् । न नष्टाः न नश्यंतिसम न

नष्टाः अदृश्यतां नापुः । तथाहि—भुवि भुवां । सनाभिनाशं नाभिना सह वर्तत इति सना-
भिस्तस्य नाशस्तथोक्तस्तं संयुक्तनाभयस्त्रिवलयस्तन्नाशं बंधुनाशं सपिंडनाशमितिध्वनिः
“सनाभिस्सगोत्रो बंधुश्च” इति धनंजयः । के सहन्ते के क्षमते न केऽपीत्यर्थः सह मर्षणे
लोटे । अर्थांतरन्यासः ॥६॥

भा० अ०—मति-श्रुति-अवधि ज्ञानत्रय के धारक ये मुनिसुव्रत-नाथ हैं । यह सूचित
करने के लिये ही मानो पद्मावती के गर्भ की त्रिवली ज्यों की त्यों रही । अर्थात् नष्ट नहीं
हुई थी । ठीक है संसार में सनाभि (सहोदर) का नाश कौन सहन कर सकता है ॥६॥

तत्संगमे सर्वसमृद्धिहेतौ निरन्तरं सत्यपि कुक्षिगम्याः ॥

समृद्धिमल्पामपि न प्रपेदे भाग्यानुसारीणि फलानि कामं ॥७॥

तत्संगम इत्यादि । सर्वसमृद्धिहेतौ सर्वेषां समृद्धिस्सर्वसमृद्धिस्तस्या हेतुस्तस्मिन् सक-
ललोकप्रवृद्धिकारणे । तत्संगमे तस्य संगमस्तत्संगमस्तस्मिन् तज्जिनकुमारसंबंधे । निरन्तरं
अंतरान्निर्गतं निरंतरं अनवरतं । सत्यपि विद्यमानेऽपि । अस्याः पद्मावती-देव्याः । कुक्षिः
जठरः । अल्पामपि स्तोकापि । समृद्धिं सम्पूर्तिं । न प्रपेदे न प्राप पदगतौ लिट् । तथाहि—
फलानि लब्धयः । कामं येषेष्टं । “कामं प्रकामं पर्याप्तं निकामेष्टं यथेप्सितम्” इत्यमरः ।
भाग्यानुसारीणि भाग्यस्वानुसारीणि अदृष्टानुकूलानि । भवन्तीत्यध्याहारः । अर्था-
तरन्यासः ॥७॥

भा० अ०—सभी समृद्धि के कारण-भूत श्रीजिनेन्द्र भगवान् के गर्भ में सदा विद्यमान
रहने पर भी गर्भ की थोड़ी भी वृद्धि नहीं हुई । क्योंकि कर्म के फल भाग्यानुसार ही
हुआ करते हैं ॥७॥

स्मरज्जनानामपि नाशयंतमंतस्तमो नूतनरत्नदीपम् ॥

साक्षाद् दधत्या जिनमंतरम्याः स्पष्टं तमो नैष्ट भियैव जातु ॥८॥

स्मरज्जनानामित्यादि । स्मरंतीति स्मरंतस्ते च ते जनाश्च स्मरज्जनास्तेषां ध्यायत्सो-
कानामपि । अंतस्तमः अंतर्भागे विद्यमानं तमः अज्ञानध्वांतं । नाशयंतं ध्वंसयंतं । नूतनरत्नदीपं
नव एव नूतनः रत्नमिव दीपः नूतनश्चासौ रत्नदीपश्च नूतन रत्नदीपस्तं अपूर्वं अंतस्तमो ध्वं-
सकत्वान्नूतनत्वम् । साक्षात् प्रत्यक्षं । “साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययोः” इत्यमरः । जिनं जिनबालकं ।
अंतः गर्भं । दधत्याः दधातीति दधती तस्याः धरंत्याः । अस्याः पद्मावत्याः । अंतः अंतरंगं
तमः अज्ञानतमः । “शोकाज्ञानध्वांतगुणस्वर्भानुरुधिरेषु तमः” इति नानार्थकोषे । स्पष्टं
स्पर्शनाय स्पष्टं भियैव भीत्यैव । जातु कदाचिदपि । नैष्ट नदक्षमभूत् ईश ऐश्वर्ये लुब् ॥८॥

भा० अ०—स्मरण करनेवालों के भी अन्तस्त्वम को नष्ट करने वाले उन नूतन रत्न प्रदीप रूप जिनेन्द्र भगवान् को साक्षात् धारण करती हुई पद्मावती का अज्ञानान्धकार उस रत्न-प्रदीप को डरके मारे लूने में भी समर्थ नहीं हो सका ॥८॥

गर्भस्य लिंगं परमाणुकल्पमप्येतदंगेष्वनवेक्ष्य रक्षी ॥

जगत्त्रयोद्धारणदोहदेन परं नराणां बुबुधे ससत्वां ॥९॥

गर्भस्येत्यादि । नाराणां मनुष्याणां । रक्षी रक्षतीत्येवं शीलो रक्षी पालकः सुमित्र-भूपालः । एतद्गेषु एतस्या अंगान्येतद्गानि तेषु पद्मावत्यवयवेषु । “अङ्गं गात्रांतिकोपाय-प्रतीकेषु प्रधानकः” इति विश्वः । परमाणुकल्पमपि परमाणुसमानमपि ईषदसमाप्तः परमाणुः परमाणुकल्पस्तं “ईषदसमाप्तं ऽङ्गादेः कल्पदेश्यब्देशीयर” इति कल्पप्रत्ययः । गर्भस्य पिरडस्य लिङ्गं चिह्नं । “लिंगं चिह्ने ऽपि मानेऽपि सांख्योक्तप्रकृतावपि शिखमूर्तिविशेषेऽपि मेहनेऽपि प्रचक्षते” इति विश्वः । अनवेक्ष्य अनवेक्षणं पूर्वं पश्चात्किंचिदित्यनवेक्ष्य अदृष्ट्वा । परम् केवलं । जगत्त्रयोद्धारणदोहदेन जगतां त्रयं जगत्त्रयं तस्योद्धारणं च तत् दोहदं च तथोक्तं तेन त्रिलोकोद्धारणाभिलाषेण । “अथ द्वाददं कामोऽभिलाषस्तर्पश्च” इत्यमरः । ससत्वां सत्वेन सह वर्तत इति ससत्वा तां गर्भसहितां । “आपन्नसत्वा स्याद् गुर्विणी” इत्यमरः । बुबुधे मेने बुधि मनि-ज्ञाने लिट् अनुमानालंकारः ॥९॥

भा० अ०—लोकपाल सुमित्र महाराज ने पद्मावती के शरीर में गर्भ का तनिक भी चिह्न न देख कर केवल त्रिभुवन को उद्धार करने की अभिलाषा से पद्मावती को गर्भवती समझा ॥९॥

संबंधदुःखाखिलजीवमुक्तेहेतुं तमक्षार्थगनस्पृहं च ॥

प्रसोष्यती तेन समाभवत्साप्युपाधिवत् स्वच्छतरं हि वस्तु ॥१०॥

संबन्धेत्यादि । संबन्धदुःखाखिलजीवमुक्तेः संबन्धादनादिकर्मकृतसंबन्धादागतं दुःख-मेषां ते संबन्धदुःखाखिलाश्च ते जीवाश्च तथोक्ताः संबन्धदुःखाश्च ते अखिलजीवाश्च तथोक्ता-स्तेषां मुक्तिस्तस्याः अनादिवासनायातभवद्दुःखयुक्तसर्वजीवमोक्षस्य अनादिविरोधा-गतकारागारादिदुःखयुतनिखिलप्राणिमोचनस्य च हेतुं कारणभूतं “मुक्तिः स्यान्मोचने मोक्षः” इति विश्वः । अक्षार्थगतस्पृहं च अक्षाणामिन्द्रियाणामर्थास्तेषु पक्षे स्पर्शनमात्रं तस्मिन् गता स्पृहा यस्य स तं स्पर्शनादिन्द्रियविषयवाञ्छारहितमित्यर्थः “अथाक्षमिन्द्रिये अथोऽभिधेय-रेवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु” इत्यमरः । तं मुनिसुव्रतस्वामिनं । प्रसोष्यतीति प्रसोष्यती प्राप्स्यती । सापि पद्मावत्यपि । तेन जिनेन । समा समानां । अभवत् अभूत् । संबन्ध-दुःखाखिलप्राणिमोचनस्य हेतुः पत्युपभोगमात्रस्पर्शनेन्द्रियविषयसुखे गतस्पृहा चाभवदिति

यावत् । तथाहि—स्वच्छतरं प्रकृष्टं स्वच्छं स्वच्छतरं निर्मलतरं । वस्तु स्फटिका-
दिपदार्थः । उपाधिबद्धि उपरंजकबद्धि । “उपाधिधर्मचिन्तायां कैतवेऽपि विशेषणे । कुटुंब-
व्यापृतेऽपि स्यादुपाधिर्व्याधिचक्रयोः” इति विश्वः । अर्थान्तरन्यासः ॥१०॥

भा० अ०—अनादिकालीन दुःखों से व्याकुल जीव की मुक्ति के कारण तथा इन्द्रियजन्य
सुखों से विरत तीर्थङ्कर को पद्मावती उत्पन्न करेगी अतः यह पद्मावती भी उन्हीं के समान
हो गयीं । अर्थात् गर्भस्थ जितेन्द्र भगवान् का शुद्ध प्रतिबिम्ब पड़ने से पद्मावती भी उनके
विशुद्ध गुणों को धारण कर जितेन्द्र-तुल्य हो गयीं । क्योंकि उपाधि-भेद से वस्तु में भी
स्वच्छता आ जाती है ॥१०॥

गुणान्वितोऽपास्ततमःप्रपंचः प्रकाशितात्मेतरवस्तुरेपः ॥

बभौ जितेन्द्रो जठरे जनन्याः दीपो यथा स्फाटिकपात्रमध्ये ॥ ११ ॥

गुणान्वित इत्यादि । गुणान्वितः गुणेरन्वितस्तथाक्तः केवलज्ञानादिगुणयुक्तः । अपा-
स्ततमःप्रपंचः तमसां प्रपंचः तथोक्तः अपास्तः तमःप्रपंचो येन सः निराकृतसमस्ताज्ञानवि-
स्तारः “विपर्यासे विस्तारे च प्रपंचः” इत्यमरः । प्रकाशितात्मेतरवस्तुः आत्मा च इतराणि
आत्मेतराणि तानि च वस्तूनि च तथोक्तानि प्रकाशितानि चात्मेतरवस्तूनि च येन सः
तथोक्तः प्रकाशितस्वपरपदार्थः बहुवीहेराश्रयांगत्वात् पुल्लिङ्गवत्प्रकिया । एषः अयं । जितेन्द्रः
जिनानामिन्द्रः जितेन्द्रः । जनन्याः मातुः । जठरे उदरे । स्फाटिकपात्रमध्ये स्फटिकेन निर्मितं
स्फाटिकं तच्च तत् पात्रं च तथोक्तं तस्य मध्यं स्फाटिकपात्रमध्ये तस्मिन् । गुणान्वितः
गुणेन वर्तिकायान्वितो युक्तः “गुणस्त्वान्वृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतंतुपु” इति वैजयन्ती ।
अपास्ततमःप्रपंचः तमसां तिमिराणां प्रपंचः समूहस्तथोक्तः अपास्ततमःप्रपंचो यस्य सः
तथोक्तः । प्रकाशितात्मेतरवस्तुः प्रकाशितानि आत्मेतरवस्तूनि येन स तथोक्तः प्रकाशित-
स्वपरपदार्थः । दीपोः प्रदीपः । यथा येन प्रकारेण । बभौ भातिस्म । तेन प्रकारेण । बभौ
व्यराजत भा दीप्तौ लिट् । गर्भात्पुरैव सुरस्त्रीभिः दिव्योपधैः कृतशोधनत्वात् जठरस्य
स्फाटिकपात्रदृष्टांतत्वम् ॥ ११ ॥

भा० अ०—स्फटिकमय पात्र के भीतर प्रदीप के समान केवलज्ञान गुण से युक्त हो
अज्ञानान्धकार को दूर किये हुए तथा स्वपर पदार्थ को समुद्भासित किये हुए ये जितेन्द्र
भगवान् अपनी माता के उदर में प्रतिफलित हुए ॥११॥

तद्गर्भवासे निवसन्नपीशः स भास्वगंगो निहतांधकारः ।

तत्याज बोधत्रितयं न तेजस्यजेत्करंडेऽपि भणिर्महार्घ्यः ॥ १२ ॥

तद्गर्भवास इत्यादि । भास्वरांगः भासत इत्येवं शीलो भास्वरः भास्वरमर्गं यस्य स तथोक्तः “भंजभास्” इत्यादिना वर प्रत्ययः । निहतांधकारः निहतोऽन्धकारो येन स तथोक्तः निराकृतांतस्तमः । सः जिनबालकः । तद्गर्भवासे गर्भे वासो गर्भवासस्तस्या गर्भवासस्तथोक्तस्तस्मिन् पद्मावतीगर्भवासे । निवसन्नपि निवसतीति निवसन् तिष्ठन्नपि । ईशः स्वामी । बोधत्रितयं बोधानां त्रितयं तथोक्तं मतिश्रुतावधिरूपज्ञानत्रयं । न तत्याज न मुमोच त्यज हानौ लिट् । तथाहि—भास्वरांगः भासुरावयवः । निहतांधकारः निराकृतमिगः । महाधर्यः महानधर्यो यस्य सः महाधर्यः । “मूल्ये पूजाविधावधर्यः” इत्यमरः । मणिः रत्नं । करंडे करंडके । वसन्नपि । तेजः प्रकाशं । न त्यजंत न मुंचेत् त्यज हानौ लिट् । अर्थान्तरन्यासः ॥१२॥

भा० अ०—प्रकाशमय शरीर वाले तथा अज्ञानान्धकार को विनष्ट किये हुए जिनेंद्र भगवान् ने गर्भ में वास करके भी मतिश्रुति अवधि ज्ञानत्रय को पिटारी में रखी हुई जाउवल्यमान बहुमूल्य मणि जिस प्रकार अपने तेज को नहीं छोड़ती है उसी प्रकार नहीं छोड़ा ॥१२॥

मासान्पुरे पंचदशानुसंध्यं बंधुर्महेशस्य वसून्यवर्षत ।

सौध्रा यदंशुच्छुरिता विरेजुः शैला यथा कर्बुरितान्भ्रलिताः ॥१३॥

मासानित्यादि । महेशस्य ईशानस्य । बंधुः कुबेरः । “कुबेरस्त्रयवकसखः” इत्यमरः । पुरे राजपुरे । पंचदश पंचमिर्घिका दश तथोक्तास्तान् पंचदशमितान् मासान् पर्यंतं “काला ध्वनोर्व्याप्तौ” इति द्वितीया । अनुसंध्यं संध्यां संध्यामनुसंध्यं । “शब्दप्रथा” इत्यादिना व्ययीभावः “सप्तम्याः” इति विकल्पेन त्रिसंध्याम्वित्यर्थः । वसूनि रत्नानि । “वसुर्मयूखाग्निधनाधिपेषु योक्त्रे वके स्माद्भसुहृदके च । वृद् यौगधश्यामधनेषु रत्ने वसुस्मृतं स्यान्मधुरेन्यवच्च” इति विश्वः । अवर्षत् वृषू सेचने लङ् । यदंशुच्छुरिताः एषां रत्नानामंशवः यदंशवः तैः छुरिताः तथोक्ताः आच्छादिताः । सौध्राः राजसदनानि । कर्बुरितान्भ्रलिताः कर्बुरं संजातमस्येति कर्बुरितं कर्बुरितं च तत् अत्र च तथोक्तं तेन लिताः नानावर्णमेघावृताः । शैलाः पर्वताः । यथा येन प्रकारेण विरेजुः तथा विरेजुरित्यर्थः उत्प्रेक्षालंकारः ॥ १३ ॥

भा० अ०—राजपुरी नगरी में कुबेर ने पन्द्रह मास तक तीनों संध्या रत्न की वृष्टि की । इसी से चित्रित मेघ से लिप्त पर्वत के समान रत्न की चमक से प्रतिभासित कोठों की छतों शोभने लगीं ॥१३॥

स्वनामसार्थीकरणाय भक्तिच्छलेन गत्वातिबलेन राज्ञा ॥

विधित्सितं पुंसवनादिकर्म पुरैव शक्रः स्वयमस्य चक्रे ॥१४॥

स्वनामेत्यादि । स्वनाम स्वस्य नाम स्वनाम शक्नोतीति शक इति निजनामधेयं सार्थो-
 करणाय प्रागसार्थकः इदानीं सार्थस्य करणं तथोक्तं तस्मै सफलकरणनिमित्तम् ; शकः
 देवेन्द्रः । स्वयं गत्वा यात्वा । भक्तिच्छलेन भक्तिरेव छलं तथोक्तं तेन गुणानुरागव्याजेन ।
 अतिबलेन अति प्रकृष्टबलं यस्यामावतिवत्तस्तेन शक्तित्रयाद्यधिकसामर्थ्येन । “प्रकर्षे लङ्घने-
 प्यति” इत्यमरः । राज्ञा सुमित्रेण । विधित्मितं विधातुमिष्टं विधित्सितं कर्तुमिष्टं । अस्य
 मुनिसुव्रतस्वामिनः गर्भस्थेति वा । पुंसवनादिकर्म पुंसवनमादिर्यस्य तत् पुंसवनादिकर्म
 क्रियां । पुरैव पूर्वमेव । चक्रे विदधौ डुकृञ् करणे लिट् ॥१०॥

भा० अ०—इन्द्र अपने नामको सार्थक करने के लिये भक्ति के व्याज से अत्यन्त बलशाली
 सुमित्र महाराज की करनेयोग्य जो पुंसवनादि क्रियाये हैं उन्हें स्वयं सम्पादन किया ॥१४॥

मुग्धामरीगानसुधानिपानमुदच्छ्लान्मीलितचक्षुरेपा ॥

विचिन्वती क्षेमवतोऽपि सूनोः क्षेमित्रमायात्ममयं प्रसूतेः ॥१५॥

मुग्धामरीत्यादि । मुग्धामरीगानसुधानिपानमुदच्छ्लान् मुग्धः मनोहरांग्य-
 स्ताश्च ता अमर्यश्च मुग्धामर्यस्तासां गानं तथोक्तं । “मुग्धः सुन्दरमूढयोः”
 इति विश्वः । मुग्धामरीगानमेव सुधा तथोक्ता रूपकः तस्या निपानं मुग्धामरीगान-
 सुधानिपानं तस्माज्जातो मुदः प्रमोदः मुद् हर्षे इति धातोः “ज्ञाप्रोगृगुपांत्यात्कः” इति क प्रत्य-
 यत्वाद्दत्तत्वं स इति छलं तस्मात् मनोहरांगीदेवस्त्रीणां संगीतामृतमाकलयपानज-
 नितसंतापव्याजान् । मीलितचक्षुः मीलिते चक्षुषी यस्यास्मा तथोक्ता । क्षेमवतोपि क्षेम-
 मस्यास्तीति क्षेमवान् तस्य क्षेमयुक्तस्यापि । सूनोः नन्दनस्य । क्षेपित्वं क्षेममस्यास्तीति क्षेमी
 तस्य भावः तथोक्तं । विचिन्वती विचिनोतीति तथोक्ता “नृदुगित्” इत्यादिना डी शनृप्रत्ययः ।
 सम्पाद्यन्ती । एषा इयं पद्मावती । प्रसूतेः प्रसवस्य । समयं कालं । आयात् आगच्छत्
 या प्रापणे लङ् ॥१५॥

भा० अ०—भोली भाली देवांगनाओं के गानामृतपानजन्य हर्ष-प्रकर्ष से आँखें मूँदे हुई
 तथा मंगलमय होते हुए भी अपने पुत्र (मुनिसुव्रत) का कल्याण चाहती हुई पद्मावती को
 प्रसव का समय आ उपस्थित हुआ ॥१५॥

अवाप्य चैत्रासितपक्षपूर्णाथो तिथिं राश्रवणामसूत ॥

असावहंपृथ्विकयेव सूनुं भानुं यथैवैन्द्रदिशा तथैव ॥१६॥

अवाप्येत्यादि । अथो अनन्तरं “मंगलानन्तरारंभप्रश्नकात्स्वर्णेष्वथोऽथ” इत्यमरः । चैत्रासि-
 तपक्षपूर्णां चैत्री पौर्णमासी अस्यास्तीति चैत्रः “सास्यपौर्णमासी” इत्यण् चैत्रश्चासौ मासश्च

चैत्रमासः अस्तितश्चासौ पक्षश्च अस्तितपक्षः चैत्रस्यास्तितपक्षस्तथोक्तस्य पूर्णा तथोक्ता ताम् चैत्रमासे कृष्णपक्षे पंचम्यां “नदा भद्रा जया रिक्ता पूर्णा च तिथयः क्रमात्” इति तिथीनां नामान्तरत्वात् । सश्रवणां श्रवणेन नक्षत्रेण सह वर्तते इति सश्रवणा तां श्रवणनक्षत्र-सहितां तिथिम् । अवाप्य अवापनं पूर्वं पश्चात्किंचिदित्यवाप्य लब्ध्वा । असौ पद्मावती देवी । यथैव यस्मिन् काल एव । इन्द्रदिशा इन्द्रस्य दिशा इन्द्रदिशा पूर्वदिक् “दिग्दिशादक्ष-कन्यागाराशाकाष्ठाहरिक्तकुम्भः” इति जयकीर्तिः । भानुं आदित्यं । असूत असूयत । तथैव तत्काल एव । अहंपूर्विकयेव अहं पूर्वमहं पूर्वमित्युक्तेरहंपूर्विका तथा इव परस्परस्पर्धयेव “अहं पूर्वमहं पूर्वमित्यहंपूर्विका स्त्रियाम्” इत्यमरः । सूनुं जिननन्दनम् असूत असूयत षूङ् प्राणिप्रसवे लुङ् ॥१६॥

भा० अ०—पूर्व दिशा से सूर्य के समान धीमुनिसुव्रतनाथ चैत्र कृष्ण पञ्चमी को श्रवण नक्षत्र में महारानी पद्मावती के उदर से उत्पन्न हुए ॥१६॥

बभुः स्त्रियस्तन्निहतांधकारं नवोदितं विश्वजनैकमित्रम् ॥

विलोकयंत्यः सरसीव सौधे फुल्लाक्षिपद्मा इव पुष्करिण्यः ॥१७॥

बभुरित्यादि । सरसीव सरोवर इव उपमा । सौधे राजसदने । निहतान्धकारं निह-तोऽन्धकारो येन स तं निरस्ततिमिरं । नवोदितं नवश्चासौ उदितश्च नवोदितस्तं नूतनज-नितम् । विश्वजनैकमित्रं विश्वे च ते जनाश्च तथोक्ताः एकश्चासौ मित्रश्च एकमित्रः विश्व-जनानामेकमित्रः तं । सुहृत्पक्षे मित्रशब्दस्य नपुंसकत्वात्तत्पक्षे समासस्तथावसीयः । सकलजनमुख्यसूर्य सखायं च “धूमणिस्तरणिमित्रः । अथ मित्रं सखा सुहृत्” इत्युभयत्राप्य-मरः । तं जिनबालकं । विलोकयंत्यः विलोकयंतीति विलोकयंत्यः वीक्षामणाः । स्त्रियः वनिताः । फुल्लाक्षिपद्माः फुल्लानि च तान्यक्षीणि च फुल्लाक्षीणि तान्येव पद्मानि यासां ताः उन्मीलितलोचनकमलाः । पुष्करिण्य इव पुष्कराणि संत्यासामिति पुष्करिण्यः नलिन्य इव । बभुः रेजिरे भा दीप्तौ लिट् । श्लेषोपमा ॥१७॥

भा० अ०—सूर्योदय से सरोवर में विकसित कमलनेत्र वाली नलिनी के समान स्त्रियाँ राज-प्रासाद में नवोदित तथा विश्वमात्र के मित्र श्रीमुनिसुव्रत भगवान को उदित देखकर शोभने लगीं ॥१७॥

गृहान्तराले शशिकान्तभित्तिविवैव निर्वाततमःप्रपंचे ॥

सुरांगना कापि तदा प्रदीपानबोधयत्केवलमंगलार्थम् ॥१८॥

गृहान्तराल इत्यादि । तदा तत्समये । कापि सुरांगना देवस्त्री । शशिकांतभित्तिविवैव शशिकांतस्य भित्तिः शशिकांतभित्तिस्तस्याः त्विट् तथैव इंदुकांतकुड्यकांत्यैव ।

निर्वान्ततमःप्रपंचे तमसां प्रपंचस्तमःप्रपंचः निर्वान्तस्तमः प्रपंचो यस्मिन् तत् तस्मिन् विह-
तांधकारसमूहे । “विपर्यासे विस्तरे च प्रपंचः” इत्यमरः । गृहांतराले गृहस्यांतरालं
तथोक्तं तस्मिन् राज-सदनमध्ये । केवलमंगलार्थं मंगलाय इदं मंगलार्थं केवलं मंगलार्थं
तथोक्तम् मंगलनिमित्तं । “निर्णीते केवलमिति त्रिलिंगं त्वेककृत्स्नयोः” इत्यमरः । न तु
तमःप्रपंचापनयनार्थं । प्रदीपान् । अबोधयत् बोधयतिस्म बुधि बोधने णिञन्ताल्लुङ् ॥१८॥

भा० अ०—प्रसूतिका-गृह का भीतरी भाग चन्द्रकान्तमणिमय मिति की चमक से
ही प्रज्वलित हो रहा था । उस समय वहाँ किसी देवांगना ने जो प्रदीप जलाया था
वह केवल मांगलिक बिधि की पूर्ति के लिये था न कि प्रकाश के लिये । १८ ।

हतांधकारेऽपि शिशुप्रभावात् गृहोदरे तद्द्युतिपूर्णामेतत् ॥

अजानती काचन रत्नदीपानतिप्रपद् भक्तिभरेण मुग्धा ॥ १९ ॥

हतांधकार इत्यादि । गृहोदरे गृहस्योदरं तथोक्तं तस्मिन् राजसदनमध्ये ।
शिशुप्रभावात् शिशोः प्रभावस्तथोक्तस्मात् जिनबालकस्य देहकांतिसामर्थ्यात् ।
हतांधकारेऽपि हतोऽधकारो यस्मिन् नष्टांधकारे सत्यपि । एतत् गृहोदरं ।
अन्वादेशे एनदादेशः । तद्द्युतिपूर्णं तस्य द्युतिस्तद्द्युतिः तथा पूर्णं जिनबालक-
नीलदेहकांतिपूर्णमिति । अजानती अबुध्यमाना । काचन कापि । मुग्धा मूढा ।
भक्तिभरेण भक्तेर्भरो भक्तिभरस्तेन भक्त्यतिशयेन । रत्नदीपान् रत्नान्येव दीपा-
स्तान् । अतिप्रपत् । अस्थापयत् । दृष्टा गतिनिवृत्तौ लुङ् । भ्रान्तिमानलंकारः ॥ १९ ॥

भा० अ०—नवोत्पन्न तीर्थङ्कर श्रीमुनिसुव्रतनाथ के प्रभाव से भवन का भीतरी
भाग अन्धकार-रहित होने पर भी प्रसूतिकागृह को प्रकाशमय नहीं जानती हुई किसी
मुग्धा देवबालाने भक्ति-भारसे रत्न का प्रदीप वाला । १९ ।

अरिष्टहर्म्यस्य सवज्रवेदेर्बालांगनीलद्युतिपूरितस्य ॥

मध्ये विरेजुर्नवदीपमाला मालामणीनामिव वारिराशेः ॥ २० ॥

अरिष्टेत्यादि । सवज्रवेदेः वज्रस्य वेदिः तथा सह वर्तत इति सवज्रवेदिस्तस्य ।
सवज्रवितर्धितस्य सवज्रवेलस्य च । बालांगनीलद्युतिपूरितस्य बालस्यांगः
बालांगः नीला चासौ द्युतिश्च नीलद्युतिः तथोक्ता तथा पूरितं तस्य । अरिष्टहर्म्यस्य
अरिष्टं च तत् हर्म्यं च तथोक्तस्य । “अरिष्टं सूनिकागृहं” इत्यमरः । मध्ये अंतरे । नव-
दीपमाला नवाश्च ते दीपाश्च नवदीपास्तेषां माला तथोक्ता नूतनप्रदीपपङ्क्तिः
वारिराशेः वारीणां राशिः वारिराशिसमुद्रस्तस्य । मणीनां रत्नानां मालेव पङ्क्ति-

रिव “मालमुञ्जतभूर्माला पङ्क्तौ पुष्पादिधामनि” इति नानार्थरत्नमालायां । विरेजः बभूवः
राजू दीप्तौ लिट् ॥ उपमालङ्कारः ॥ २० ॥

भा० अ०—बच्चे के अंगकी नीलद्युति से परिपूर्ण तथा वज्रवेदी से युक्त प्रसुतिका-
गृह के मध्य में प्रदीपपुंज (दीपपङ्क्ति) समुद्र की मणिराशि के तुल्य शोभते थे । २० ।

कुमारजन्मादिमवार्तिकत्राकृतांगभूषो हृषितः क्षितीन्द्रः ॥

विधूतपत्रोद्गतकोरकस्य विधामधान्नीपतरोर्मुहूर्तम् ॥ २१ ॥

कुमारत्यादि । कुमारजन्मादिमवार्तिकत्राकृतांगभूषः कुमारस्य जन्म कुमार-
जन्म आदौ भवः आदिमः “पश्चादाद्यंताग्रादिमः” इति म प्रत्ययः । वार्तया जीवन् वार्तया हरन्वा
वार्तिकः आदिमश्चासौ वार्तिकश्च आदिमवार्तिकः कुमारजन्मन आदिमवार्ति-
कस्तस्य तस्मै वा दैयत्वेनाधीनानि कृता कुमारजन्मादिमवार्तिकत्रा कृता “दैयेत्राच” इति
त्रा प्रत्ययः अंगस्य भूषा अंगभूषा कुमारजन्मादिमवार्तिकत्रा कृता अंगभूषा यस्य
स तथोक्तः । “अंगं गात्रांतिकोपायः प्रतीकेषु प्रधानकः” इति विश्वः । हृषितः हृष्यतेस्म
हृषितः संतुष्टः रोमांचितः । क्षितीन्द्रः क्षितेरिन्द्रस्सुमित्रः धराधीश्वरः । मुहूर्तपर्यन्तं
“कालाध्वनोर्व्याप्तौ” इति द्वितीया । विधूतपत्रोद्गतकोरकस्य विधूतानि पत्राणि यस्य सः
तथोक्तः उद्गच्छन्तिस्म उद्गताः उद्गताः कोरका यस्य सः तथोक्तः विधूत-
पत्रश्चासौ उद्गतकोरकश्च तथोक्तस्तस्य अपगतपर्णस्योत्पन्नकलिकस्य च । नीपतरोः
नीपश्चासौ तरुश्च निपतरुस्तस्य कर्दंबवृक्षस्य । “नीपप्रियककर्दंबास्तु हरिप्रियः” इत्यमरः ।
विधां उपमा “विधा विधां प्रकारेच” इत्यमरः । अथात् अधरत् डु धाञ् धारणे लुङ् ॥२१॥

भा० अ०—पुत्रजन्म का शुभ सम्वाद सुनाने वाले भृत्थ को अपने शरीर के सारे
आभूषण दे डालने वाले सन्तुष्ट राजा ने पुराने पत्तों को हटाकर कोरकयुक्त कदम्ब वृक्ष
को उपमा धारण की । २१ ।

गंधांबुसिक्ता विरजाः पुरश्रीः श्रीखण्डपंकेन विलिप्तदेहा ॥

दुकूलमुक्तावलिमाल्यरम्या भृशं बभूवात्मपतेः प्रियाय ॥२२॥

गंधांबुसिक्तात्यादि । गंधांबुसिक्ता गंधेन मिश्रितमंबु गंधांबु तेन सिच्यतेस्म सिक्ता
गंधोदकोक्षिता । विरजाः विगतं रजो यस्या सा तथोक्ता अपगतविधूलिः आर्तवविशुद्धा
च । “रजः स्यादार्तवे गुणे । रजुः परागे रेणौ” इत्यादि विश्वः । श्रीखण्ड-
पंकेन श्रीखण्डस्य पंकं तथोक्तं तेन श्रीगंधकर्दमेन । विलिप्तदेहा विलिप्यतेस्म विलिप्तः
विलिप्तो देहो यस्यास्ता तथोक्ता । दुकूलमुक्तावलिमाल्यरम्या । दुकूलं च मुक्तानामावलिः

मुकावलिश्च माल्यं च दुकूलमुकावलिमाल्यानि तैः रम्या श्रौमवस्त्रमुकाफलमालाभि-
र्मनोहरा । पुरश्रीः पत्तनलक्ष्मीः कामिनीति ध्वन्यते । आत्मपतेः आत्मनः
पतिस्तथोक्तस्तस्य निजाधिपस्य । प्रियाय प्रीतिनिमित्तं । भृशं अत्यंतं । बभूव भवतिस्म
भू सत्तायां लिट् ॥२२॥

भा० अ०—गन्धोदक से सिक्त, रजो रहित अथवा आर्तव-विशुद्ध श्री चन्दन से लिप्तांग
तथा साड़ी और मालाओं से रमणीयता धारण किये हुई पुरलक्ष्मी अपने प्रियशासक
की प्रीतिप्रात्र हुई । २२ ।

प्रत्यंगणां कल्पितपंचरत्नरंगालयश्चक्रुरनेकभंगाः ॥

जिनेन्द्रजन्मावसरप्रणश्यत्पयोधरस्त्रस्तधनुर्विशंकाम् ॥२३॥

प्रत्यंगणमित्यादि । अनेकभंगाः अनेको भंगो यासां तास्तथोक्ताः बहुविधाः ।
“भंगस्तारंगे रुभेदे भेदे जयविपर्यये” इति विश्वः । प्रत्यंगणं अंगणमंगणं प्रति प्रत्यंगणं ।
कल्पितपंचरत्नरंगालयः पंच च तानि रत्नानि च पंचविधानि रत्नानीति वा पंचरत्नानि
रंगणामालयो रंगालयः पंचरत्नैः कृता रंगालयस्तथोक्ताः कल्प्यतिस्म कल्पितास्ताश्च
ताः पंचरत्नरंगालयश्च तथोक्ताः “रंगोरणे खले रागे नृत्ये रंगं ऋपुन्यपि” इति विश्वः ।
जिनेन्द्रजन्मावसरप्रणश्यत्पयोधरस्त्रस्तधनुर्विशंकां जिनानामिन्द्रो जिनेन्द्रस्तस्य जन्म जिनेन्द्रजन्म
तस्यावसरस्तथोक्तः प्रणश्यतीति प्रणश्यन् पयोधरतीति पयोधरः प्रणश्यंश्चासौ
पयोधरश्च तथोक्तः जिनेन्द्रजन्मावसरे प्रणश्यत्पयोधरस्तथोक्तः तस्मात्स्वस्तं तथोक्तं
“स्वस्तं ध्वस्तं ध्रष्टं स्कन्नं पन्नं च्युतं गलितम्” इत्यमरः । तच्च तत् धनुश्च जिनेन्द्रजन्माव-
सरप्रणश्यत्पयोधरस्त्रस्तधनुस्तस्य विशंका तां तथोक्तां जिनेश्वरस्योत्पत्तिकाले विनश्यन्मे-
घावस्त्रस्तसुरचापसंदेहम् । चक्रुः कुर्वतिस्म डुकृञ् करणे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ २३ ॥

भा० अ०—जिनेन्द्र भगवान के जन्म-समय में प्रत्येक प्रांगण में पंचरत्न से रचित
विविध रंग के मण्डन (चित्रावली), विलीन होते हुए मेघ से इन्द्रधनुष गिरने की शंका
किया करते थे । २३ ।

उत्क्षिप्तचित्रध्वजपंक्तयोऽपि समीरमार्गे जिनजन्महृष्टाः ॥

चंचत्पताकाग्रमिवाभ्यनृत्यत्परस्परं गाढमिवालिर्लिङ्गुः ॥२४॥

उत्क्षिप्तेत्यादि । समीरमार्गे समीरस्य वायोमार्गस्तथोक्तस्तस्मिन् आकाशे ।
“समीरमारुतमरुजगत्प्राणसमीरणाः” इत्यमरः । उत्क्षिप्तचित्रध्वजपंक्तयोऽपि चित्राणि च
तानि ध्वजानि च तथोक्तानि उत्क्षिप्तानि च तानि चित्रध्वजानि च उत्क्षिप्तचित्र ध्व-

जानि तेषां पंकयः तथोक्ता उन्नमितविविधकेतनराजयः किंपुनर्घारांगनाद्य इत्यपि शब्दाद्यः ।
जिनजन्मदृष्टाः जिनस्य जन्म तेन दृष्टा तथोक्ताः । अभ्यनृत्यत् नर्तनं कुर्वत् । चंचत्पता-
काप्रमिव चंचत्यश्च ताः पताकाश्च चंचत्पताकास्तासामग्रं तथोक्तं विलसद्भ्रैर्जयत्यग्रम्
तदिव । परस्परं अन्योन्त्यं गाढमिव दृढमिव । आलिलिंगुः आलिंगंतिस्म आलिलिंगुस्विव
बभुरितिवान्वयः लिंगु गतौ लिट् ॥२४ ॥

भा० अ० —आकाश-मार्गं मे जिनेन्द्र भगवान् के जन्म से प्रसन्न होकर मानों नृत्य
करती हुई अनेक रंग की ऊंची २ पताकार्ये कम्पित वैजयन्ती के अग्रभाग के समान प्रतीत
होकर परस्पर आलिंगन किया करती थीं ॥ २४ ॥

मृदंगमन्द्रध्वनिमांसलेन गीतेन नृत्यद्वणिकानिकायः ॥

उद्देलमुज्जृम्भितरागवार्धेस्तरंगमालाकृतिमाललम्बे ॥२५॥

मृदंगेत्यादि । नृत्यद्वणिकानिकायः नृत्यन्तीति नृत्यन्त्यः ताश्च ताः गणिकाश्च
तथोक्तास्तासां निकायः नृत्यल्लज्जिकाप्रकरः । मृदंगमन्द्रध्वनिमांसलेन मंद्रश्चासौ ध्वनि-
श्च मंद्रध्वनिः मृदंगस्य मंद्रध्वनिस्तथोक्तः मृदंगमंद्रध्वनिना मांसलं तेन मुरजगंभीरनि-
नादपुष्टेन “मंद्रस्तु गंभीरे । बलवान्मांसलोऽसलः” इत्युभयत्राप्यमरः । गीतेन गानेन । उद्देलं
वेलामुद्गतं यथा भवति तथा । उज्जृम्भितरागवार्धेः राग एव वार्धिस्तथोक्तः उज्जृम्भतेस्म
उज्जृम्भितः स चासौ रागवार्धिश्च तथोक्तस्य प्रवृद्धप्रमोदसमुद्रस्य । तरंगमालाकृतिं
तरंगाणां माला तरंगमाला तस्या आकृतिस्तथोक्ता तां ऊर्मिमालाकारं । आललंबे
स्वीकरोतिस्म लबु अवस्रंसने लिट् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ २५ ॥

भा० अ० —मृदंग की गंभीर ध्वनिमय गान गा गा कर नाचती हुई अप्सरायें उत्ताल
तरंगयुक्त तट वाले आनन्द-समुद्र की तरंग-माला के समान शोभती थीं । २५ ।

भव्याश्चिरं दुःसहगंधबन्धमुक्त्यर्थिनोऽस्मिन्नुदिते विमुक्तिम् ॥

यास्यंति यत्तन्नययुस्तदैव क्षितीन्द्रबन्धो यदिदं हि चित्रम् ॥२६॥

भव्या इत्यादि । अस्मिन् जिनेश्वरे । उदिते उद्वेतिस्म उदितस्तस्मिन् सति । चिरं
दीर्घकालं । दुस्सहगंधबंधमुक्त्यर्थिनः दुःखेन महता कष्टेन सह्यत इति दुःसहः दुस्सहो गंधो
वासना यस्य सः तथोक्तः दुस्सहगंधश्चासौ बंधश्च तथोक्तः मुक्तिमर्थयंत इत्येवं शिला मुक्-
त्यर्थिनः दुस्सहगंधबंधस्य मुक्त्यर्थिनस्तथोक्ताः । भव्याः रत्नत्रयाकिर्मवनयोण्याः भव्याः
विनेयजनाः । विमुक्तिं स्वात्मोपलब्धिं । यास्यंति गमिष्यन्ति । यत्तत् यदेतद्वचः । चित्रं न
आश्चर्यं न भवति । किंतु—तदैव तत्समय एव । क्षितीन्द्रबंधः क्षित्याः इन्द्राः क्षितीन्द्राः

तेषां बंधस्तथोक्ताः शत्रुभूपालकाराबंधनानि “प्रग्रहोपग्रहौ बंधां कारा स्याद् बंधनालये” इत्यमरः । विमुक्तिं मोचनं “मुक्तिः स्यान्मोचने मोक्षे” इति विश्वः । ययुः अगुः । यविर्दं यदेतत् । चित्रं हि अथाद्भुतं खलु ॥ २६ ॥

भा० अ०—चिर काल की दुःसह वासना से मुक्ति पाने की इच्छा करने वाले भव्य जीव जिनेन्द्र-मार्चण्ड के उदित होने पर मुक्ति पायेंगे इस में तो कोई आश्चर्यही नहीं है । पर शत्रुभूत राजसमूह जो बन्दी हुए थे वे भी मुक्त हो गये यही आश्चर्य है । अर्थात्-जिनेन्द्र-जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में सभी बन्दी राजे छोड़ दिये गये । २६ ।

श्रीखंडपंडेन जिनस्य गात्रे सौरभ्यमिभ्यं प्रहितोऽवगंतुम् ॥

प्रभूतभीतेरिव कंपमानश्चचार चारुर्मलयाद्रिवातः ॥२७॥

श्रीखंडे इत्यादि । जिनस्य जिनेश्वरस्य । गात्रे शरीरे । इभ्यं प्रवृद्धं “इभ्य आद्ये क-रेषां तु भवेदिभ्या तु शल्लकौ” इति विश्वः । सौरभ्यं सुरभिरिव सौरभ्यं परिमलं । अवगंतुम् ये ये गत्यर्थास्ते ते ज्ञानार्था इति न्यायाद्भवोद्धुं । श्रीखंडपंडेन श्रीखंडानां पंडं तेन श्रीगंधानां कदंबेन “कदंबे पंडमस्त्रियाम्” इत्यमरः । प्रहितः प्रहीयतेस्म तथोक्तः प्रंरितः । चारुः मनोहरः । मलयाद्रिवातः मलयश्चासौ अद्रिश्च मलायाद्रिस्तस्य वातस्तथोक्तः । प्रभूतभीतेरिव प्रभूता चासौ भीतिश्च तथोक्ता तस्या इव प्रचुरभयादिव “प्रचुरं प्राज्यम्” इत्यमरः । कंपमानः कंपत इति कंपमानः वेपमानः । चचार विजहार चर गतिभक्षणयोः लिट् उत्प्रेक्षा ॥२७

भा० अ०—श्रीजिनेन्द्र भगवान् की देह से प्रवाहित हांती हुई बड़ी चढ़ी हुई स्वाभाविक सुगन्ध श्रीखण्डकदम्ब से जानने के लिए भेजी गयी मलयाद्रि वायु अत्यन्त भय-त्रस्त हो काँप २ कर बहती हुई किसी ज्ञात होती थी । २७ ।

प्रकाशते भानुसहस्रतुल्यं तथाप्यहां नेत्रमुखैकहेतुः ॥

कुमारकोऽसाविति लज्जितः किं बभूव मंदोष्णरुचिर्विवस्वान् ॥२८॥

प्रकाशत इत्यादि । विवस्वान् सूर्यः । मंदोष्णरुचिः मंदमुष्णं यस्यास्ता मंदोष्णा रुचिर्यस्यासाविति पुनर्बसः अरुपोष्णकिरणः “स्युः प्रभाह्यु चिस्त्विड् भा” इत्यमरः । बभूव अभूत् । असौ अयं । कुमारः जिनबालकः । भानुसहस्रतुल्यं भानूनां सहस्रं भानुसहस्रं तेन तुल्यं अर्कसहस्रसमं यथा तथा । प्रकाशते भासते काष्ठ दीप्तौ लट् । तथापि-नेत्रमुखैकहेतुः नेत्राणां सुखं तथोक्तं एकश्चासौ हेतुश्च एकहेतुः नेत्रसुखस्य एकहेतुस्तथोक्तः नयनाहादनमुख्यहेतुः । अहो आश्चर्यमिति लज्जितः किं । संशयः ॥ २८ ॥

भा० अ०—ये जिनकुमार हजारों सूर्य के तुल्य जाज्वल्यमान होते हुए भी नेत्र-सुखद हो रहे थे यह जानकर ही मानों सूर्य लज्जित हो मन्दीष्ण कान्तियुक्त हो गया । २८ ।

शुचित्ववृद्धेरसपत्नहेतोर्जिनस्य भक्त्या शुचयः कुरुध्वम् ॥

प्रदक्षिणां यूयमितीव वक्तुं प्रदक्षिणात्वेन शुचिर्दिदीपे ॥२९॥

शुचित्वेत्यादि । शुचयः भो निर्मलाः यूयं शुद्धनिश्चयनयापेक्षया द्रव्यभावकर्मरहित-
त्वाद्यथा व्यवहारनयापेक्षया जातिकुलाचाराद्यमलिनत्वाज्जनाः शुचय इत्यामंत्रयन्ते भवन्तः ।
शुचित्ववृद्धेः शुचेर्भावः कृत्यं वा शुचित्वं तस्य वृद्धिशुचित्ववृद्धिस्तस्याः निर्मल-
त्ववर्धनस्य । असपत्नहेतोः न विद्यते सपत्नो यस्य सोऽसपत्नः स चासौ हेतुश्च
तथोक्तस्तस्य “शत्रुः सपत्नो भ्रातृव्यः प्रत्यनीको द्विषन्मतः” इति हलायुधः ।
अद्वितीयहेतुभूतस्येत्यर्थः । जिनस्य अर्हन्नाथस्य । प्रदक्षिणां परितिक्रियां । भक्त्या
गुणानुरागेण । कुरुध्वं विदध्वं । इति वक्तुमिव वचनाय वक्तुं एवमभिधातुमिव ।
शुचिः भग्निः । “शुचिः शुद्धेऽनुपहते शृगांरापाढयोस्मिते । श्रोष्णे हुतवहेऽपि स्यादुप-
धाशुद्धमंत्रिणि” इति विश्वः । प्रदक्षिणात्वेन प्रदक्षिणस्य भावः प्रदक्षिणत्वं तेन । दिदीपे
ज्वलतिस्म । उत्प्रेक्षा ॥२९॥

भा० अ०—हे पवित्र धर्मात्माओ! तुम पवित्रता के एकमात्र कारण श्रीजिनैन्द्र
भगवान् की प्रदक्षिणा करो । मानों ऐसा कहने को कटिबद्ध होकर ही अग्नि प्रदक्षिणा-
रूप से प्रज्वलित हुई । २९ ।

रजांसि धर्मामृतवर्षणेन जिनांबुवाहः शमयिष्यतीति ॥

न्यवेदयन्नंबुधरा नितांतं रजोहरैर्गंधजलामिषैः ॥३०॥

रजांसित्यादि । अंबुधराः अंबूदकं धरंतीत्यंबुधराः मेघाः । रजोहरैः रजांसि
हरंतीति रजोहरास्तैः धूलिविनाशकैः । गंधजलामिषैः गंधेन युक्तानि जलानि तेषा-
मभिवर्षास्तैः परिमलसलिलवृष्टिभिः । जिनांबुवाहः अंबु वहंतीत्यंबुवाहः जिन ए-
वांबुवाहस्तथोक्तः जिनेश्वरमेघः । रूपकः । धर्मामृतवर्षणेन रत्नत्रयात्मको धर्मस्स पद्मा-
मृतं तस्य वर्षणं तेन धर्मसुधावर्षणेन । रूपकः । रजांसि धूलीः पापपांशूनित्यर्थः । शम-
यिष्यति दमयिष्यति शम् दम् उपशमने लृट् । नितांतं न्यवेदयन् । सूचयंतिस्म विद् ब्राने
लङ् उत्प्रेक्षा ॥३०॥

भा० अ०—जिनैन्द्र-जलधर धर्मामृत-वर्षण से सभी जीवों के पापपुंज को नष्ट करेंगे
ऐसी बात जानने के लिये ही मानों मेघ ने सुगन्ध जलवृष्टि से सभी धूलिसमूह को
नष्ट कर दिया । ३० ।

जिनस्य कालारिरितिप्रसिद्धिं विबुध्य भीता इव सेवनाय ॥

वनाय सर्वे सहसावतेर्बसंतमुरव्याः सममेव कालाः ॥३१॥

जिनस्येत्यादि । कालारिरिति कालस्य यमस्यारिशशत्रुरिति समयारिरितिध्वनिः । “कृतांतानेहसोः कालः” इत्यमरः । प्रसिद्धिं रव्याति । विबुध्य बोधनं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति विबुध्य विज्ञाय । भीता इव बिभ्यतिस्म भीता इव । जिनस्य जिनेश्वरस्य । सेवनाय आराधनाय । वसंतमुरव्याः वसंतो मुरव्यो येषां ते तथोक्ताः । सर्वे कालाः समस्त-
श्रुतवः । सममेव सहैव । वनाय इत्यत्र “कर्मणः” इति कर्मणि चतुर्थी वनमलंकर्तुमित्यर्थः । सहसा शीघ्रेण । “अतर्किते सहसा” इत्यमरः अवतेहः आजगमुः । तृ प्लवतरणयोः लट् विभ्रमः ॥३१॥

भा० अ०—कालारि (यम के शत्रु) ऐसी उपाधि जान मानों भयभीत होकर ही बसन्त आदि सभी ऋतुओं ने श्रीजिनेन्द्र भगवान् की सेवा करने के लिये एक ही साथ वन के लिये प्रस्थान किया । ३१ ।

अहो विभुक्ते सवितारमेषा तमीश्वरं द्वेष्टि च पश्यतेति ॥

द्विरेफवृत्तिं जिनजन्मदंभादंभोजिनीमुत्पलिनी जहास ॥३२॥

अहो इत्यादि । एषा इयं । सवितारं भानुं पितरं “सवित्री जननी माता जनकस्स-
विता पिता । यमुना यमकानोनजन कस्सविता मतः” इत्युभयत्रापि धनंजयः । विभुक्ते अनु-
भवति । तमीश्वरं तम्याः रात्रेरीश्वरः पतिस्तं । “रजनी यामिनी तमी” इत्यमरः । पक्षे तं
प्रसिद्धं ईश्वरं धवं । द्वेष्टि च कुंध्यति च द्विष् अप्रीती लट् । अहो हंत अद्भुतं वा । द्विरेफ-
वृत्तिं द्विरेफाणां भ्रमराणां वृत्तिर्जीवनं यस्यास्ता तां “वृत्तिर्वर्तनजीवने” इत्यमरः । पक्षे रेफे
च ते वृत्ती च रेफवृत्ती अधमवर्तने यस्यास्ताः “रेफो रवर्णे सम्प्रोक्तः कुत्सिते वाच्यवत्पुनः”
इति विश्वः । पितृभोगपतिविद्वे परूपिणीं च वर्तनद्वयवतीमित्यर्थः । अंभोजिनीं अंभोजान्यस्याः
संतीत्यंभोजिनी तां पद्मिनीं कामिनीमिति ध्वनिः । पश्यतेति प्रेक्षध्वं लोका इति । जिनजन्म-
दंभात् जिनस्य जन्म तथोक्तं जिनजन्मैव दंभस्तस्मात् जिनेशोत्पत्तिव्याजात् । कपटो-
ऽस्त्री व्याजदंभोपधयः” इत्यमरः । अन्यथा स्वस्याश्च तद्दोषोपपत्तेः । उत्पलिनी कुमुदिनी
उत्पला संत्यस्या इत्युत्पलिनी । जहास हसतिस्म हस हसने लिट् । अरुणोदये
सत्यपि जिनेद्रोदयप्रभावाद्स्फुटदिति भावः । चिरोधालंकारः ॥३२॥

भा० अ०—द्वेषो ! कैसी आश्चर्य-जनक घटना है कि, पद्मिनी सूर्य (अपने पिता) का उपभोग तथा चन्द्रमा पति से द्वेष करती है—यह कहती हुई कुमुदिनी ने भ्रमरवृत्ति (नीचा चरण) वाली पद्मिनी की हसी उड़ायी ॥ ३२ ॥

अप्यद्यथावन्मधुपाननिष्ठाः संप्रत्यपापा इति गानभंग्या ॥

भृंगा वदंतो विविशुः प्रतीत्यै पद्माग्निकुंडेषु परीत्य विद्मः ॥३३॥

अपीत्यादि । यावद्द्यापि एतत्कालपर्यन्तं । मधुपाननिष्ठाः मधुनः पुष्परसस्य पानं तस्मिन्निष्ठाः तत्पराः । “मधु मद्ये पुष्परसे” इत्यमरः । संप्रति इदानीं जिनजननोत्सव इत्यर्थः । अपापा इति न विद्यते पापं येषां ते तथोक्ताः । इति गानभंग्या गानस्य भंगी तथोक्ता तथा संगीतरचनया “भंगा तु गणसंज्ञके भंगी प्रकर” इति नानार्थरत्नमालायां । वदन्तः वदंतीति वदंतः । भृंगाः मधुलिहः । प्रतीत्यै शपथाय । पद्माग्निकुंडेषु अग्नेः कुंडानि अग्निकुंडानि पद्मान्येवाग्निकुंडानि तथोक्तानि तेषु रक्तसरोरुहानलकुंडेषु । परीत्य पर्ययणं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति परीत्य प्रदक्षिणीकृत्य । विविशुः विशंतिस्म इति । विद्मः जानीमः विद्माने लट् उत्प्रेक्षा ॥३३॥

भा० अ०—जान पड़ता है कि अब तक मधुपान में लीन भ्रमरों ने “हम निष्पाप हैं” इस बात को अपने मधुर गानद्वारा सूचिन करते हुए प्रतीति (शपथ) के लिये रक्त कमलरूप अग्निकुण्ड में प्रदक्षिणा करते हुए प्रवेश किया । ३३ ।

मुक्तारजोभिर्बहुकंटकैश्च जिनप्रभावेण समुज्ज्वलात्मा ॥

वसुंधराऽपि प्रमदेन जाता सम्यच्छलांकुरितरोमराजिः ॥३४॥

मुक्त्यादि । जिनप्रभावेण जिनस्य प्रभावस्तथोक्तस्तेन जिनेश्वरसामर्थ्येन । रजोभिः धूलिभिः पापैश्च । बहुकंटकैश्च बहूनि कंटकानि तथोक्तानि तैः बहुकंटकैः विघ्नैश्च । मुक्ता मुच्यतेस्म मुक्ता विरहिता । समुज्ज्वलात्मा समुज्ज्वल आत्मा यस्यास्सा तथोक्ता । सम्यक्प्रकाशात्मा । वसुंधरापि भूम्यपि । प्रमदेन संतोषेण । सम्यच्छलांकुरितरोमराजिः सस्यान्येव च्छलं सम्यच्छलं अंकुरः संजातः अस्या इत्यंकुरिता रोम्णां राजिः तथोक्ता अंकुरिता चासौ रोमराजिश्च तथोक्ता सम्यच्छलेनांकुरिता रोमराजिर्यस्यास्सा तथोक्ता “अंकुरश्चांकुरः प्रोक्तः” इति हलायुधः । “अंकुरोऽंकुरमस्त्रियौ” इति वैजयंती च । जाता जायतेस्म जाता सम्भूता । श्लेषः ॥३४॥

भा० अ०—धूलि तथा कंटकों का एकमात्र वहिष्कार किये हुई और जिनेन्द्र भगवान् के प्रभाव से तेजोमय आत्मावाली पृथ्वी ने हर्षाधिक्यसे सम्यक्सम्पन्नता के बढ़ाने आनन्द के रोगटे प्रकटित किये ॥ ३४ ॥

स्वभावशुद्धा अपि सर्वजीवाश्चिरं रजोभिः परिभूयमानाः ॥

न केवलं निर्गलितेषु तेषु दधुः प्रसादं ककुभोऽपि सद्यः ॥ ३५ ॥

स्वभावेत्यादि । स्वभावशुद्धा अपि स्वभावेन शुद्धास्तथोक्ता अपि स्वरूपेण निर्मलाश्च । रजोभिः ज्ञानावरणादिकर्मरजोभिः । चिरं बहुकालपर्यन्तं । परिभूयमानाः परिभूयन्त इति परिभूयमानाः समाहियमाणाः । सर्वजीवाः सर्वे च ते जीवाश्च सर्वजीवाः । अखिल-भयजनाः । तेषु कर्मरजस्तु । निर्गलितेषु जिनोदयप्रभावाद्भिगलितेषु सत्सु । केवलं परं । प्रसादं प्रसन्नतां । न दधुः न बभुः । अपितु—स्वभावशुद्धा अपि स्वरूपेणामलाश्च । चिरं दीर्घकालं । रजोभिः मेघरजोभिः । परिभूयमाणाः व्याप्रियमाणाः । ककुभोऽपि दिशोऽपि । सद्यः तदैव । तेषु मेघावरणेषु । निर्गतेषु विगलितेषु । प्रसादं प्रसन्नतां । दधुः धरतिस्म । डुध्याञ्च धारणे च लिट् सर्वभयप्राणिनो दिशश्च निर्मलतां प्राप्नुवति भावः ॥ ३५ ॥

भा० आ०—स्वभावशुद्ध होने पर भी ज्ञानावरणादि कर्मकालिमा से चिरकाल से कलंकित, केवल सभी भय जीवों ने ही नहीं बल्कि सभी दिशाओं ने भी जिनजन्मोदय के प्रभाव से कर्मरज के विनष्ट होने पर तुरत स्वच्छता धारण कर ली ॥ ३५ ॥

गृहेषु शंखा भवनामराणां वनामराणां पटहाः पदेषु ॥

ज्योतिस्सुराणां सदनेषु सिंहाः कल्पेषु घंटाः स्वयमेव नेदुः ॥३६॥

गृहेष्वित्यादि । भवनामराणां भवने विद्यमाना अमरा भवनामरास्तेषां भवनवासिदेवानां । गृहेषु सदनेषु । शंखाः शंखवाद्यानि । वनामराणां वने विद्यमाना अमरा वनामरास्तेषां व्यन्तरदेवानां । पदेषु स्थलेषु । पटहाः भेर्यः । ज्योतिस्सुराणां जोतिर्लोकके विद्यमानास्सुराः ज्योतिस्सुरास्तेषां ज्योतिर्देवानां । सदनेषु भवनेषु । सिंहाः सिंहनादाः । कल्पेषु स्वर्गेषु । घंटाः घंटावाद्यानि । स्वयमेव अनन्यप्रेरणयैव । नेदुः रेणुः । नद अव्यक्ते शब्द लिट् ॥ ३६ ॥

भा० अ०—जिनेन्द्र भगवान् के जन्म होते ही भवनवासी देवों के घर में शंख, व्यन्तरवासी अमरों के गृहों में भेरी तथा ज्योतिर्लोकवासी देवताओं के गृहों में सिंहनाद आप से आप बजने लगे ॥ ३६ ॥

पुष्पाः पतंतो नभसः सुधांशोरेणस्य सिंहध्वनिजातभीतेः ॥

पदप्रहारैः पततामुद्गूनां शंकां तदा विद्रवतो वितेनुः ॥३७॥

पुष्पा इत्यादि । तदा तत्समये । नभसः आकाशात् । पतन्तः पतंतीति पतन्तः । पुष्पाः कुसुमानि । “पुष्पोऽस्त्री कुसुमम्” इति वैजयन्ती । सिंहध्वनिजातभीतेः सिंहस्य ध्वनिस्तथोक्तः सिंहध्वनिना जाता भीतिस्तथोक्ता तस्याः । ज्योतिर्गणसमुद्भूतसिंहनादप्रभवाद्भयात् । विद्रवतः विद्रवतीति विद्रवन् तस्य पलायमानस्य । सुधांशोः सुधारूपा अंशवो

यस्य सः तस्य निशाकरस्य संबन्धिनः । एणस्य मृगस्य । पदप्रहारैः पदानां प्रहारास्तैः चरणाभिघातैः । पततां पतंतीति पतंतस्तेषां । उडूनां नक्षत्राणां । “तारकाप्युडु वा स्त्रिया-म्” इत्यमरः । शंकां संशयं । वितेनुः चक्रुः । तनु विस्तारे लिट् उत्प्रेक्षा ॥३७॥

भा० अ०—आकाश से जो जिनेन्द्र-जन्म-सूचक सुमन-वृष्टि हो रही थी वह सिंह गर्जन से भयत्रस्त अतः भागते हुए चन्द्र-मृग के पाद-प्रहार से गिरते हुए नक्षत्रों का सन्देह उत्पन्न कर रही थी ॥ ३७ ॥

अभ्रात्पतंतो मणयस्तदानीमुच्चंडघंटाध्वनिताडनेन ॥

भिन्नेन्द्रकोशालयतो जनानां मतिं वितेनुर्गलतां मणीनां ॥३८॥

अभ्रादित्यादि । तदानीं तस्मिन्काले तदानीं । अभ्रात् आकाशात् । पतन्तः पतंतीति पतन्तः । मणयः रत्नानि । उच्चंडघंटाध्वनिताडनेन घंटानां ध्वनिः घंटाध्वनिः उच्चंडध्वा-सौ घंटाध्वनिश्च तथोक्तः उच्चंडघंटाध्वनेस्ताडनं तेन प्रचंडघंटानिनादप्रहारेण । भिन्नेन्द्र-कोशालयतः कोशालयः इन्द्रस्य कोशालयः इन्द्रकोशालयः भिन्नध्वासी इन्द्रकोशालयश्च तथोक्तस्तस्मात्ततः स्फुटितशकमांडागारात् । गलतां गलंतीति गलंतस्तेषां पततां । मणीनां रत्नानां । मतिं बुद्धिं । जनानां लोकानां । वितेनुः विदधुः । तनुञ् विस्तारे लिट् उत्प्रेक्षा ॥३८॥

भा० अ०—इस समय कल्पलोक में होती हुई रत्नवृष्टि ने घंटा के गंभीरनाद से छिन्न भिन्न हुए इन्द्र के खजाने से गिरती हुई मणियों का भ्रम उत्पन्न कर दिया ॥ ३८ ॥

जाते जिने माजनि भूजनानां विपत्कणोऽपीति विभुत्वशक्त्या ॥

बंदीकृतानीव भुवि ग्रहाणां बलानि रेजुमणयो विकीर्णाः ॥३९॥

जात इत्यादि । विकीर्णाः विकीर्यंतेस्म विकीर्णाः विक्षिप्ताः । मणयः रत्नानि । जिने अर्हदीश्वरे । जाते उत्पन्ने सति । भूजनानां भुवि विद्यमाना जनाः भूजनास्तेषां मानवानां । विपत्कणोऽपि विपदः कणः विपत्कणः आपत्तिलेशोऽपि । “लवलेशकणाणव” इत्यमरः । माजनीति मा भूदिति जनैश्च प्रादुर्भावे लुङ् “दित्यडिणपेदः” । विभुत्वशक्त्या विभोर्भावो विभुत्वं तस्य शक्तिः विभुत्वशक्तिस्तया प्रभुत्वसामर्थ्येन । भुवि भूमौ । ग्रहाणां नवग्रहाणाम् बलानि सैन्यानि । बंदीकृतानि बन्धयः कियंतेस्म बंदीकृतानि तानीव कारागारे क्षिप्तानीव “प्रप्रहोपग्रहौ बंध्याम्” इत्यमरः । रेजुः बभुः राजृ दीप्तौ लिट् उत्प्रेक्षा ॥ ३९ ॥

भा० अ०—जिनेन्द्र भगवान् के जन्म लेने पर रत्न-वृष्टि से इधर उधर विखरी हुई मणियाँ—भूतलवासी जीवों को तनिक भी दुःख नहीं हो—ऐसी धारणा से मानों शासन-

शक्ति के द्वारा कष्टप्रद नवग्रहों की बँधी हुई सेना को लो ह्रात होती हैं ॥ ३६ ॥

देवोत्तमांगान्यखिलोत्तमानामानम्यपादस्य विभोः प्रणामैः ॥

सार्थं स्वनामैव विधातुकामानानेमुरत्यद्भुतमात्मनैव ॥४०॥

देवोत्तमांगानीत्यादि । अखिलोत्तमानां अखिलाश्च ते उत्तमाश्च तथोक्ताः तेषां समस्तश्रेष्ठ जनानाम् । आनम्यपादस्य आनंतुं योग्यौ आनम्यौ पादौ यस्य स तस्य वा सकलोत्कृष्टजनेरपि वंद्यक्रमस्येत्यर्थः । विभोः मुनिसुव्रतस्य । प्रणामैः नमस्करणैः । स्वनाम स्वस्य नाम तथोक्तं स्वकीयमुत्तमांगामिधानं । सार्थं अर्थेन सह वर्तत इति सार्थं सफलं । विधातुकामानिव विधातुं कामानिव विधातुकामानिष “तुमो मनस्कामः” इति तुमो मकारस्य लुक् । देवोत्तमांगानि देवानामुत्तमांगानि तथोक्तानि अमरेंद्रशिरांसि । आत्मनैव स्वेनैव । आनेमुः आनमतिस्म । अत्यद्भुतं अत्याश्चर्यं ॥४०॥

भा० अ०—सभी सभ्यों से वन्दनीय चरणवाले श्रीजिनेन्द्र भगवान् की वन्दना करके, अपने नाम सार्थक करने के इच्छुक इन्द्रों के मस्तक आप से आप झुक जाते हैं यह आश्चर्य है ॥ ४० ॥

जिनामृतांशोरुदितान् त्रिलोक्यामुत्कूलितस्य प्रमदांबुराशेः ॥

प्रत्युच्चलद्द्वीचिवशेन सत्यं भद्रासनानि द्युसदां विचेलुः ॥४१॥

जिनामृतांशोरित्यादि । उदितात् उदेतिस्म उदितन्तस्मात् । जिनामृतांशोः अमृतरूपा अंशवो यस्य स तथोक्तः जिन एवामृतांशुर्जिनामृतांशुस्तस्मात् । त्रिलोक्यां त्रयाणां लोकानां समहारखिलोकी तस्यां । उत्कूलितस्य उत्कूलयतिस्म उत्कूलितस्तस्य उद्वेलितस्य । प्रमदांबुराशेः अंबूनां राशिस्तथोक्तः प्रमद एवांबुराशिस्तथोक्तस्तस्य संतोषाब्धेः । प्रत्युच्चलद्द्वीचिवशेन प्रत्युच्चलंतीति प्रप्युच्चलंत्यस्ताश्च ता वीचयश्च तासां वशः प्रत्युच्चलद्द्वीचिवशस्तेन उच्चलत्तरंगाधीनत्वेन । द्युसदां दिवि सीदंतीति द्युसदस्तेषां देवानां । भद्रासनानि भद्राणि च तानि आसनानि च भद्रासनानि । विचेलुः चकंपिरे चल कंपने लिट् । सत्यं तथ्यं । उत्प्रेक्षा ॥ ४१ ॥

भा० अ०—श्रीजिनेन्द्ररूपी चन्द्रमा के उदय लेने से त्रिभुवन में उद्वेलित हर्षसमुद्र की उत्तुंगतरंग की वश्यता से देवताओं के शुभासन कम्पायमान हुए ॥ ४१ ॥

विज्ञाय तेनाधिपजन्मपीठादुत्थाय ससेत्य पदानि नत्वा ॥

प्रादापयन्मेघहयोऽतिमेघां प्रस्थानभेरीमभिषेक्तुकामः ॥४२॥

विज्ञायेत्यादि । मेघहयः मेघ एव हयोऽप्रवो यस्य सः मेघवाहनशक्रः । “संक्रंदनो

दुश्च्यवनस्तुराषाण्मेघवाहनः” इत्यमरः । तेन भद्रासनकंपनेन । अधिपजन्म अधिकं पातीत्यधिपः तस्य जन्म तथोक्तं जिनेश्वरोत्पत्तिं । विज्ञाय विबुध्य । पीठात् सिंहासनात् । उत्थाय उत्थापनं पूर्वं पश्चात्किंचिदित्युत्थाय । सप्त पदानि । एतय आयनं पूर्वं पश्चात्किंचिदित्येत्य “प्राक्काले” इति क्त्वा प्रत्ययः । “क्त्वोऽनञः प्यः” इति प्यादेशः “ह्रस्वस्य तक् पिति कृति” इति तगागमः । “ओमाङ्गिपरः” इति पररूपत्वं । नत्वा वदित्वा । अभिषेक्तुकामः अभिषेचनायाभिषेक्तुं तत् कामयतीति तथोक्तः । “तुमो मनस्कामः” इति मकारस्य लुक् । अनिमेघां मेघमतिक्रान्ता अतिमेघा तां । निराकृतमेघां प्रस्थानभेरीं प्रस्थानस्य भेरी तथोक्ता तां प्रयाणभेरीं । प्रादापयत् अताडयत् दाप् लवने लङ् ॥ ४२ ॥

भा० अ०—इन्द्र महाराज ने आसन के कम्पित होने से जिनेन्द्र भगवान् का जन्म जान सिंहासन से सात डेग आगे बढ़, बन्दना कर जन्माभिषेक करने की इच्छा से गंभीर ध्वनि से मेघ को भी पददलित करने वाली भेरी बजाई ॥ ४२ ॥

शंखादयोऽर्हज्जननं प्रणादैरेकैकलोकं स्वमबूधुधंस्ते ॥

तत्सर्वलोकानभिषेकयात्रां सा बोधयामीति मदादिव्राप ॥४३॥

शंखादय इत्यादि । शंखादयः शंख आदिर्येषां ते तथोक्ताः शंखपूर्वाः । अर्हज्जननं अर्हतो जननं तथोक्तं । प्रणादैः ध्वनिभिः । स्वं स्वकीयं । एकैकलोकं एकैकश्चासौ लोकश्च एकैकलोकस्तं एकमेकं लोकं । “वीप्सायाम्” इति द्विः । अबूधुधन् अबोधयन् बुधिमनि ज्ञाने णिजन्ताल्लुङ् “णेरित्के” इत्यादिना णिङ् लुक् “कमूश्चि” इत्यादिना ङ् प्रत्ययः “द्विर्घातुः” इत्यादिना द्विः । “लघोः” इत्यादिना पूर्वस्य दीर्घः । सा भेरी । तत्सर्वलोकान् सर्वे च ते लोकाश्च तथोक्ताः ते च ते सर्वलोकाश्च तथोक्तास्तान् भवनादिसकललोकान् । अभिषेकयात्रां अभिषेकस्य यात्रा तथोक्ता तां जन्माभिषेकयानं । बोधयामीति ज्ञापयामीव बुधिमनि ज्ञाने लट् । मदादिव गर्वादिव । आप ययी आप्लृ व्याप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ ४३ ॥

भा० अ०—शंख आदि वाद्योने अपने गम्भीर निनाद से श्रीजिनेन्द्र भगवान् के जन्म की सूचना अपने प्रत्येक लोक को देदी । तत्पश्चात् “मैं सभी लोगों को जिन-जन्माभिषे की विज्ञप्ति से विज्ञप्त करती हूँ” मानों ऐसे आवेश में आकर ही भेरी बड़े अभिमान से बजी ॥ ४३ ॥

ज्योतिष्कवन्योरगकल्पनाथा भेरीप्रणादादवगत्य यात्राम् ॥

विभूषितांगाः सपरिच्छदाः खे विलोक्यन्तः शतमन्युमस्थुः ॥४४॥

ज्योतिष्केत्यादि । ज्योतिष्कवन्योरगकल्पनाथाः ज्योतीषि एव ज्योतिष्काः वने-

भवाः वन्याः ज्योतिष्काश्च वन्याश्च उरगाश्च कल्पानां नाथाः कल्पनाथाश्च तथोक्ताः । भेरि-
प्रणादात् भेर्याः प्रणादस्तस्मात् दुन्दुभिनादात् । यात्रां प्रयाणं । अवगत्य ह्यात्वा । विभूषि-
तांगाः विभूष्यतेस्म विभूषितं विभूषितमंगं एषां ते तथोक्ताः अलंकृतशरीराः । सपरिच्छदाः
परिच्छदेन सह वर्तत इति तथोक्ताः परिवारसहिताः । शतमन्युं देवेन्द्र' । विलोकयंतः
विलोकयंतीति तथोक्ताः शत्रुप्रत्ययः । वीक्षमाणाः खे आकाशे । तस्थुः आसिरे
ष्ठा गतिनिवृत्तौ लुङ् ॥ ४४ ॥

भा० अ०—ज्योतिष्क, भवन तथा कल्पवासी सभी इन्द्र अपने परिवार-सहित दुन्दुभि-
निनाद से जन्माभिषेक-यात्रा जान कर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो आकाश में
देवेन्द्र की प्रतीक्षा कर रहे थे ॥ ४४ ॥

सामानिकैर्दिक्पतिभिः पदातिगंधर्वहस्त्यश्वरथाद्यनीकैः ॥

शरीररक्षैश्च समन्वितोऽयं शच्या सहाऽस्थाय गजं प्रतस्थे ॥४५॥

सामानिकैरित्यादि । सामानिकैः सामानिकदेवैः । दिक्पतिभिः दिशां पतयस्तथो-
क्तास्तेः । पदातिगंधर्वहस्त्यश्वरथाद्यनीकैः पदातयश्च गंधर्वाश्च हस्तिनश्च अश्वाश्च रथाश्च
पदातिगन्धर्वहस्त्यश्वरथास्ते आदिर्येषां तानि तथोक्तानि पदातिगन्धर्वहस्त्यश्वर-
थादीनि च तान्यनीकानि च तथोक्तानि तैः आदिशब्देन वृषममहिषनर्त्तक्यानीकैः शरीर-
रक्षैश्च अंगरक्षकसुरैश्च समन्वितः समन्वेतिस्म समन्वितः सहितः । शच्या इन्द्राण्या ।
समं सह । अयं सौधर्मन्द्रः । गजं ऐरावतगजेन्द्र' । आस्थाय आस्थानं पूर्वं पश्चात्किंचिदित्या-
स्थाय आरुह्य । प्रतस्थे प्रथयौ । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लिट् ॥ ४६ ॥

भा० अ०—सामानिक देव, दिक्पाल, गन्धर्व, शरीर-रक्षक तथा शची के और
पादाति, हयदल, गजदल तथा रथ-दल आदि सैनिकों के साथ लेकर सौधर्मन्द्र ने ऐरावत
पर चढ़ कर अभिषेकयात्रा के लिये प्रस्थान किया । ४५ ।

सार्थैस्सुरेन्द्रैस्तरिभिर्विमानैस्सांयात्रिकोयं जलधिं विहायः ॥

संतीर्य चिंतामणिमीशितारं संचेतुमेयाय खनिं कुशाग्रम् ॥४६॥

सार्थैरित्यादि । अयं एषः देवेन्द्रः । सांयात्रिकः पोतश्रेष्ठो "सांयात्रिकः पोतवणिक्"
इत्यमरः । सुरेन्द्रैः शेषामरेन्द्रैः । सार्थैः वणिग्नवहैः । "सार्थो वणिक्समूहे स्यादपिसंघात-
मात्रके" इति विश्वः । विमानैः व्योमयानैः । तरिभिः नौभिः । "स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः" इत्यमरः ।
विहायः व्योम । "पुंस्याकाशविहायसि" इत्यमरः । जलधिं अंभोनिधिं । संतीर्यः संतरणं
पूर्वं पश्चात्किंचिदिति संतीर्यं तृपलवनतरणयोः "प्राक्काले" इति क्वा "क्वो नप्रःप्य" इति व्यः

“अंतोपांतता” इति ऋधातोरिगिति दीर्घः । ईशितारं इष्ट इतीशितारं “भर्सेन्द्र इन ईशिता” इति धनंजयः । चिन्तामणिं चिंतितार्थप्रदानो मणिश्चिन्तामणिस्तं । संचेतुं संचयनाय संचेतुं लब्धुं । कुशाग्रं कुशाग्रापरनामधेयं राजपुरं । खनिं आकरं । एयाय इष् गती आङ्पूर्वाल्लिट् आययौ रूपकालंकारः ॥ ४६ ॥

भा० अ०—ये देवेन्द्र समुद्रयात्रि-रूप से व्यापारीरूप अन्यान्य सुरेन्द्रों के साथ नौका-रूपी विमानों के द्वारा समुद्ररूपी आकाश को पार कर समस्त इष्ट पदार्थों को देनेवाली चिन्तामणिरूपी श्रीजिनेन्द्र भगवान् को प्राप्त करने के लिये रत्नद्वीपरूपी कुशाग्र नामक राजपुरी में आये । ४६ ।

इंद्रोऽथ रुद्रविभवं गणिकानिकायसंगीतकेलिरुचिरं रचिताष्टशोभं ॥

भक्त्या परीत्य पुरवन्नृपवासमीशं आनेतुमंतरचिरेण ससर्ज कांतां ॥४७॥

इन्द्र इत्यादि । अथ अनंतरं । इन्द्रः पुरंदरः । रुद्रविभवं रुद्रोविभवो यस्य तत् महासंपत्समेतं । गणिकानिकायसंगीतकेलिरुचिरं गणिकानां निकायस्तस्य संगीतं गीतवाद्यनृत्यत्रयं संगीतमिति केवलगीतमात्रस्य गीतनृत्यवाद्यानामपि संज्ञासंभवात् तस्य केलिः लीला तथा रुचिरं सुन्दरं । रचिताष्टशोभं अष्ट च ता शोभाश्च अष्टशोभाः रचिताष्टशोभा यस्य तत् निर्मिततोरणाद्यष्टशोभासहितं । नृपवासं नृन् पातीति नृपस्तस्य वासो नृपवासस्तं नरेन्द्रमंदिरं । पुरवत् पुरमिव पुरवत् पत्तनमिव । भक्त्या भजनं भक्तिस्तया । परीत्य पर्ययणं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति परीत्य पूर्वं पुरं प्रदक्षिणीकृत्य पश्चाद्राज-मंदिरं च प्रदक्षिणीकृत्येत्यर्थः । ईशं जिनेश्वरं । आनेतुं आनयनाय आनेतुं संग्रहीतुं । अन्तः हर्म्यस्यावाक् । अचिरेण शीघ्रेण । कांतां शचीदेवीं । ससर्ज प्रेषयतिस्म । सृज विसर्गो लिट् ॥ ४७ ॥

इत्यर्हदासकृतेः काव्यरत्नस्य टीकायां सुखबोधिन्यां भगवज्जिननेत्सववर्णने नाम
चतुर्थः सर्गोऽयं समाप्तः

भा० अ०—इन्द्र ने बहुधन-सम्पन्न अप्सराओं के नृत्य तथा गीत से सुमनोहर और तोरण वन्दनवार आदि अष्टशोभा से युक्त राजमन्दिर की प्रदक्षिणा के बाद भक्तिपूर्वक श्रीजिनेन्द्र भगवान् को लाने के लिये इन्द्राणी को शीघ्र अन्तःपुर में भेजा । ४७ ।



॥ अथ पंचमः सर्गः ॥



अदृश्यरूपाथ गृहे प्रविश्य ददर्श बालामृतभानुमारात् ।

शची जनन्याः स्थितमंबरांते सुधारसस्यंदिनमीक्षणानाम् ॥ १ ॥

अदृश्यरूपेत्यादि । अथ अनंतरम् । शची इन्द्राणी । अदृश्यरूपा द्रष्टुं योग्यं दृश्यं न दृश्यमदृश्यं अदृश्यरूपं यस्यास्मा तथोक्ता परोक्षरूपा । गृहे सद्ने प्रविश्य प्रवेशं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति प्रविश्य अंतर्गत्वा । जनन्याः मातुः । अंबरांते अंबरस्य वस्त्रस्य गगनस्य वा अंतर्त्स्मिन् “अंतेऽस्वय्यवहिनौ मृत्योस्वरूपे निश्चरन्ति खे । अंबरं वाससि व्योम्नि” इत्यप्यभिधानात् । स्थितं तिष्ठतिस्मिन् स्थितस्तं । ईक्षणानां नेत्राणां । सुधारस-स्यंदिनं सुधायाः रसस्सुधारसः स्यंदत इत्येवं शीलः स्यंदी सुधारसस्य स्यन्दी तथोक्तस्तं अमृतरसस्त्राविणं । बालामृतभानुं अमृतरूपा भानवो यस्य स तथोक्तः बाल एवामृतभानुस्तथोक्तस्तं बालचन्द्रमसं रूपकः । “भानूरश्मिदिवाकरौ” इत्यमरः । आरात् समीपे । “आराद् रसमीपयोः” इत्यमरः । ददर्श पश्यतिस्मिन् दृष्ट प्रेक्षणे लिट् ॥ १ ॥

भा० अ०—इसके बाद अलक्षित रूप से शची ने भीतर महल में प्रवेश कर आँखों के लिये सुधारस स्त्रावी तथा अपनी माता के अंचल के भीतर बैठे हुए उस बालचन्द्र-रूप जिनबालक को देखा ॥ १॥

वहंत्यसौ भक्तिरसप्रवाहं दिदृक्षमाणैव दृढावलंबम् ॥

ममर्ष्य मायाशिशुमंबिकायाः पुरो जहारोन्नतवंशमेनम् ॥ २ ॥

वहंतीत्यादि । भक्तिरसप्रवाहे भक्तिरेव रसस्तथोक्तस्तस्य प्रवाहः भक्तिरसप्रवाहस्तस्मिन् गुणानुरागजलप्रवाहे । वहन्तीति वहन्ती मज्जती शत्रुप्रत्ययः “उगिदच” इत्यादिना नम् “नृदुगिद्” इत्यादिना डी । असौ इयं शची महादेवी । दृढावलंबं दृढं च तत् अवलंबं च तथोक्तं गाढाधारं । दिदृक्षमाणेव दिदृक्षत इति दिदृक्षमाणा “स्मृदृश” इति तङ्त्वादानश् द्रष्टु-मिच्छंतीव । अंबिकायाः जिनजनन्याः । पुरः अग्रे । मायाशिशुं मायारूपः शिशुस्तथोक्तस्तं कपटबालकं । ममर्ष्य समर्पणं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति स्थापयित्वा । एनं इमं “त्यदादिम्”

इत्यादिनाम्वादेशः । उन्नतवंशं उन्नतो वंशो यस्य सः उन्नतधाम्नी वंशश्च तथोक्तस्तं
“सद्गोत्रं प्रांशुवेणुं वा द्वौ वंशौ कुलमस्करौ” इत्यमरः । जहार हरतिस्म हञ् हरणे लिट्
श्लेषः ॥ २ ॥

भा० अ०—भक्तिरम-प्रवाह में प्रवाहितहोती हुई तथा प्रधान आधार को देखने की
इच्छा करती हुई शची ने माता के आगे कपटमय बालक को रख कर उस उच्च वंशत
जिनकुमार को उठा लिया ॥२॥

पाण्योर्जिनं न्यम्य निरीत्य हर्म्याद्भ्रजंत्यसौ वल्लभमाभिमुख्यात् ॥

द्विरेफमध्यांबुरुहेव रेजे सरोजिनी. भानुमभिस्फुरन्ती ॥ ३ ॥

पाण्योरित्यादि । पाण्योः हस्तयोः । जिनं जिनेश्वरं । न्यम्य न्यसनं
पूर्वं पश्चात्किंचिदिति न्यस्य समर्प्यं । हर्म्यात् सौध्यात् । निरीत्य निर्गत्य ।
वल्लभं निजप्राणकान्तम् । आभिमुख्यात् अभिमुखमेवाभिमुख्यं तस्मात् सन्मु-
खात् । व्रजन्ती व्रजतीति व्रजन्ती । असौ इयं इन्द्राणी । द्विरेफमध्यांबुरुहा द्विरेफो मध्ये
यस्य तत् तथाक्तं अंबुनि रोहतीत्यंबुरुहं द्विरेफमध्यमंबुरुहं यस्यास्मा तथोक्ता अंतर्वि-
द्यमानमधुकरकमञ्चुका । भानुं सूर्यं । अभिस्फुरन्ती अभिमुखं स्फुरन्ती भासमाना । सरो-
जिनीव सरोजानि संत्यस्यामिति सरोजिनो पद्मिनी । रेजे यमौ राजृञ् दीप्तौ लिट् उत्प्रेक्षा ॥३॥

भा० अ०—जिनकुमार को दोनों हाथों में ले राजभवन में निकल कर अपने स्वामी
इन्द्र के पास जाती हुई इन्द्राणी, गुञ्जागम्य भ्रमरों से अधिष्ठन तथा सूर्य को लक्ष्य करके
हर्ष से कम्पित होती हुई कमलिनी के समान शोभती थी ॥ ३ ॥

जिनास्यचंद्रेक्षणमात्रतोऽभृच्चतुर्निकायामरगामिंधुः ॥

विश्रृंग्वलो यव मुखस्मितानि विनेनिरे फेनविभंगलीलाम् ॥४॥

जिनास्येत्यादि । चतुर्निकायामरगामिंधुः चत्वारो निकाया येषां ते तथोक्ताः चतुर्नि-
कायाश्च ते अमराश्च तथोक्ताः राग एव सिंधुस्तथाक्तः चतुर्निकायामराणां रागसिंधुस्तथोक्तः
चतुःसमूहदेवरागसमुद्रः । जिनास्यचंद्रेक्षणमात्रतः जिनास्यास्यं तथोक्तं जिनास्यचंद्रेक्ष-
णमेव जिनास्यचंद्रेक्षणमात्रं तस्मात् जिनास्यचंद्रेक्षणमात्रतः जिनास्येन्दुदर्शनादेव ।
विश्रृंग्वलः विगता शृंग्वला यस्य सः तथोक्तः अतिक्रान्तवेलः । अभृत् अभवत् । यत्र
यस्मिन् यत्र रागसमुद्रे । मुखस्मितानि मुखाणां स्मितानि आस्येष्वसुनानि । फेनविभंग-
लीलां फेनानां विभंगाः फेनविभंगास्तेषां स्लीला तां डिंडिरखंडलीलां । “भंगस्तरंगे लभेदे भे-
दे जयविपर्यये” इति विश्वः । विनेनिरे विस्तारयतिस्म तनूञ् विस्तारे लिट् ॥४॥

भा० अ०—भवन, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा विमानवासी देवताओं का भानन्द-सागर श्रीजिनकुमार का मुख चन्द्र देखते ही उमड़ पड़ा और वहाँ उन (देवों) की मुस्कुराहट समुद्र के फेन-भङ्ग का दृश्य दरसाने लगी ॥ ४ ॥

दिवौकसां बालसुधामरीचिर्जयस्वनापूरितदिक्टानाम् ॥

हृदक्षिहस्तान् कुमुदेंदुकांतकुशेशयार्थान् कुरुतेस्म सद्यः ॥५॥

दिवौकसामित्यादि । बालसुधामरीचिः सुधारूपाः मरीचयो यस्य स तथोक्तः बाल पत्र सुधामरीचिस्तथोक्तः जिनबालेंदुः रूपकः । जयस्वनापूरितदिक्टानां जयेति स्व-नस्तेन आपूरितानि जयस्वनापूरितानि दिशां तटानि दिक्टानि जयस्वनापूरितानि दिक्टानि येषां ते तथोक्तास्तेषां । दिवौकसां दिवि ओकः स्थानं येषां ते तथोक्तास्तेषां अमराणां “ओकस्सद्वाश्रयश्चौकाः” इत्यमरः । हृदक्षिहस्तान् हृद्य अक्षिणी च हस्तौ च हृदक्षिहस्तास्तान् चित्तनेत्रपाणीन् । कुमुदेंदुकांतकुशेशयार्थान् कुमुदश्च इन्दुकान्तश्च कुशेश्च तानि कुमुदेंदु-कांतकुशेशयानि तेषामर्थास्तान् कुवलयचंद्रकांतकमलवाच्यानि “अर्थोऽभिधेयैवस्तु प्रयोजननिवृत्तिषु” इत्यमरः । सद्यः तदैव । कुरुतेस्म चक्रं । दुकुञ्ज करणे “स्मे च लङ्” इति भूतानद्यतनेऽर्थे स्म योगे लट् । जिनचंद्रदर्शनादमर्त्यानां हृदयं कुमुदवद्विकसतिस्म अक्षिणी चंद्रकांत इवाद्रवतां हस्तौ कुशेशयवत् मुकुलितौ बभूवतुरित्यर्थः । यथासंख्या-लंकारः ॥५॥

भा० अ०—जयध्वनि से दिशाओं को प्रतिध्वनित किये हुए देवताओं के हृदय, नेत्र तथा हस्तों का जिनकुमाररूप सुधाचन्द्रिका ने कुमुद, चन्द्रकान्त तथा कमल-रूप में परिणत कर दिया । अर्थात् जिनचन्द्र-चन्द्र के दर्शन से देवों के मन कुमुद के समान विक-सित, आँख चन्द्रकान्तवत् द्रवित तथा हस्त कमलवत् सम्पुटित हो गये ॥ ५ ॥

जिनांगलावण्यरसप्रपूर्णे निश्लेषमग्निन जगदन्तराले ॥

विभासुरं तन्नगरं सुराणामजीजनत्पाशिपुराभिशंक्राम् ॥६॥

जिनांगत्यादि । निश्लेषं शेषान्निर्गतं यथा भवति तथा निश्लेषं । जिनांगलावण्यरस-प्रपूर्णे जिनस्यांगं जिनांगं तस्य लावण्यं सौन्दर्यं जिनांगलावण्यं तदैव रसस्तथोक्तः जिनां-गलावण्यरसेन प्रपूर्णस्तस्मिन् जिनशरीरकातिजलपरिपूर्णं । अस्मिन् एतस्मिन् । जगदं-तराले जगतामंतरालं तस्मिन् जगदमध्ये । विभासुरं विभासत इत्येवं शीलं विभासुरं “भंजभा-समिदो घुर” इति घुर प्रत्ययः । तन्नगरं तच्च तत् नगरं च तन्नगरं राजपुरं । सुराणां देवानां । पाशिपुराभिशंक्रां पाशोऽस्यास्तीति पाशी वरुणस्तस्य पुरं पाशिपुरं तस्याभिशंक्रा तां ।

समुद्रस्ववरुणपुरसन्देशं “प्रचेता वरुणः पाशी” इत्यमरः । अजीजनत् अजनयत् जनैड् प्रादुर्भावे लुङ् उत्प्रेक्षा ॥ ६ ॥

भा० अ०—श्रीजिनकुमार के शरीर-सौन्दर्य रस से परिपूर्ण इस समस्त संस्कार के बीच में अत्यन्त प्रकाशमय उस राज्य-गृह नगर ने देवताओं को वरुणपुरी की शङ्ख उत्पन्न की ॥ ६ ॥

जिगाय शच्या शतमन्युहस्तद्वये कृतस्तन्नयनाचितांगः ॥

जिनार्भको भृङ्गकुलाभिरामं दामोत्पलानां मणिभाजनस्थं ॥७॥

जिगायेत्यादि । शच्या इन्द्राण्या । शतमन्युहस्तद्वये हस्तयोर्द्वयं हस्तद्वयं तस्मिन् पाक-शासनकरयुगले । कृतः कियतेस्म कृतः विहितः । तन्नयनाचितांगः तस्येन्द्रस्य नयनानि तन्नयनानि तैराचितं अंगं यस्य स तथोक्तः शकस्य सहस्रनैत्रैर्लालितशरीरः । जिनार्भकः जिनश्चासावर्भकश्च तथोक्तः जिनबालकः । भृङ्गकुलाभिरामम् भृङ्गाणां कुलं तेनाभिरामं तथोक्तं भ्रमरसमूहविराजितं । मणिभाजनस्थं मणिभिर्निर्मितं भाजनं मणिभाजनं तस्मिन् निष्ठतीति तथोक्तं रत्नपात्रस्थितं । उत्पलानां कुवलयानां । दाम माल्यं । जिगाय जयतिस्म जि अभिभवे लिट् “जेर्लिट् सन्” इति कवगादेशः । उत्प्रेक्षा ॥ ७ ॥

भा० अ०—इन्द्राणीके द्वारा मणिमय पात्ररूप इन्द्र के दोनों हाथों में रखे गये तथा इन्द्र के भ्रमररूप सहस्र दृष्टिपात के लक्ष्यभूत कमलरूप श्रीजिनकुमार ने मणि-जड़ित पात्र में रखे हुए भ्रमरमण्डित कमलों का माला को भी विजित कर दिया ॥ ७॥

जिनांगदीप्त्या पिहितस्वकांतिर्विकस्वरस्फारसहस्रनेत्रः ॥

सुराधिनाथः शुशुभेऽञ्जनाद्रिर्यथैव फुल्लस्थलपुंडरीकः ॥८॥

जिनांगेत्यादि । जिनांगदीप्त्या जिनस्यांगं तथोक्तं जिनांगस्य दीप्तिस्तया जिनेश्वर-शरीरकांत्या । पिहितस्वकांतिः स्वस्य कांतिः स्वकांतिः विहिता स्वकांतिर्यस्यासौ तथोक्तः आच्छादितद्युतिः । विकस्वरस्फारसहस्रनेत्रः विकसंतीत्येवं शीलानि विकस्वराणि सहस्र-नेत्राणि तथोक्तानि विकस्वराणि स्फाराणि सहस्रनेत्राणि यस्य सः इति बहुपदबसः “स्थेश-भास” इत्यादिना वर प्रत्ययः विकसतशीलविशालसहस्रनयनयुतः । सुराधिनाथः सुराणा-मधिनाथः सुराधिनाथः वृत्रहा । फुल्लस्थलपुंडरीकः स्थले विद्यमानानि पुंडरीकाणि तथोक्तानि फुल्लानि स्थलपुंडरीकाणि यस्य सः तथोक्तः विकसितभूषणयुक्तः “पुंडरीकं सितच्छत्रे सितंभोजे च नद्वयोः” इत्यमरः । अंजनाद्रिः अंजनश्चासावद्रिश्च तथोक्तः अञ्जनगिरिः । यथैव

न प्रकारेणैव । शुशुभे रराज शुभ दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥८॥

भा० ३०—श्रीजिनकुमार की अङ्गदीप्ति से आच्छादित शरीरकान्ति वाले तथा सु विशाल सहस्र नेत्र वाले इन्द्र खिले हुए स्थलकमल वाले अञ्जनगिरि के समान शोभने लगे ॥ ८ ॥

करारविंदद्वयभृंगराशिं जिनं पदाब्जद्वितये प्रणम्य ॥

चकार देवाधिपतिर्द्वितीयामनर्ध्यचूडामणिमुत्तमांगे ॥९॥

करारेत्यादि । देवाधिपतिः देवानामधिपतिस्तथोक्तः देवेन्द्रः । करारविंदद्वयभृंगराशिं करावेवारविंदे तथाक्तं रूपकः करारविंदयोर्द्वयं तथोक्तं भृंगराणां राशिस्तथोक्तः भृंगराशिरिव उपमा करारविंदद्वयोर्विद्यमानां भृंगराशिः तथोक्तस्तम् । जिनं जिनबालकं । पदाब्जद्वितये पदे एव अब्जे पदाब्जे रूपकः तयोर्द्वितयं पदाब्जद्वितयं तस्मिन् । प्रणम्य नमस्कृत्य । उत्तमांगे मस्तके । द्वितीयां द्वयोः पूरणां द्वितीयां । अनर्ध्यचूडामणिं न विद्यते अर्ध्यं यस्यास्सा अनर्ध्या चूडाया मणिः अनर्ध्या सा चासौ चूडामणिश्च तथोक्तः । चूलय चूडारत्नं “रत्नं मणिर्द्वयोः” इत्यमरः । चकार विद्धे डुकृत् करणे लिट् ॥ ९ ॥

भा० ३०—सुरपति इन्द्र ने दोनों कर कमलों के भृङ्गसमूह के समान श्रीजिनेन्द्र भगवान् के पादपद्मद्वय की वन्दना करके उन्हें अपने मस्तक पर की एक दूसरी ही अमूल्य मणि बना लिया ॥ ९ ॥

अथैप संसारमहावुराशिं समुत्तिर्त्तुर्पुर्जिनपोतमेनं ॥

दधत्कगभ्यां दृढमुत्सवेन स्वसिंधुरस्कंधतटं निनाय ॥१०॥

अथेत्यादि । अथ अनंतरं । संसारमहावुराशिं चतुर्गतिभ्रमणरूपसंसारः महाश्र्वासावंबुराशिश्च महावुराशिः संसार एव महावुराशिस्तथोक्तस्तं पंचसंसारमहासमुद्रं । समुत्तिर्त्तुः समुत्तर्त्तुमिच्छुस्तथोक्तः तरणेच्छुः । एनं इमं । जिनपोतं अहंत्वात् “पोतः शिशी बहित्रेच” इति विश्वः । कराभ्यां हस्ताभ्यां । दृढं गाढम् । दधत् दधातीति दधत् धरन् । एषः इन्द्रः । उत्सवेन संभ्रमेण । स्वसिंधुरस्कंधतटं स्वस्य सिंधुरस्वसिंधुरः स्कंधस्य तटं तथोक्तं स्वसिंधुरस्य स्कंधतटं तथोक्तं ऐरावता-सनत्थलं निनाय नयतिस्म णोञ् प्रापणे लिट् रूपकः ॥ १० ॥

भा० ३०—इसके बाद संसाररूपी महामुद्र को पार करने की इच्छा करते हुए इन्द्र ने श्रीजिनकुमार-जहाज को दोनों हाथों से दृढ़ता-पूर्वक पकड़ कर बड़े उत्सव से अपने ऐरावत हाथों के कन्धे पर बैठाया ॥ १० ॥

द्वात्रिंशदास्यानि मुखेऽष्टदंता दंतेऽब्धिरब्धौ बिसिनी बिसिन्यां ॥

द्वात्रिंशदब्जानि दलानि चाब्जे द्वात्रिंशदिंद्रद्विरदस्य रेजुः ॥११॥

द्वात्रिंशदित्यादि । द्वात्रिंशत् द्वाभ्यामधिका त्रिंशत् तथोक्ता । “द्वाष्टात्रयोऽनशीतो” इति द्वादेशः । आस्यानि मुखाणि । मुखे वदने एकवचनबलादेकस्मिन् इति ज्ञायते । अष्टदंता अष्टदशनाः । दंते अब्धिः आपो धीयन्तेऽस्मिन्निति अब्धिः एकः कासारः । “अब्धिः समुद्रे सरसि” इति विभ्वः । अब्धौ एकस्मिन्सरसि । बिसिनी एका पद्मिनी । बिसिन्यां अब्जानि अप्सु जायंत इत्यब्जानि कमलानि द्वात्रिंशत् अब्जानि । एकस्मिन् कमले द्वात्रिंशत् दलानि छदानि । च शब्देन एकत्र दले द्वात्रिंशत्सुरनट्यः इति शेषः । रेजुः बभुः राज्ञ दीप्तौ लिट् । रूपकः ।

भा० अ०—पेरावत हाथी के बत्तीस मुख थे, प्रत्येक मुख में आठ आठ दाँत थे, प्रत्येक दाँत में एक एक तालाव था, प्रत्येक तालाव में एक एक कमलिनी तथा प्रत्येक कमलिनी में बत्तीस बत्तीस कमल और कमल के प्रत्येक पत्र पर बत्तीस बत्तीस देवांगनायें नाचती थीं । २५६ दाँत, ८१६२ कमल, २६२१४४ कमल-पत्र और ८३८८६०८ देवांगनायें थीं ॥ ११ ॥

अस्पृष्टनीरेजदलं नटंत्यो नट्यः सुराणामभितो नृसिंहं ।

रंभो वितेनुर्निजवल्लभाशाप्रकाशमानाऽब्जनिवेशनानाम् ॥१२॥

अस्पृष्टेत्यादि । नृसिंहं ना सिंहः इव नृपु सिंहस्तथोक्तः तं नरवरं पुरुषोत्तमं च । “स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुंगवर्षभकुंजराः । सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थगोचराः” इत्यमरः । अभितः समंततः । “तस्पर्यभि” इत्यादिना भम् । अस्पृष्टनीरेजदलं नीरे जायंत इति नीरेजानि “तत्पुरुषे कृति बहुलम्” इति प्रत्ययस्य लुगभावः नीरेजानां दलानि तथोक्तानि अस्पृष्टानि नीरेजदलानि यस्मिन् कमणि तत् तथोक्तं । नटंत्यः नटंतीति नटंत्यः । सुराणां देवानां । नट्यः नर्तक्यः । निजवल्लभाशाप्रकाशमानाऽब्जनिवेशनानां निजानां वल्लभस्तस्याशा निजवल्लभाशा तथा प्रकाशंत इति प्रकाशमानाः अब्जमेव निवेशनं यासां ताः तथोक्ताः । निजवल्लभाशाप्रकाशमानाश्च ताः अब्जनिवेशनाश्च तथोक्तास्तासां निजनायकामिप्रायप्रकटीभवत्कमलनिलयानां लक्ष्मीणामित्यर्थः । रम्भः संप्रमं । वितेनुः विस्तारयतिस्म । तनु विस्तारे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ १२ ॥

भा० अ०—पुरुषोत्तम श्रीजिनकुमार के चारो तरफ कमल की पँखुरियों को बिना छुए ही नाचती हुई देवांगनायें अपना पति बरने का अभिप्राय प्रकट करती हुई लक्ष्मी (विष्णु-पत्नी) सौन्दर्य का विस्तार करने लगीं ॥ १२ ॥

ईशाननाथः स्वयमातपत्रं दधौ तद्दूर्ध्वोभयकल्पनाथौ ॥

प्रकीर्णके प्राक्षिपतां परेऽपि यथास्वमासन् करणीयभाजः ॥१३॥

ईशाननाथ इत्यादि । ईशाननाथः ईशानस्य नाथस्तथोक्तः ईशानेन्द्रः । स्वयं आत्मा । आतपत्रं छत्रं । दधौ दधे । तद्दूर्ध्वोभयकल्पनाथौ तस्येशानस्योर्दूर्ध्वं तद्दूर्ध्वं उभयौ च तौ कल्पौ च उभयकल्पौ तद्दूर्ध्वं विद्यमानावुभयकल्पौ तद्दूर्ध्वोभयकल्पौ तयोर्नाथौ तथोक्तौ । प्रकीर्णं चामरे “चामरं तु प्रकीर्णकम्” इत्यमरः । प्राक्षिपतां अधुनुतां । क्षिप प्रेरणे लङ् । परेऽपि शेषेन्द्रा अपि । यथास्वं स्वमनतिक्रम्य तथास्वं यथायोग्यं । करणीयभाजः कर्तुं योग्यं करणीयं तद्गजंतीति तथोक्ताः कार्यकारिणः । आसन् अभवन् अस् भुवि लङ् ॥ १३ ॥

भा० अ०—ईशानेन्द्र ने श्रीजितेन्द्र भगवान् के ऊपर स्वयं छत्र लगाया, इनके ऊपर के दोनों कल्पनाथों ने चँवर डोलाये और अन्यान्य इन्द्रों ने भी भिन्न भिन्न आवश्यक कार्यों को यथाशक्ति सम्पन्न किया ॥ १३ ॥

संसारगर्तापतिनाखिलैकहस्तावलंबं जिनराजमिन्द्रः ॥

हृदा च दोर्भ्यामवलंबमानः पथा सुराणामथ संप्रतस्थे ॥१४॥

संसारेत्यादि । अथ अनंतरं । इंद्रः पुरंदरः । संसारगर्तापतिनाखिलैकहस्तावलंबं संस्मरणं संसारः स एव गर्तस्तथोक्तः संसारगर्तं आपततिस्मेति संसारगर्तापतिनाः यद्वा गर्तायाः प्रवृत्ते पतिना गर्तापतिनाः । “गंडूपगर्जगरहालकिल त्नालच्छटारभसवर्तकगर्तशृंगा” इति स्त्रीपुंसयोरभ्रमः । संसारगर्ताश्च ने अखिलाश्च तथोक्ताः हस्तस्यावलंबो हस्तावलंबः एकश्चास्मौ हस्तावलंबश्च तथोक्तः संसारगर्तापतिनाखिलानामेकहस्तावलंबस्तथोक्तस्तं भवान्धकूपनिपतिनिःशेषप्राणिनां मुख्यहस्तावलंबनं । जिनराजं जिनानां राजा जिनराजस्तं “राजन् सखेः” इत्यट् समासांतः । हृदा हृदयेन तद्गुणस्मरणरूपेण । दोर्भ्यां च भुजाभ्यामपि । अवलंबमानः अवलंबन इत्यवलंबमानः आश्रिष्यमाणस्सन् । सुराणां निर्जराणां । पथा मार्गेण विहायसा । प्रतस्थे प्रययौ एा गतिनिवृत्तौ लिट् “संविप्रावात्” इति तड् । संसारगर्तापतिनाखिलैकहस्तावलंबत्वात् तत्पतितस्य स्वस्यावलंबकाक्षयैर्बेन्द्रो जिनराजं हृदा च दोर्भ्यामवलंबतेस्म इति भावः रूपकः ॥ १४ ॥

भा० अ०—संसाररूपी गर्त में गिरे हुए प्राणियों के एकमात्र हस्तावलंबन श्रीजिन-कुमार को इन्द्र ने दोनों हाथों से हृदय से लगाये हुए आकाश मार्ग से प्रस्थान किया ॥१४॥

आकारमात्रेण तुषारशैल का कूटराशेस्तत्र तुल्यतेति ॥

आकर्णयिष्यन्निव विप्रलापानाकाशमार्गेऽक्रमताभ्रनागः ॥१५॥

आकारमात्रेणेत्यादि । तुषारशैल तुषारैर्युक्तः शैलस्तस्य संबोधनं हे हिमवत्पर्वत । कूटराशेः कूटानां शिखराणां कपटानां च राशिर्यस्य सः तस्य शिखरनिवहयुक्तस्य माया कर्दबयुक्तस्य च “मायानिश्चल्यत्रेषु कैतवानृतराशिषु । अयोघने शैलभृङ्गे सीरगणे कूटमस्त्रियाम्” इत्यमरः । तत्र ते । आकारमात्रेण आकार एव आकारमात्रं तेन ध्वलाकृत्यैव न तु गुणैरितिशेषः । तुल्यता तुल्यस्य भावस्तुल्यता मया सह समानता । केति का भवतीति । विप्रलापान् विरोधवचनानि “विप्रलापो विरोधोक्तिः” इत्यमरः । आकर्णयिष्यन्निव अभ्रनागः ऐरावणः । आकाशमार्गं गगनाध्वने । अक्रमत आयात् कम्प पादविक्षेपे लङ् । “क्रमोऽनुपसर्गात्” इति तङ् ॥ १५ ॥

भा० अ०—हे हिम शैल ! पर्वत राज !! क्यो तुम केवल अपनी आकृति से ही मेरी बराबरी कर सकते हो ? मानो ऐसी व्यंगपूर्ण बातें सुनाना हुआ ऐशवत हाथी आकाश मार्ग से चला ॥ १५ ॥

आरुह्य नानाविधवाहनानि जिनाग्रवामेतरपृष्ठदिक्षु ॥

क्रमेण वन्योर्गकल्पवासिज्योतिष्कनाथा व्यचलन्ससैन्याः ॥१६॥

आरुह्येत्यादि । ससैन्याः सैन्येन सह वर्तत इति ससैन्याः सेनासहिताः । वन्यो- र्गकल्पवामिज्योतिष्कनाथाः वन्याश्च उरगाश्च कल्पे वसन्तीत्येवशीलाः कल्पवासिन-श्च ज्योतिष्काश्च तथोक्तास्तेषां नाथास्तथोक्ताः व्यंतरभवनामरकल्पवासिज्योतिष्केन्द्राः । नानाविधवाहनानि नानाविधो येषां तानि तथोक्तानि नानाविधानि च तानि वाहनानि च नानाविधवाहनानि । आरुह्य आस्थाय । क्रमेण अनुक्रमतः । जिनाग्रवामेतरपृष्ठदिक्षु अग्रं च वामश्च इतरो दक्षिणस्त च पृष्ठं च तथोक्तानि अग्रवामेतरपृष्ठानां दिशस्तथोक्ताः जिनस्याग्रवामेतरपृष्ठदिशश्च तथोक्ताः तासु । अर्हतः पुरोभागवामभागदक्षिणभागपश्चिम-भागेषु । व्यचलन् अचरन् । चल कंपने लङ् क्रमालंकारः ॥ १६ ॥

भा० अ०—भवनः, कल्प, व्यन्तर तथा ज्योतिष्क वासी सभी दैवेन्द्र अनेक प्रकार के बाहनों पर चढ़ कर श्रीजिनकुमार के चारो तरफ सैनिकों के साथ चले ॥ १६ ॥

नभोऽतरे नाथतनुप्रभाभिः प्रपूरिते पूज्वलरत्नकूटाः ॥

बभुर्विमाना कुलिशास्त्रभीतेः समुद्रमग्ना इव सानुमंतः ॥१७॥

नभोऽतराल इत्यादि । नाथतनुप्रभाभिः तनोः प्रभाः तनुप्रभाः नाथस्य तनुप्रभास्ताभिः जिनेश्वरशरीरकांतिभिः । प्रपूरिते प्रपूर्यतेस्म प्रपूरितं तस्मिन् आपूर्णं । नभोऽन्तरे नभसोऽतरं नभोऽतरं तस्मिन् अंबरांतराले । प्रोज्वलरत्नकूटाः रत्नैर्निर्मितानि कूटानि तथोक्तानि प्रोज्वलानि रत्नकूटानि येषां ते प्रस्फुरन्मणिशिखराः । विमानाः व्योमयानानि “व्योमयानं विनानोऽस्त्री” इत्यमरः । कुलिशास्त्रभीतेः कुलिशं वज्रमेवास्त्रं आगुध-यस्य सः कुलिशास्त्रशक्तस्तस्माज्जाता भीतिस्तस्याः इन्द्रस्य गोत्रमिन्नामप्रसिद्धिमयात् । समुद्रमग्नाः मज्जन्तिस्म मग्नाः समुद्रे मग्नास्तथोक्ताः । सानुमंत इव सानुरस्त्वेषां इति सानुमंतस्त इव अद्रय इव “पर्वतः सानुमान गिरिः” इति धनंजयः । बभुः रेजुः भा दीप्तौ लिट् उत्प्रेक्षा ॥ १७ ॥

भा० अ०—श्रीजिनेन्द्र देव की देहद्रयुति से आकाश-मण्डल के प्रपूरित होने पर अत्युत्तम रत्नमय शिखर वाले विमान वज्रागुध से डर कर समुद्र में मग्न पर्वतों के समान चमकने लगे ॥ १७ ॥

जिनांगदीप्त्या दधुरभ्रवीथ्यां तरंगितायां सितचामराणि ॥

सुगवधूतानि कलिंदकन्यातरंगदोलारतहंसलीलाम् ॥१८॥

जिनांगेत्यादि । जिनांगदीप्त्या जिनस्यांगं जिनांगं तस्य दीप्तिस्तथा अर्हत्काय कांत्या । तरंगितायां तरंगास्संजाता अस्या इति तरंगिता तस्यां संजाततरंगायां । अभ्रवीथ्यां अभ्रस्य मेघस्य वीथिरभ्रवीथिस्तस्यां व्योमवीथ्यां । सुरावधूतानि अवधूयन्तेस्म अवधूतानि सुरैरवधूतानि तथोक्तानि लेखनिक्षिप्तानि । सितचामराणि चमरीभवानि चामराणि सितानि च तानि चामराणि च तथोक्तानि श्वेतप्रकीर्णकानि । कलिंदकन्यातरंगदोलारतहंसलीलां कलिंदस्य कन्या तस्यास्तरंगास्तथैव दोला रमन्तेस्म रताः रताश्च ते हंसाश्च रतहंसाः कलिंदकन्यातरंगदोलायां रतहंसास्तथोक्तास्तेषां लीला तां । यमुनानदीवीचिदोलायां कीडितमरालविलासं “कालिंदी सूर्यतनया यमुना शमन-स्वसा” इत्यमरः । दधुः धरन्तिस्म डुधाञ् धारणे च लिट् । उपमा ॥१८॥

भा० अ०—जिनकुमार की शरीरकान्ति से तरंगित आकाश-वीथी में देवताओं से ढोलाये गये श्वेतच्छत्र कालिन्दी (यमुना) की तरङ्गरूपी दोला में लीन हंसों का अनुकरण किये हुए थे ॥१८॥

चलान्यलीयंत जिनांगरोचिवीचिप्रपंचेऽगरुधूमलेखाः ॥

हरेर्विभीताः फणिराजपत्न्यस्तरंगकुंजेष्विव यामुनेषु ॥१९॥

चला इत्यादि । चलाः चलंतीति चला चलंत्यः । अगरुधूमलेखाः अगरोर्धूमास्तथोक्तास्तेषां लेखाः कालागरुधूमश्रौणयः “रेखायामावली रेखा” इति वैजयंती । जिनांगरोचिर्वीचिप्रपंचे जिनस्यांगं जिनांगं तस्य रोचिस्तथोक्ता जिनांगरोचिरेव रोचिषो वा कीच्यस्तेषां प्रपंचस्त्रस्मिन् जिनेन्द्रशरीरकांतितरंगसमूहे । हरेः नारायणात् । विभीताः विभिन्तस्मिन् विभीताः । फणिराजपत्न्यः फणाः सन्त्येषामिति फणिनस्तेषां राजा फणिराजस्तस्य पत्न्यः महाशेषवनिताः । यामुनेषु यमुनायाः संबन्धा यामुनास्तेषु यमुनागदीसंबन्धेषु । तरंगकुंजेषु तरंगा एव कुंजाः तरंगकुंजाः तेषु वीचिनिकुंजेषु । यमुनागदीतरंगाणां कृष्णवर्णत्वाजिनांगकांतिसमत्वं रूपकः । न्यलीयंत निलीयंतेस्म । लिङ् श्लेषेण लट् ॥१६॥

भा० अ० —इधर उधर चारो ओर फैली हुई अगह (सुगन्ध द्रव्य) की धूमरेखायें कृष्णचन्द्र से डर कर यमुना के तरङ्गकुंज में छिरी हुई सर्पराजकी ह्वियों के समान जिनेन्द्र महाराज की अद्भुतिरूपिणी वीचि में प्रकीर्ण हो गयी ॥१६॥

नभस्थले नागरुधूमलेखाः स्फुरत्स्फुलिंगा शशिशंकयाऽमी ॥

सितातपत्रप्रसनाय धावद्विधुंतुदा वांतविषस्फुलिंगाः ॥२०॥

नभस्थल इत्यादि । नभसः स्थलं तस्मिन् आकाशप्रदेशे । स्फुरत्स्फुलिंगाः स्फुरंतीति स्फुरन्तः स्फुरन्त स्फुलिंगा येषां ते तथोक्ताः प्रज्वलद्ग्निकणयुक्ताः । अमी इमे । अगरुधूमलेखाः अगरोर्धूमा अगरुधूमास्तेषां लेखास्तथोक्ताः कालागरुधूपराजयः । “लेखा लेख्ये सुरे लेखा लिपिराजिकयोर्मता” इति विश्वः । न न भवति । पुनः किमिति चेत् — शशिशंकया शशीति शंका शशिशंका तथा चंद्र इति संशयेन । सितातपत्रप्रसनाय सितं च तत् आतपत्रं च तथोक्तं सितातपत्रस्य प्रसनं तस्मै । वांतविषस्फुलिंगाः विषमयाः स्फुलिंगाः विषस्फुलिंगाः वांताः विषस्फुलिंगा येषां ते तथोक्ताः । धावद्विधुंतुदाः विधुंतुदंतीति विधुंतुदाः “विध्वरुस्तिलात्तुदः” इति खच् “खित्यरुः” इत्यादिना मम् धावंतीति धावंतः धावंतश्च ते विधुंतुदाश्च तथोक्ताः अभिगच्छन्नाह्वो भवन्तीत्यर्थः । अपहनुत्यलंकारः ॥२०॥

भा० अ० —आकाश में अग्निकण के साथ साथ अगह आदि की धूमरेखाओं ने विष की चिनगारी उगलते हुए राहु जिस प्रकार चन्द्रमा को ग्रस्त करता है उसी प्रकार श्वेतच्छत्र की प्रभा को आच्छादित किया ॥२०॥

अंगारनिक्षिप्तदशांगधूपः संक्रातसंताप इव क्षणो न ॥

आश्लिष्यदुत्थाय पटीरहारकर्पूरकलहारपयोरुहाणि ॥२१॥

अंगारेत्यादि । अंगारनिक्षिप्तदशांगधूपः अंगारे निक्षिप्तः अंगारनिक्षिप्तः दश अंगानि यस्य सः दशांगः स चासौ धूपश्च दशांगधूपः अंगारनिक्षिप्तश्चासौ दशांगधूपश्च तथोक्तः धूपघट-
स्यांगारे प्रयुक्तदशांगधूपः । “अथ न स्त्री स्यादंगारः” इत्यमरः । क्षणेन क्षण इति कालभेदः
तेन “तास्तुत्रिंशत्क्षणः” इत्यमरः । संक्रांतमंताप इव संक्रामतिस्म संक्रांतः संक्रातः संतापो
यस्यासौ तथोक्तः संबद्धसंज्वर इव । “सन्तापः संज्वरः समौ” इत्यमरः । उत्थाय उत्था-
पनं पूर्वं पश्चात् किञ्चिदिति ऊर्ध्वं गत्वा । पटोरहारकर्पूरकहारपयोरुहाणि पटोरश्च हारश्च
कर्पूरश्च कहारं च पयोर्हं च तथोक्तानि श्रीगंधमौक्तिकहारघनसारसौगधिककमलानि ।
“श्रीखंडः स्यात्पटोरश्च” इति विदग्धचूडामणौ । आश्लिष्यत् आलिंगत् श्लिष आलिंगने लङ् ।
एतेषां संतापहारकृत्वात्तान्नाश्लिष्यदितियावत् । उत्प्रेक्षा ॥२१॥

भा० अ०—अग्नि में डाले गये दशांगधूपने सन्तप्त होकर शीघ्र ही श्रीखण्ड, कर्पूर तथा
सुगन्धित कमल को आलिङ्गन कर लिया । अर्थात्—इन शीतल पदार्थों से मिल कर मानों
उसने अपनी ज्वाला शान्त करनी चाही ॥ २१ ॥

गद्येन पद्येन च दंडकेन शशंस गीतेन च गाथया च ॥

मरुद्गणोऽयन्न परं परोऽपि गुहामुखोद्यत्प्रतिशब्ददंभात् ॥२२॥

गद्येनेत्यादि । अयं एषः । मरुद्गणः मरुतां गणो मरुद्गणः निर्जरनिकायः । “मरुतां पवना-
मरौ” इत्यमरः । गद्येन अनियतगणनं वा स्य कदवेन । पद्येन नियतगणेन छंदोनिघड्ढेन ।
दंडकेन कथंचिन्नियतगणेन चंडवृष्ट्यादिना । गीतेन तालनियतेन संगीतेन । गाथया च
मात्रानियतेन गाथारूपनिबंधेन । परं केवलं “परोऽरिः परमात्मा च केवले परमत्रयम्” इति
नानार्थरत्नमालायां । न शशंस न तुष्टाव । अपि तु परोऽपि—मरुद्गणः गिरिनिकरः । “धनुर
मरानिलगिरिषु मरुत्” इति नानार्थरत्नकोषे । “नगः शिलोच्चयोऽद्विश्च शिखरी त्रिककुन्मरुत्”
इति धनंजयश्च । गुहामुखोद्यत्प्रतिशब्ददंभात् गुहायाः मुखं तथोक्तं उदेतीत्युदन् गुहामुखे-
नोद्यन् तथोक्तः गुहामुखेनोद्यश्चासौ प्रतिशब्दश्च तथोक्तः गुहामुखोद्यत्प्रतिशब्द इति दंभस्त-
थोक्तस्तस्मात् कंदरविवरसमुत्पद्यमानप्रतिध्वानत्रयाजात् । शशंस तुष्टाव शंसूङ् स्तुतौ लिट् ।
त्रिदशनिकरवदग्निनिवहेऽपि स्तुतिमकरोदिति भावः ॥ २२ ॥

भा० अ०—मरुद्गण (देवतादिगण) ने गद्य-पद्य, दण्डक, (एक प्रकार का छन्दो-
विशेष) गीत तथा गाथा से और मरुद्गण (पर्वत) ने कन्दरा से प्रतिध्वनि शब्दों से
भगवान् की स्तुति की ॥ २२ ॥

वियत्तलं वीतघनाघनौघमपि प्रपूर्णां जिनदेवभासा ॥

विभिन्ननीलांजनसंनिभेन पुनर्घनापूर्णाभिवाबभासे ॥२३॥

वियत्तलमित्यादि । वीतघनाघनोघः घनाघनानामोघः घनाघनौघः वीतो घनाघनौघो
 यस्मात्तत् तथोक्तमपि “वर्षाब्दवासवमदगजेरावतसांघ्रेघनाघने” इति नानार्थरत्नकोषे ।
 अपगतमेघसमवायमपि । वियत्तलं वियतस्तलं तथोक्तं आकाशप्रदेशः । विभिन्ननीलांज-
 नसंनिभेन विभिद्यतेस्म विभिन्नं तच्च तत् नीलांजनं च तथोक्तं विभिन्ननीलांजनस्य संनिभं
 तेन स्फुटितकृष्णकज्जलसमानेन “कज्जलदिग्गजानिलकांतास्वंजनं” इति नानार्थरत्नकोषे ।
 जिनदेहभासा जिनस्य देहस्तस्य भासस्तेन जिनाधिपमूर्तिदीप्त्या । प्रपूर्णं प्रपूर्यतेस्म तथोक्तं
 परिपूर्णं । पुनः भूयः । घनापूर्णांमिव घनेनापूर्णां मेघेन परिपूरितमिव । आबभासे भासुइ
 दीप्तौ लिट् ॥२३॥

भा० अ०—आकाश मेघ-रहित होने पर भी फैले हुए कृष्णकज्जलतुल्य जिनेन्द्र भगवान
 की नील देहकान्ति से परिप्लावित हो मेघ से परिपूर्ण ज्ञात होने लगा ॥ २३ ॥

जिनांबुदोऽसाधिभदानवृष्टिर्नटीतडिद्वाद्यनिनादगर्जः ॥

विमानमालारुचिकार्मुकं दिव्याकालिकीं प्रावृषमाततान ॥२४॥

जिनांबुद इत्यादि । इभदानवृष्टिः इभस्य दानं तथोक्तं इभदानमेव वृष्टिर्यस्य स तथोक्तः
 ऐरावतमदजलवर्षः “युतस्त्यागगजमद्गुह्यिवालनच्छेदेषु दानम्” इति नानार्थरत्नकोषे ।
 नटीतडित् नट्य एव तडिनो यस्य स नटीतडित् नर्तकीविद्युत्सहितः । वाद्यनिनादगर्जः
 वाद्यस्य निनादो वाद्यनिनादः स एव गर्जो यस्य सः तथोक्तः वादित्रध्वनितस्तद्वीतकलितः ।
 विमानमालारुचिकार्मुकः विमानानां माला विमानमाला तस्या रुचिः विमानमाला-
 रुचिरेव कार्मुकं यस्य स तथोक्तः विमानपंक्तिर्कांतिसुरचापसहितः । “रुचिर्मयूखे शो
 भायामभिषंगाभिलाषयोः” इति विश्वः । असौ अयं । जिनांबुदः अंबु दधातीत्यंबुदः जिन ए-
 वांबुदस्तथोक्तः जिनेश्वरमेघः । द्विवि आकाशे । आकालिकीं अकाले भवा आकालिकी तां
 अकालेद्भूतां । “व्यादिभ्यष्टण्णडां” इति ठण् । प्रावृष वर्षाकालं । आततान विस्तारयतिस्म
 तनूङ् विस्तारे लिट् ॥२४॥

भा० अ०—विमान-पंक्ति की कान्ति ही है धनुष जिसका तथा वाद्य-ध्वनि है गर्जन
 जिसका, ऐसे नटीरूपिणी विजली और गजमद-प्रवाहरूपी वृष्टिवाले श्रीजिनेश्वर जलइ ने
 आकाश में असामयिक वर्षा ऋतु की छटा दिखला दी ॥ २४ ॥

अभ्राण्यदभ्राणि सुरेभदन्तप्रोतानि रेजुः परितो जिनेन्द्रम् ॥

उत्क्षिप्यमाणानि मुदामुनेव चंद्राश्मदंडातपवारणानि ॥२५॥

अभ्राणीत्यादि । सुरेभदन्तप्रोतानि सुरस्येभः सुरभ्रासौ इभश्चेति वा सुरेभस्त-
 स्य दंतास्सुरेभदन्ताः तैः प्रोतानि ऐरावणरत्नसंबंधानि । अदभ्राणि न दभ्राण्यदभ्राणि पृथु-

लानि । “वभ्रं कृशं तनु” इत्यमरः । अभ्राणि मेघाः । जिनेन्द्रः जिनानामिन्द्रो जिनेन्द्रस्त । परितः समंतात् । अमुना ऐरावतेन । मुदा संतोषेण । उत्क्षिप्यमाणानि उत्प्रेर्यमाणानि चंद्राश्मदंडातपवारणानि चंद्राश्मना कृताः दंडा एषां तानि चंद्राश्मदंडानि तानि च तानि आतपवारणानि च तथोक्तानि तानि च चंद्रकांतशिलानिर्मितदंडयुक्तछत्राणीव । रेजुः बभ्रुः राज्ञ् दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ २५ ॥

भा० अ०—श्रीजिनेन्द्र भगवान् के चारो ओर ऐरावत हाथी के दाँतों से ओत प्रोत तथा प्रसन्नता-पूर्वक अवलम्बित जो सधन मेघ थे वे चन्द्रकान्त-मणिमय दण्डयुक्त छत्र के समान शोभते थे ॥ २५ ॥

सेनापदामर्दितपांडुमेघा मुक्तागुरूनभ्रतले बिडालाः ॥

हठेन दध्यन्नधिया व्रजंतः स्कंधादिरूढाननयंत मन्युम् ॥२६॥

सेनेत्यादि । अभ्रतले अभ्रस्य तलं अभ्रतलं तस्मिन् आकाशप्रदेशे । मुक्तागुरून् मुक्ताभिर्गुरवः तान् मुक्ताफलैः स्थूलान् मेघेऽपि मौक्तिकसंभव इति प्रसिद्धिः । सेनाप-
दामर्दितपांडुमेघान् सेनानां पदानि तथोक्तानि सेनापदैरामर्दितास्तथोक्ताः पांडवश्च ते मे-
घाश्च पांडुमेघाः सेनापदामर्दिताश्च ते पांडुमेघाश्च सेनापदामर्दितपांडुमेघास्तान् सप्तानी-
कचरणविभिन्नधवलमेघान् । “पांडुः कुन्तीपतौ सिते” इति विश्वः । दध्यन्नधिया दध्ना
मिश्रितमन्नं दध्यन्नं तद्विति धीः दध्यन्नधीस्तया दध्योदनबुद्ध्या । हठेन बलात्कारेण “प्रसभन्तु
बलात्कारो हठम्” इत्यमरः । व्रजंतः गच्छंतः । बिडालाः वाहनमार्जाराः । स्कंधाधिरूढान्
अधिरूढतिस्म अधिरूढास्तथोक्ताः स्कंधमधिरूढा स्कंधाधिरूढास्तान् स्कंधमधिष्ठितान्
देवान् । मन्युं रोषं । “मन्युः क्रोधे क्रतौ दैन्ये” इति विश्वः । अनयंत प्रापयतिस्म णीञ्
प्रापणे लङ् द्विकर्मकः । भ्रंतिमानलंकारः ॥ २६ ॥

भा० अ०—आकाश में मुक्ताओं के कारण गुरतर तथा सेना के चरण-मर्दित होने से
बल मेघों को ओर दधिमिश्रित अन्न समझ कर दौड़ते हुए वाहन बिडालों ने कन्धे पर चढ़े
हुए देवताओं को क्रुद्ध कर दिया ॥ २६ ॥

प्रयाणवेगानिलनीयमानाः पयोधराः श्यामतनूनिभेन्द्रान् ॥

सगर्जितानूर्जितदानवर्षान् स्वबंधुबुद्ध्या ध्रुवमन्वरुन्धन् ॥२७॥

प्रयाणेत्यादि । प्रयाणवेगानिलनीयमानाः प्रयाणस्य वेगः प्रयाणवेगस्तस्माज्जातोऽ-
निलः प्रयाणवेगानिलः नीयंत इति नीयमानाः प्रयाणवेगानिलेन नीयमानास्तथोक्ताः निर्या-
णज्वेन जातवायुना प्राप्यमाणाः । पयोधराः पयांसि धरंतीति तथोक्ताः मेघाः । श्यामतनून्

श्यामा तनुर्येषां ते तान् । सगर्जितान् गर्जितेन सह वर्तत इति सगर्जितास्तान् ध्वनिसहितान् । ऊर्जितदानवर्षान् दानस्य वर्षं दानवर्षं ऊर्जितं दानवर्षं येषां ते तान् प्रवृद्धमदजलवृष्टीन् “दानं गजमदे त्यागे पालनच्छेदशुद्धिषु” इति विश्वः । इभेन्द्रान् इभानामिन्द्रा इभेन्द्रास्तान् गजेन्द्रान् स्वबंधुबुद्ध्या स्वेषां बंधवस्तथोक्ताः । स्वबंधव इति बुद्धिस्वबंधुबुद्धिस्तया । ध्रुवं निश्चलं । अन्वरुंधन् अनुकूलमवर्तन्त ॥ २७ ॥

भा० अ०—प्रयाणकालीन वेग से उत्पन्न हुई वायु से सञ्चालित मेघों ने प्रवाहित मद्यन्तार-रूप वृष्टिवाले तथा गर्जन करने वाले श्याम शरीर गजराजों को अपने बन्धु समझ कर उनका अनुसरण किया ॥ २७ ॥

सदाभियुक्ता वितदामरौघैः सहोत्पला भानुसुता प्रतीये ॥

जिनांगरोचिर्निचयेन दिग्धा विवृद्धहेमांबुरुहा द्युसिंधुः ॥२८॥

सदेत्यादि । जिनांगरोचिर्निचयेन जिनस्यांगं जिनांगं तस्य रोचिषि तथोक्तानि जिनांगरोचिषां निचयो जिनांगरोचिर्निचयस्तेन जिनेश्वरशरीरकान्तिसमूहेन । दिग्धाः दिह्यतेस्म दिग्धाः लिप्ताः । विवृद्धहेमांबुरुहा अंबुनि रोहतीत्यंबुरुहं हेमरूपमंबुरुहं तथोक्तं विबुध्यतेस्म विबुद्धं विवृद्धं हेमांबुरुहं यस्यास्सा तथोक्ता विकसितारुणारविदा । द्युसिंधुः द्विवि विद्यमाना सिंधुर्द्युसिंधुः देवगंगा । “देशे नदविशेषेऽब्धौ सिंधुर्ना सरिति स्त्रियाम्” इत्यमरः । सदा सर्वस्मिन् काले सदा । अभियुक्तापि अभियुज्यतेस्माभियुक्ता परिचितापि । अमरौघैः अमराणां ओघा अमरौघास्तैः देवसमूहैः । तदा तत्समये । सहोत्पला उत्पलैः सह वर्तत इति सहोत्पला नीलात्पलसहिता । “वान्यार्थ” इति विकल्पेन सहस्य सभावः । भानुसुता भानोस्सुता तथोक्ता यमुनानदी । प्रतीये ज्ञायतेस्म । इण् गतौ कर्मणि लिट् ॥ २८ ॥

भा० अ०—विकसित सुवर्ण-कमलवालो देवगङ्गा यद्यपि देवताओं की चिरपरिचिता थीं तथापि श्रीजिनेन्द्र भगवान् की नीलदेह-कान्ति से समुद्भासित होने से वह उन्हें पद्मपुंज-मण्डित यमुना की सी प्रतीत हुई ॥ २८ ॥

विशालमाकाशतलं चक्राशे विभुप्रभाश्यामलतारकौघम् ॥

विपाकनीलैर्विपुलैः फलौघैः विलंबमानामभिभूय जंबूम् ॥२९॥

विशालमित्यादि । विभुप्रभाश्यामलतारकौघं विभोः प्रभा तथोक्ता विभुप्रभया श्यामलः विभुप्रभाश्यामलः तारकाणामोघस्तारकौघः विभुप्रभाश्यामलस्तारकौघो यस्मिन् तन् तथोक्तं । विशालं विस्तृतं । आकाशतलं आकाशस्य तलं तथोक्तं गगनतलं ।

विपाकनीलैः विपाकेन नीला विपाकनीलाः तैः परिणत्या कृष्णैः । विपुलैः रुद्रैः ।
“वद्रोहविपुलम्” इत्यमरः । फलोवैः फलानामाघा फलोघास्तैः । विलंबमाना विलंबत इति
विलंबमाना तां विनमताम् । जंबूम् जंबूवृक्षं । अभिभूय अभिभवन्नं पूर्वं पश्चात्किञ्चि-
दिति तिरस्कृत्य । चकाशे विरजे काश्ट दोषौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ २६ ॥

भा० अ०—भगवान् की नील प्रभा से श्यामस्वरूप तारागणयुक्त विशाल आकाश-
मण्डल बड़े बड़े तथा पक जाने के कारण नीले २ फलों से झुके हुए जम्बूवृक्ष को तिर-
स्कृत किये हुए थे ॥ २६ ॥

स्वशून्यवादे परमागमेन सद्यो निरस्ते विशदांतरस्य ॥

व्योम्नां विरेजुः पुलकोपमानि जिनप्रभाश्यामलतारकाणि ॥३०॥

स्वशून्यवाद इत्यादि । परमागमेन परमश्चासावागमश्च परमागमस्तेन परमागमश्रुतेन ।
स्वशून्यवादे शून्यस्य वादः शून्यवादः स्वस्य शून्यवादस्तथोक्तः तस्मिन् निजनास्तिवादे ।
सद्यः तस्मिन्काले सद्यः तत्तमये । निरस्ते सति निरस्यनेस्य निरस्तस्तस्मिन् सति ।
विशदांतरस्य विशदमंतरं यस्य तन् तथोक्तं तस्य निर्मलांतःकरणयुक्तस्य । “अंतरं तु परी-
धाने भेदे रंध्रावकाशयोः । आत्मानधि विनात्मोयवहिर्मध्यावधिष्वपि ॥ तादर्थ्येऽवसरं प्रोक्तम्”
इति विश्वः । व्योम्नः आकाशस्य । पुलकोपमानि रामां वसमानानि । जिनप्रभाश्या
मलतारकाणि जिनस्य प्रभा जिनप्रभा तथा श्यामलानि तथोक्तानि जिनप्रभाश्यामलानि
च तानि तारकाणि च तथोक्तानि जिनतः शशंगरकांत्या नीलनक्षत्राणि । “नक्षत्रमृक्षमुडुभं
ज्योतिर्धिषण्यं च तारका । तारातारकमित्येकार्थः” इति जयकीर्तिः । विरेजुः वभुः । राजृदी
सौ लिट् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ३० ॥

श्री जितेन्द्र भगवान् की नील देहकान्ति से श्यामरंग की तारायें मानों परमागम के
द्वारा नास्तिकवाद हटा देने से स्वच्छान्तस्तलयुक्त आकाश के रोमाञ्च तुल्य प्रतीत होने
लगीं ॥ ३० ॥

मुग्धापमगः कापि चकार सर्वानुत्फुल्लवक्त्रान्किल धूपचूर्णस ॥

रथाप्रवासिन्यरुणे द्विपंति हसंतिकांगारचयस्य बुद्ध्या ॥३१॥

मुग्धेत्यादि । रथाप्रवासिनि वसतीत्येवं शीलो वासी रथस्याग्रे वासी तस्मिन् म्यन्द-
नमुखवर्तिनि । अरुणे सूर्य चरथौ । “सूरसूतोऽदणोऽनूहः” इत्यमरः । हसंतिकांगारचयस्य
हसंतिकायाः अंगारशकट्याः अंगारस्तेषां चयः हसंतिकांगारचयस्तस्य “अंगारशकटं प्राहु
हसंतीं च हसंतिकाम्” इति हल्लायुधः । बुद्ध्या मनीषया । धूपचूर्णं धूपस्य चूर्णं

क्षिपन्ति प्रेयन्ति । मुग्धा मूढा । कापि काचन । अप्सरा देवगणिका “स्त्रियां बहुवचस्परस” । इति बहुवचनत्वेपि तत्केचिन्न मन्यन्ते तथैव विदग्धचूडामणौ शिष्टप्रयोगसंमतिः । “सांद्र-कांडपटसंब्रुतमूर्तेर्दतिर्दतशयनोयशयस्य । मानिनः कुलवधूरचरागादप्सराव्यदितपार्श्व-मशून्य” । सर्वान् सकलान् । उत्कुलवक्त्रान् उत्कुलं वक्त्रं येषां तान् विकसितवदनान् । चकार किल विदधौ डुकृन् करणे लिट् । भ्रांतिमानलंकारः ॥ ३१ ॥

भा० अ०—रथाग्रवर्ती सूर्यसारथि को अङ्गीठी को आग समझ कर किसी भोली भाली अप्सराने उनपर धूपचूर्ण फेंक कर सब किसी को हंसा दिया ॥ ३१ ॥

मंदाकिनीसालिसितारविंदधियान्यया मूर्ध्नि कृतो मृगांकः ॥

अमन्यतापूर्णासुभ्रं तमन्या सनीलनीररुहदुग्धकुंभम् ॥३२॥

मंदाकिनीत्यादि । अन्यया स्त्रिया । मंदाकिनीसालिसितारविंदधिया अलिना सह वर्तत इति सालो मितं च तद्विंदं च सितारविंदं सालि च तत् सितारविंदं च तथोक्तं मंदाकिन्यां विद्यमानं सालिसितारविंदं तथोक्तं मंदाकिनीसालिसितारविंदमिति धीस्तया गंगायां विद्यमानभ्रमरयुक्तपुंडरीकबुद्ध्या । मृगांकः मृगपदांको यस्य सः तथोक्तः । अत्रोचितमिदं मभिधानं । मूर्ध्नि मस्तके । कृतः कियतस्म अलंकृत इत्यर्थः । अन्या स्त्री । शिरोधृतं मृगांक-आपूर्णासुभ्रं आपूर्यतेस्म आपूर्णा परिपूर्णा सुभ्रा पीयूषं यस्य तं । सनीलनीररुहदुग्धकुंभं दुग्धस्य कुंभो दुग्धकुंभः नीरे रोहतीति नीररुहन्तत् “तत्पुरुषे कृति बहुलम्” इत्यश्लुक् नीलं च तत् नीररुहं च तथोक्तं नीलनीररुहेण सह वर्तत इति तथोक्तः सनीलनीररुहश्चासौ दुग्ध-कुंभश्च सनीलनीररुहदुग्धकुंभस्तं इंदीवरपिहितक्षोरघटं । अमन्यत अबुध्यत बुधिमनि-ज्ञाने लङ् । भ्रांतिमानलंकारः ॥ ३२ ॥

भा० अ०—किसी देवांगना ने पायूषपूर्ण मृगलाञ्छित चन्द्रमा को भ्रमर युक्त गङ्गाजी का कमल समझ कर सिर पर चढ़ाया ता किसी दूसरी ने उसे नील कमलाच्छादित दुग्ध भाण्ड समझा ॥ ३२ ॥

अग्रच्छिदेऽर्हदद्युतिभानुजायां सुरद्विपदद्युत्सुरसिंधुसरव्याम् ॥

मज्जत्प्रतीहारसुराः सुराणामनीकमद्रिं कथमप्यनैपुः ॥३३॥

अग्रच्छिद इत्यादि । सुरद्विपद्युत्सुरसिंधुसख्यां सुराणां द्विपास्तेषां धुत् सुराणां सिंधुः सुरसिन्धुः सुरद्विपद्युदेव सुरसिंधुः तथोक्ता । “देशे नदविशेषेऽथौ सिंधुर्नासरिति स्त्रियाम्” इत्यमरः । सुरद्विपद्युत्सुरसिंधुरेव सखी यस्या सा तस्यां देवगजकांतिगंगासहच-र्याम् । अर्हदद्युतिभानुजायां अर्हतो धुतिस्तथोक्ता अर्हदद्युतिरेव भानुजा अर्हदद्युतिभानुजा

तस्यां जिनाधिपकांतियमुनानद्यां । “कालिंदी सूर्यतगया यमुना शमनस्वसा” इत्यमरः । अघ-
च्छिदे अघं छिनत्तीत्यघच्छिन् तस्मै पापविनाशाय । मज्जत्प्रतिहारसुराः प्रतिहाराश्च ते सुराश्च
प्रतिहारसुराः मज्जन्तीति मज्जन्तश्च च ते प्रतिहारसुराश्च तथोक्ताः । सुराणां देवानां ।
अनोकं सेनां । सुराणामित्यत्राप्यन्वयः । अद्रिं महामेरुगिरिं । कथमपि केनचित्प्रकारेण ।
अनैषुः अवापयन् । णीञ् प्रापणे लुङ् । द्विकर्मकः ॥३३॥

भा० अ०—ऐरावत की कान्तिरूपी गंगा की सहचरी श्रीजिनेन्द्र भगवान की देह-दीप्ति-
रूप यमुना में मग्नोन्मग्न होते हुए प्रतिहारदेव किसी २ तरह अपनी सेना को पाप विनाश
करने के लिये महामेरु पर्वत पर ले गये ॥ ३३ ॥

गिरीशमुद्यद्द्विपदंतवृत्तिं रवीन्दुतारामरसेव्यपादम् ॥

दिगंबरैरावृतमेनमारादपश्यदग्रे प्रभुतुल्यमिन्द्रः ॥३४॥

गिरीशमित्यादि । इन्द्रः इंदति परमैश्वर्यमनुभवतीतींद्रः सुपर्वनायकः । उद्यद्द्विपदंत
वृत्तिं उद्यंतीत्युद्यंतः द्विपदस्य दंता इव द्विपदंता उद्यंतश्च ते द्विपदंताश्च तथोक्ताः तेषां
वृत्तिवर्तनं यस्य तं प्रोद्धवद्गजदंतगिरिवर्तनवंतम् पक्षे उदेतीत्युद्यती विपदामंता विपदंतः
उद्यती विपदंतस्य वृत्तिर्यस्य यस्मादिति वा उद्यद्द्विपदंतवृत्तिस्तं प्रोद्धवदापत्तिनाशवर्तनवंतं
एतत्पक्षे व्वंजनच्युतकच्चित्राभिप्रायेण दकारो व्युदस्यते । तदुक्तं विदग्धमुखमंडने—
“अन्याऽप्यर्थः स्फुटो यत्र मात्रादिच्युतकेऽपि । प्रतीयते विदुस्तद्ज्ञास्तन्मात्राच्युतकादिकम्”
रवीन्दुतारामरसेव्यपादं रविश्च इंदुश्च ताराश्चामराश्च तथोक्ताः सेव्यः पादः मूलं यस्य तं पक्षे
रवीन्दुतारामरैः सेव्यौ सेवनीयौ पादौ चरणा यस्य तं “पादौ अग्ने तुरीयांशे शैलप्रत्यंत-
पर्वते । चरणे च मयूखे च” इति विश्वः । दिगंबरैः दिशाश्च अंबराणि च दिगंबराणि तैः
दिशाकाशैः पक्षे दिश एवांबरं येषां तैः मुनीश्वरैः । आवृतं आव्रियतेस्म आवृतस्तं अवगा-
हितं पक्षे संस्कृतं च । गिरीशं गिरीणामीशं । गिरीशस्तं धराधरात्रीश्वरं पक्षे गिरामीशः
गिरीशस्तं वागीश्वरं “गिरीशो वाक्यनौ रुद्रे गिरीशोऽद्विपतावपि” इति विश्वः । प्रभुतुल्यं
प्रमोस्तुल्यः प्रभुतुल्यस्तं जिनेशसदृशं । एनं महामेरुं । अग्रे पुरः । आरात् समीपे । अपश्यत्
पेक्षन्त दृशिरप्रेक्षणे लङ् श्लेषः ॥३४॥

भा० अ०—इन्द्र ने गजदन्त गिरिवत्, (उदीयमान विपत्तियों का नाशक) दिशाकाश
से (दिग्भवर मुनियों से) ढके हुए, (घिरे हुए) सूर्य चन्द्र तथा ताराओं से सेवित चरण
कमल वाले इस महामेरु पर्वत (वागीश्वर) को आगे समीप ही मैं श्रीजिनेन्द्र तुल्य देखा ॥३४॥

सजातरूपोऽपि गिरिः प्रवृत्तदिगंबरान्क्रान्तिरुदप्रकूटः ॥

अघांतकं पापभियाऽभ्ययासीत्किमित्यमत्यैर्भणितः क्षणात् ॥३५॥

सजातरूप इत्यादि । सजातरूपोऽपि जातरूपेण मुनीन्द्राकारेण सह वर्तत इति सजातरूपः सोऽपि निर्ग्रन्थाकारवानपि पक्षे जातरूपेण हिरण्येन सह वर्तत इति सजातरूपः काञ्चनमयः । “जातरूपं हिरण्ये स्यादिगंबरवराकृतौ” इत्यभिधानात् । प्रवृत्तदिगंबराक्रांतिरपि प्रवर्ततेऽस्मिन् प्रवृत्ता दिशाश्च अंबराणि च दिगंबराणि आक्रान्णमाक्रांतिः प्रवृत्ता दिगम्बराणामाक्रान्तिर्यस्य सः विहितदिगाकाशातिक्रमोऽपि पक्षे प्रकृष्टं वृत्तं येषां ते प्रवृत्ताः दिशा एषांबरं येषां ते तथोक्ताः प्रवृत्ताश्च ते दिगंबराश्च तथोक्ताः प्रवृत्तदिगंबराणामाक्रांतिर्यस्य सः तथोक्तः विशिष्टचारित्र्यवन्मुनीन्द्रातिक्रमवान् । उदग्रकूटोऽपि उदग्राण्युन्नतानि कूटानि शिखराणि यस्य सः तथोक्तः अत्युच्चशिखरवानपि पक्षे उदग्र उत्कृष्टः कूटः कपटो यस्यासौ तथोक्तः अत्यंतमायावान् । “माया निश्चलयंत्रेषु कैतवानृतराशिषु । अयोधने शैलशृंगे सीरांगे कूटमस्त्रियाम्” इत्यमरः । गिरिः मेहनगेंद्रः । पापमिया पापस्य भीः पापभीः तथा निजविक्रमस्वभावदुष्कर्मभीत्या । अघांतकं अघानामंतकोऽघांतकस्तं सकलकलिलवैरिणं । अभ्यया सीत्किं अभ्यगमत्किं अभिमुखमभिगच्छतिस्म किमित्याशंका । इति एवं । अमर्त्यैः निर्जरैः । क्षणात्तः क्षणेनात्तः क्षणात्तः क्षणपरिमितकालेन संप्राप्तस्सन् । भणितः भण्यतेस्म भणितः भाषितः । विरोधालंकारः ॥३५॥

भा० अ०—सुवर्णमय (निर्ग्रन्थरूप) दिशाकाश को आक्रान्त किये हुए (उत्तम चरित्रवाले मुनियों को अतिक्रमण किये हुए) और उन्नत शिखर वाले (मायापूर्ण) महामेह पर्वतको समीपस्थ देखकर देवताओं ने कहा कि, मानों यह पर्वत पाप के भय से स्वयं ही पापघिनाशक भगवान के सामने उपस्थित हो गया है ॥ ३५ ॥

द्युमंडलं मध्यगतस्य मेरोर्मणिप्रभापंजरभासमानं ॥

विभोरमुष्योपरि हेमदंडां बभार नीलातपवारणाभाम् ॥३६॥

द्युमंडलमित्यादि । मध्यगतस्य मध्यं गच्छतिस्म मध्यगतस्तस्य मध्यभागस्थितस्य । मेरोः महामेहनगेंद्रस्य । मणिप्रभापंजरभासमानं मणीनां प्रभा मणिप्रभा सैव पंजरं तथोक्तं मणिप्रभापंजरे भासत इति भासमानं तथोक्तं रत्नद्युतिपंजरे विराजमानं । द्युमंडलं दिवो मंडलं तथोक्तं आकाशमंडलं । “द्यो दिवो द्वे स्त्रियामभ्रम्” इत्यमरः । अमुष्य अस्य । विभोः जिनेश्वरस्य । उपरि अग्रभागे । हेमदंडां हेमना निर्मितो दंडो यस्यास्ता तां । नीलातपवारणाभाम् नीलं च तदातपवारणं च तथोक्तं नीलातपवारणास्य आभा नीलातपवारणाभा तां इंद्रनीलछत्रेणेभां । बभार दधौ डु भृञ् धारणपोषणयोर्लिट् । ननु हेमदंडामित्यातपवारणाविशेषत्वे किमाभा-विशेषणत्वं व्यवहारदर्शनात् ॥३६॥

भा० अ०—मध्यवर्तीं महामेह पर्वत की मणियों की ज्योति-राशि से चमकते हुए आकाश मण्डल ने भगवान् के आगे सुवर्णदण्डयुक्त नील छत्र की शोभा धारण की ॥३६॥

अगाह्यतः पांडुवनं समंतादुपर्यटंत्या सुरसेनयाऽद्रेः ॥

सजीवचित्रांकितमंदवायुचलोत्तरीयश्रियमावहंत्या ॥३७॥

अगाहीत्यादि । अतः अस्मादतः । अद्रेः मेरुगिरेः । उपरि अग्रे । समंतात् परितः । अदंत्या अदंतीत्यदंतौ तथा गच्छंत्या । सजीवचित्रांकितमंदवायुचलोत्तरीयश्रियं जीवेन सह वर्तत इति सजीवं तच्च तत् चित्रं च तथोक्तं सजीवचित्रेणांकितः सजीवचित्रांकितः मंदध्वासौ वायुश्च तथोक्तं सजीवचित्रांकितध्वासौ मंदवायुश्च सजीवचित्रांकितमंदवायुः तेन चलं तथोक्तं सजीवचित्रांकितमंदवायुचलं च तत् उत्तरीयं च तथोक्तं तस्य श्रीः तथोक्ता तां सचैतन्यचित्रलक्षितमंदमारुतचंचलसंव्यानलक्ष्मीम् । आवहंत्या आवहतीत्यावहंती तथा बिभ्रत्या । सुरसेनया सुराणां सेना तथा अमर्त्यपृतनया । पांडुवनं पांडु च तत् वनं च तथोक्तं तदारूयाविपिनं । अगाहि प्रावेशि । गाहूङ् विलोडने कर्मणि लुङ् । “हनूद्दृशि” इत्यादिना ञिट् “जेः” इति तस्य लुक् । उत्प्रेक्षा ॥३७॥

भा० अ०—इसलिये पर्वत के ऊपर चारों ओर भ्रमण करती हुई तथा मन्द वायु से फड़फड़ाती हुई मूर्त्तिमती अङ्कित चादर की शोभा धारण करती हुई सुर-सेनाने पाण्डुक वन में प्रवेश किया । ३७ ।

अनीकिनीमत्र वने समस्तां सुरद्रुमछायसुखे यथार्हं ॥

निवेशयन्पांडुशिलामवापत्पूर्वोत्तरस्यां दिशि तस्य जिष्णुः ॥३८॥

अनीकिनीमित्यादि । सुरद्रुमछायसुखे सुराणां द्रुमा सुरद्रुमास्तेषां छाया सुरद्रुमछायं अनज्रतत्पुरुषे “सेनाछायाशालासुरानिशा” इति स्त्रीनपुंसकशेषत्वान्नपुंसकत्वम् सुरद्रुमछायेन सुखं तस्मिन्, कारणे कार्यस्योपचारात् कल्पवृक्षाणां तपःसौख्यहेतौ । अत्र वने पांडुकवने । समस्तां सकलां । अनोकिनीं चमूम् । “पृतनाऽनीकिनी चमूः” इत्यमरः । यथार्हं अर्हमनतिक्रम्य यथार्हं यथायोग्यं । निवेशयन् निवेशयतीति निवेशयन् । जिष्णुः सुत्रामा । “जिष्णुर्ल्लर्ष-मशशकः” इत्यमरः । तस्य पांडुकवनस्य । पूर्वोत्तरस्यां पूर्वस्याश्च उत्तरस्याश्च यद्विगतं तालं सा पूर्वोत्तरा तस्यां । दिशि ककुभि ईशान्यदिशीत्यर्थः । स्थितां । पांडुशिलां पांडुकध्वासौ शिला च पांडुशिला तां । भरतजिनेन्द्राभिषेकौचित्तां पांडुकाभिषेकशिलां । अवापत् अगमत् आप्लृ व्याप्तौ लुङ् । “सर्तिशास्ति” इत्यादिना अङ् ॥३८॥

भा० अ०—इन्द्रः कल्प-वृक्ष की छाया से सुखद इस पाण्डुक वन में सारी सेना को यथायोग्य स्थापित करते हुए ईशान दिशा में पाण्डुक शिलाके समीप पहुँचे । ३८ ।

शतार्धमष्टाशतमुज्वलाया विशालतामुन्नतिमायति च ॥

क्रमेण यस्याः खलु योजनानि वदन्ति सर्वज्ञजिनेन्द्रपादाः ॥३९॥

शतार्धमित्यादि । सर्वज्ञजिनेन्द्रपादाः सर्वं जानंतीति सर्वज्ञाः जिनानामिन्द्रा जिनेन्द्राः जिनेन्द्राश्च ते पादाश्च जिनेन्द्रपादाः सर्वज्ञाश्च ते जिनेन्द्रपादाश्च तथोक्ताः सर्वज्ञजिनेश्वरपूज्याः तत्र भवान् भगवानिति शब्दो विबुधैः प्रयुज्यते “पूज्ये पादाविति नामांते राजा भट्टारको देव” इति हलायुधः । उज्वलायाः उद्भासमानायाः । यस्याः पाण्डुशिलायाः । विशालतां विशालस्य भावो विशालता तां विस्तरतां । उन्नतिं उत्सेधं । आयतिं च आयामं च । शतार्धं शतस्यार्धं शतार्धं पंचाशतमित्यर्थः । “अष्टौ अष्टाङ्” इत्यादेशः । शतं च । क्रमेण परिपाट्या । योजनानि । खलु स्फुटं । वदंति व्रुवंति वद व्यक्तायां वाचि लट् । यथासंख्या-लकारः ॥३६॥

भा० अ०—सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव ने समुज्ज्वल तथा विशाल पाण्डुक शिला की उँचाई पचास योजन और लम्बाई आठ सौ योजन की बतलायी है । ३६ ।

आद्यद्विकल्पेशपरार्ध्यपीठमध्यस्थजैनामनरम्यमध्या ॥

सतोरणा रत्नमयांचला या समंगला शुक्तिसमाकृतिश्च ॥४०॥

आद्येत्यादि । या पाण्डुशिला । आद्यद्विकल्पेशपरार्ध्यपीठमध्यस्थजैनासनरम्यमध्या द्वौ च तौ कल्पौ च द्विकल्पौ आदौ भवौ आद्यौ “दिगाद्यं गांशांय” इति भावार्थे य प्रत्ययः । तौ च तौ द्विकल्पौ च आद्यद्विकल्पौ तयोमीशौ परार्ध्ये च ते पीठे च परार्ध्यपीठे आद्यद्विकल्पे-शयोः परार्ध्यपीठे तथोक्ते “परार्ध्याप्रप्राग्रहप्रप्राग्र्याग्र्याग्रीयमग्रियम्” इत्यमरः । मध्ये तिष्ठ-तीति मध्यस्थं आद्यद्विकल्पेशपरार्ध्यपीठयामध्यस्थं तथोक्तं जिनस्येदं जैनं जैनं च तद् आसनं च जैनासनं आद्यद्विकल्पेशपरार्ध्यपीठमध्यस्थं च तद् जैनासनं च तथोक्तं तेन रम्यं तथोक्तं आद्यद्विकल्पेशपरार्ध्यपीठमध्यस्थजैनासनरम्यमध्यं यस्यास्मा तथोक्ता अभिषेकनि-युक्तयोः सौधर्मशानेन्द्रयोरनर्घपीठद्वयमध्यस्थितजिनेन्द्रविष्टरमनोहरमध्यप्रदेशा । सतोरणा तोरणेन सह वर्तते इति तथोक्ता मणितोरणसहिता । रत्नमयांचला रत्नविकारो रत्नमयः रत्नमयः अंचलो यस्यास्मा तथोक्ता मणिमयाग्रभागा । समंगला अष्टमंगलैः सह वर्तते इति तथोक्ता । शुक्तिसमाकृतिश्च शुक्त्या समा तथोक्ता शुक्तिसमा आकृतिर्यस्यास्मा तथोक्ता मुक्तास्फोटसमाकारा च आवभास इत्युत्तरपदैरान्वयः ॥४०॥

भा० अ०—इन्द्र तथा ईशानेन्द्र के बहुमूल्य आसन के मध्यवर्ती श्रीजिनेन्द्र भगवान् के सिंहासन से सुन्दर है मध्यभाग जिसका ऐसी तोरणयुक्त रत्नमय अंचल ढाली पाण्डुशिला मौक्तिक गुच्छ के समान शोभती थी । ४० ।

या चावभासेऽमरकल्पितेन महाभिषेकोत्सवमंडपेन ॥

ज्वलन्मणिरस्तंभसहस्रमुक्तावितानचित्रध्वजभूषितेन ॥४१॥

येत्यादि । या च शिला । ज्वलन्मणिस्तम्भसहस्रमुक्तावितानचित्रध्वजभूषितेन ज्वलं-
तीति ज्वलंतः मणिभिर्निर्मिता स्तम्भा मणिस्तम्भाः ज्वलंतश्च ते मणिस्तम्भाश्च ज्वलन्मणि-
स्तम्भास्तेषां सहस्रं तथोक्तं 'ज्वलन्मणिस्तम्भसहस्रं' च मुक्ताया वितानं तश्च चित्राणि
च तानि ध्वजानि च चित्रध्वजानि तानि च तथोक्तानि ज्वलन्मणिस्तम्भसहस्रमुक्तावितान-
चित्रध्वजैर्भूषितस्तेन प्रस्फुरद्गन्तस्तम्भसहस्रेण मौक्तिकवितानेन विविधकेतनेश्च मंडितेन ।
अमरकल्पितेन अमरैः कल्पितस्तेन निर्जरानर्मितेन । महाभिषेकोत्सवमंडपेन महाश्रासा-
षभिषेकश्च महाभिषेकस्तस्योत्सवस्तथोक्तः महाभिषेकोत्सवस्य मंडपस्तथोक्तस्तेन ।
अन्माभिषेकबोद्धवमंडपेन । आषमासे रराज मासृङ् दीप्तौ लिट् ॥४१॥

भा० अ०—देवताओं से रचे गये हजारों मणिमय स्तंभों पर मुक्ता की चाँदनी और
चित्रित ध्वजाओं से समलंकृत महाभिषेकमण्डपसे पांडुक-शिला दैदीप्यमान होने
लगी । ४१ ।

अभ्रेऽज्वलंबरहिते सुचिरं सुमेरुक्ष्माभृत्प्रदक्षिणकृतिश्रमभारशांत्यै ॥

प्राप्तोष्टमिंदुरिव पांडुवनं शिलैषा प्रादात्सुरेन्द्रनयनोत्पलषण्डहर्षम् ॥४२॥

अभ्रेत्यादि । एषा इयं शिला पांडुशिला । अज्वलंबरहिते अज्वलंबेन रहितं तस्मिन्
आधाररहिते । अभ्रे व्योम्नि । सुचिरं दीर्घकालं । सुमेरुक्ष्माभृत्प्रदक्षिणकृतिश्रमभारशांत्यै
शोभनो मेरुः सुमेरुः क्ष्मां विभर्तीति क्ष्माभृत् सुमेरुश्चासौ क्ष्माभृच्च तथोक्तः प्रदक्षिणस्य
कृतिः प्रदक्षिणकृतिः सुमेरुक्ष्माभृतः प्रदक्षिणकृतिस्तथोक्ता तथा जातश्रमस्तस्य शांतिः
श्रमशांतिस्तस्यै मंदराचलप्रदक्षिणकरणजनितपरिश्रमोपशमाय । सुरेन्द्रनयनोत्पलषण्डहर्षं
सुराणामिंद्रस्तस्य नयनानि तथोक्तानि सुरेन्द्रनयनान्येव उत्पलानि तथोक्तानि
सुरेन्द्रनयनोत्पलानां षण्डं तस्य हर्षस्तथोक्तस्तं त्रिदशाश्रीशनेत्रकुवलयकदंबपरितोषं ।
प्रादात् प्रायच्छत् ॥ बुदाञ् दाने लुङ् ॥ ४२ ॥

भा० अ०—इस पाण्डुक-शिला ने निराधार आकाश में बहुत देर तक सुमेरु पर्वत की
प्रदक्षिणा करने से उत्पन्न हुई थकावट को शान्त करने के लिए अष्टमी के चन्द्रमा के
समान इन्द्र के नेत्र-कमल-पुंजको आनन्दित किया । ४२ ।

इत्यर्हदासकृतकाव्यरत्नस्य टीकायां सुबोधिन्यां भगवन्मंदरानयनवर्णनो नाम पंचम-
सर्गोऽयं समाप्तः ॥ ५ ॥



॥ अथ षष्ठः सर्गः ॥



अथामरेन्द्रेण गजेन्द्रतो जिनः स नीयमानः प्रतिपांडुकं महत् ॥

निराकृतोऽग्रे मधुनेव मन्मथो नितंबमुच्चैः शुशुभे हराचलात् ॥१॥

अयेत्यादि ॥ अथ मंदरानयनानंतरं । अमरेन्द्रेण अमराणामिन्द्रस्तेन लेखमुख्येन । गजेन्द्रतः गजानामिन्द्रो गजेन्द्रः गजेन्द्रात् गजेन्द्रतः ऐरावणात् । महत् पृथुलं । पांडुकं पांडुकवर्णं प्रति उद्दिश्य । नीयमानः नीयत इति नीयमानः प्राप्यमाणः । स जिनः मुनिसुवतार्हदीशः । मधुना वसन्तेन “मधु क्षौद्रे जले क्षीरे मद्ये पुष्परसे मधुः । दैत्ये चैत्रे वसन्ते च जीवाशाके मधुद्रुमे” इति विश्वः । हराचलात् हरस्याचलस्तथोक्तस्तस्मात् कैलासनगात् । नितंबं तटं । नीयमानः प्राप्यमाणः । निराकृतोऽग्रेः निराक्रियतेऽस्म निराकृतः पराभूत उग्रे रुद्रो येन सः पक्षे निराकृतो निर्धूत उग्रे रौद्ररसां येन सः तथोक्तः । “उग्रः शूद्रासुते क्षत्रत्राच्छ्रीकण्ठे चोत्कटेऽन्यवत्” इति विश्वः । मन्मथ इव मनो मथनातीति मन्मथ इव । उच्चैः अत्यंतं । शुशुभे बभौ शुभ दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ १ ॥

भा० अ०—इस के वाद इन्द्र-द्वारा ऐरावत हाथी से विशाल पाण्डु वन में पहुँचाए जाते हुए श्रीजिनेन्द्र भगवान् कैलाश पर्वत के तट पर वसन्त ऋतु के द्वारा लाए गए तथा शिवजी का अपमान किए हुए कामदेव के समान अत्यन्त सोभने लगे ॥ १ ॥

नगेन्द्रभालस्थलबद्धपट्टिकाशिलापरिस्थापित एष जिष्णुना ॥

जिनार्भकः प्रोतपुरंदरोपलस्फुरन्मनीषामपुषदिवीकसां ॥२॥

नगेद्रेत्यादि । जिष्णुना जयतीत्येवं शीलो जिष्णुस्तेन पाकशासनेन । “भूजेः स्नुक्” इति शीलार्थे स्नुक् प्रत्ययः । नगेन्द्रभालस्थलबद्धपट्टिकाशिलापरिस्थापितः नगानामिन्द्रो नगेन्द्रः भालस्थलं भालस्थलं नगेन्द्रस्य भालस्थलं तथोक्तं पट्टिका इव पट्टिका नगेन्द्रभालस्थले बद्धा तथोक्ता नगेन्द्रभालस्थलबद्धा चासौ पट्टिका च तथोक्ता सा चासौ शिला च नगेन्द्रभालस्थलबद्धपट्टिकाशिला तस्याः उपरि स्थाप्यतेऽस्म स्थापितः नगेन्द्रभालस्थलबद्धपट्टिकाशिलापरि स्थापितः पर्वतनाथभालस्थलचित्तपट्टबन्धामपांडुकशिलापरिष्ठाशिवेशितः । एषः अर्थः । जिनार्भकः जिनबालकः । दिवीकसां दिवि ओकः स्थानं येषां ते दिवीकसस्तेषां देवानां । प्रोतपुरंदरोपलस्फुरन्मनीषां प्रोथितेऽस्म प्रोतः पुरं दरतीति पुरंदरः “पुरंदरभगवन्दरं”

इत्यादिना साधुः । पुरंदरस्योपलः पुरंदरोपलः प्रोतश्चासौ पुरंदरोपलश्च तथोक्तः स्फुरंतीति स्फुरंती सा चासौ मनीषा च स्फुरन्मनीषा प्रोतपुरंदरोपल इति स्फुरन्मनीषा तथोक्ता तां संबद्धेन्द्रनीलमितिभासमानबुद्धिं । अपुषत् अनुपत् पुष पुष्टौ लङ् ॥ उत्प्रेक्षा ॥२॥

भा० अ०—इन्द्र से कौलाश पर्वत के शिखर पर चन्द्रपट्टिका के समान पाण्डुकशिला पर प्रतिष्ठापित श्रीजिनेन्द्र भगवान ने ऐसा सन्देश देवताओं के मन में उत्पन्न कर दिया कि यह शिला इन्द्रनील मणि से विजडित है ॥ २ ॥

तरंगितज्योतिषि तच्छिञ्जलातले सरोजरागद्विपवैरिविष्टरे ॥

तरंगिताम्बौ त्रिदिवौकसां सरस्यलिर्यथाकोकनदेऽशुभद्विभुः ॥३॥

तरंगितेत्यादि । तरंगितज्योतिषि तरंगस्संजातोऽस्येति तरंगितं ज्योतिर्युतिर्यस्मिन्निति तरंगितज्योतिस्तस्मिन् । “ज्योतिर्भद्योतद्वष्टिषु” इत्यमरः । तच्छिञ्जलातले सा चासौ शिला च तच्छिञ्जला तस्याः स्थलं तच्छिञ्जलातलं तस्मिन् । सरोजरागद्विपवैरिविष्टरे सरोजस्येष रागोऽरुणद्युतिर्यस्य सः सरोजरागः द्वाभ्यां पिवंतीति द्विपास्तेषां वैरिणो द्विपवैरिणस्तेर्धृतं विष्टरं द्विपवैरिविष्टरं सरोजरागेण निर्मितं द्विपवैरिविष्टरं तथोक्तं तस्मिन् पद्मरागमणिनिर्मितसिंहासने । विभुः निपण्णोऽर्हत्प्रभुः । तरंगितां तरंगास्संजाता अस्मिन्निति तरंगितं तरंगितमंबु यस्मिन् तत् तरंगितांबु तस्मिन् संजाततरंगोदके । त्रिदिवौकसां त्रिदिव एव वाकः येषां ते त्रिदिवौकसस्तेषां देवानां । सरसि सरस्यां । कोकनदे रकोत्पले । “अथ रक्तसरोरुहे रकोत्पलं कोकनदम्” इत्यमरः । अलिः भ्रमरः । यथा येन प्रकारेण तथा । अशुभत् शुभ दीप्तौ लुङ् । “द्युद्भयो लुङ्” इति तिप् “सर्तिशास्ति” इत्यादिना अङ् ॥ ३ ॥

भा० अ०—प्रदीप्त ज्योतिवाली उस पाण्डुक-शिला पर पद्मरागमणि से विजडित सिंहासन पर बैठे हुए श्रीजिनेन्द्र भगवान तरंगित जलवाली देव-गंगा में रक्त-कमल पर बैठे हुए भ्रमर के समान शोभने लगे ॥ ३ ॥

जिनेश्वरः पांडुशिलाप्रभांतरे रराज माणिक्यमयासने स्थितः ॥

हरिर्यथा विद्रुमरागरंजिते फणीन्द्रभोगे कलशार्णवांतरे ॥४॥

जिनेश्वर इत्यादि । पांडुशिलाप्रभांतरे पांडुशिलायाः प्रभाः तास्मांतं पांडुशिला प्रभांतं तस्मिन् पांडुशिलाकिरणमध्ये । माणिक्यमयासने माणिक्यस्य विकारः माणिक्यमयं तच्च तद्भासनं च माणिक्यमयासनं तस्मिन् रत्नमयसिंहासने । स्थितः तिष्ठतिस्मिन् स्थितः । जिनेश्वरः । कलशार्णवांतरे कलशमयोऽर्णवः कलशार्णवस्तस्मिन् क्षीरसमुद्रमध्ये । “मणो-वधिस्तु क्षीराधिः क्षीरोद्ः कलशोद्धिः” इति वैजयंती । विद्रुमरागरंजिते विद्रुमस्य रागः विद्रुमरागः विद्रुमरागेण रंजितस्तस्मिन् प्रवालवर्धरंजिते समुद्रांतस्थितत्वाद्बुधि-

तमिद् विशेषणं । फणीन्द्रभोगे फणीनामिन्द्रस्तथोक्तः फणीन्द्रस्य भोगः फणीन्द्रभोगस्तस्मिन् महाशेषशरीरे । “भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः” इत्यमरः । हरिः नारायणः । यथा तथा । रराज बभौ । राजृ दीप्तौ लिट् ॥ ४ ॥

भा० अ०—पाण्डुकशिला की किरणों के बीच में मणिमय सिंहासन पर विराजमान श्रीजिनेन्द्र भगवान क्षीरसमुद्र में मूंगे की लालिमा से प्रतिफलित हुई सर्पराज की देह पर विष्णु के समान सोमने लगे ॥ ४ ॥

जिनेन्द्रपांडोर्मणिपीठरश्मिभिः प्रवेणितः कांतिरयो व्यराजत ॥

यथा निमज्जद्वनितांगकुंकुमद्रवैर्जलौघो यमुनात्रिमार्गयोः ॥५ ॥

जिनेन्द्रेत्यादि । जिनेन्द्रपांडोः जिनानामिन्द्रस्तथोक्तः जिनेन्द्रश्च पांडुश्च जिनेन्द्रपांडु तयोः जिनेश्वरपांडुशिलयोः । कांतिरयः कांतीनां रयः कांतिरयः किरणप्रवाहः । “ओघः प्रवाहो वेणी च धारा स्रोतो रथः स्मृतः” इति हलायुधः । मणिपीठरश्मिभिः मणिभिर्निर्मितं पीठं तथोक्तं मणिपीठस्य रश्मयो मणिपीठरश्मयस्तैः रत्नसिंहासनकांतिभिः । प्रवेणितः प्रवेण्यतेस्म प्रवेणितः जटिलितः । यमुनात्रिमार्गयोः त्रयो मार्गा यस्यास्ता त्रिमार्गा यमुना च त्रिमार्गा च यमुनात्रिमार्गं तयोः यमुनानशीर्गंगानद्योः । “धर्मद्रवी त्रिमार्गा च” इति- वैजयंती । जलौघः जलानामोघस्तथोक्तं जलप्रवाहः” ओघो वृंदेऽम्भसां रथे” इत्यमरः । निमज्जद्वनितांगकुंकुमद्रवैः निमज्जन्तिस्म निमज्जन्त्यः निमज्जन्त्यश्च ताः वनिताश्च तथोक्ताः तासामंगानि निमज्जद्वनितांगानि तेषां कुंकुमं तथोक्तं निमज्जद्वनितांगकुंकुमस्य द्रवाः निमज्जद्वनितांगकुंकुमद्रवास्तैः । प्रवेणितः । तथा । व्यराजत व्यभासत राजृ दीप्तौ लड् ॥ ५ ॥

भा० अ०—श्रीजिनेन्द्र भगवान और पाण्डु क शिला का प्रभुपुत्र रत्नखचित सिंहासन की कान्ति से मिल कर ह्यान करती हुई ललनाओं के कुंकुम से मिश्रित गंगा और जमुना के प्रवाह के समान सोमने लगे ॥ ५ ॥

बभौ नगेंद्रः प्रभुपीठपांडुकप्रभावितानैः परितस्तिरोहितः ॥

यथैव तापात्ययसांध्यशारदैर्घनाघनौघैर्युगपत्समावृतः ॥ ६ ॥

बभावित्यादि । प्रभुपीठपांडुकप्रभावितानैः प्रभुश्च पीठं च पांडुकश्च प्रभुपीठपांडुकास्तेषां प्रभाः तथोक्ताः प्रभुपीठपांडुकप्रभाणां वितानानि प्रभुपीठपांडुकप्रभावितानानि तैः जिनेश्वरसिंहासनपांडुकशिलाकांतिसमवायैः । “वितानो यद्बहिस्तारोल्लोचेषु क्रतुकर्मणि वृत्तमेधावसरयोर्घितानं तुच्छमंदयोः” इति विश्वः । परितः समंतात् । तिरोहितः तिरीह्यतेस्म तिरोहितः पिहितः । नगेंद्रः महामेरुः । तापात्ययसांध्यशारदैः तापस्यात्ययस्तापात्ययः तापत्ययस्यायं तापात्ययः सांघ्यायाः अयं सांध्यः शारदः अयं शारदः तापात्ययश्च

सांध्यश्च शारदश्च तापात्ययसांध्यशारदास्तैः वर्षाकालसंध्याकालशरत्कालसंबंधैः ।
घनाघनौघैः घनाघनानामोघा घनाघनौघास्तैः मेघसमूहैः । “घनाघनो घनो मेघः” इति-
धनंजयः । जिनेश्वरपीठपांडुकशिलानां यथाक्रमं कृष्णारुणश्वेतवर्णत्वात् तापात्यय-
सांध्यशारदमेघवेष्टितत्वं । युगपत् सकृन् । संवृतः संव्रियतेस्म संवृतः वेष्टितः ।
यथैव तथैव । बभौ भा दीप्तौ लिट् ॥६॥

भा० अ०—श्रीजिनेन्द्र भगवान्, सिंहासन तथा पाण्डुक शिला की प्रभा से चारो ओर
से आच्छादित सुपेरु पर्वत एक ही समय में वर्षा, संध्या तथा शरत्कालीन मेघों से परि-
वेष्टित सा सोमने लगा ॥ ६ ॥

अथेन्द्रवाचा मणिदंडभृद्भिर्भुं दिदृक्षयोपव्रजतो मुहुर्मुहुः ॥

धनी दिगीशान्सपरिच्छदान हटान्निजे निजे स्थापयदाशु धामनि ॥७॥

अथेत्यादि । अथ अनंतरे । इन्द्रवाचा इन्द्रस्य वाक् इन्द्रवाक् तथा देवेशवचनेन । मणि-
दंडभृन् मणिभिर्निर्मितो दंडस्तथोक्तः मणिदंडं विभर्तीति मणिदंडभृन् रत्नदंडधरः । धनी
धनमस्यास्तीति धनी कुबेरः । विभुं जिनेश्वरं । दिदृक्षया दृष्टुमिच्छा दिदृक्षा तथा दर्शनेच्छया ।
मुहुर्मुहुः पुनः पुनः । उपव्रजतः उपव्रजंतीत्युपव्रजंतस्तान् समीपं गच्छतः । सपरिच्छदान्
परिच्छदेन सह वर्तन्त इति सपरिच्छदास्तान् परिवारसहितान् । दिगीशान् दिशामीशा दि-
गीशास्तान् दिक्पालकान् । हटात् बलात्कारात् । “प्रसमस्तु बलात्कारो हटः” इत्यमरः ।
निजे निजे स्वकीये । वीप्सायामिति द्विर्भावः । धामनि स्थाने । आशु शीघ्रं । अस्थापयत्
अतिष्ठपत् ॥ ७ ॥

भा० अ०—इस के बाद इन्द्र की आज्ञानुसार रत्नमय-दण्डधारी कुबेर ने जिनेन्द्र
भगवान् को देखने की इच्छा से बार बार समीप में आने हुए सपरिवार दिक्पालों को हटात्
अपने २ यथोचित स्थान पर बैठाया ॥ ७ ॥

जिनाभिपेकाय सुरांगनाजनं सुरप्रतानं सुरनायकानपि ॥

अशेषकृत्यं जिनभक्तिभावितान्यथार्हमग्राह्यदेष कृत्यवित् ॥८॥

जिनाभिपेकायेत्यादि । कृत्यवित् कृत्यं वेत्तीति कृत्यवित् कार्यवेदी । एषः धनदः । जिना-
भिपेकाय जिनस्याभिपेको जिनाभिपेकस्तस्मै जिनाभिपेकनिमित्तं । सुरांगनाजनं सुराणा-
मगनाः सुरांगनास्ता एव जनः सुरांगनाजनस्तं सुरस्त्रोलोकं । सुरप्रतानं सुराणां प्रतानं
तथोक्तं देवसमूहं । जिनभक्तिभावितान् जिनस्य भक्तिः तथोक्ता भाव्यंतेस्म भाविता
जिनभक्त्या भावितास्तथोक्तास्तान् जिनेशगुणानुरागसंस्कृतान् । सुरनायकानपि सुराणां

नाथकास्सुरनायकास्तान् शेषसुरेन्द्रानपि । अशेषकृत्यं अशेषं च तत् कृत्यं च अशेषकृत्यं
समस्तकार्यं । यथाहं अहमनतिक्रम्य यथाहं यथायोग्यं । अमाहयत् अस्वीकारयत् प्रह
उपादाने णिअंताल्लङ् ॥ ८ ॥

भा० अ० —कार्यं-विचक्षण कुवेर ने जिनैन्द्र भगवान के अभिषेक के लिये जिन-प्रक्ति-
लीन देवगनाओं, देवताओं तथा अवशिष्ट सुरेन्द्रों से अन्यान्य समस्त कृत्यों का यथायोग्य
सम्पादन कराया ॥ ८ ॥

अनंतरं दक्षिणावामभागयोजिनस्य पूर्वाभिमुखस्य सुस्थिते ॥

शचीपतीशानपती ससंभ्रमौ निजासने सम्मुखमध्यरोहताम् ॥६॥

अनंतरमित्यादि । अनंतरं पश्चात् । ससंभ्रमौ संभ्रमेण सह वर्तेते इति ससंभ्रमौ संभ्रम-
सहितौ । शचीपतीशानपती शच्याः पतिः शचीपतिः ईशानस्य पतिः ईशानपतिः शचीपतिश्च
ईशानपतिश्च शचीपतीशानपती सौधर्मेशानेन्द्रौ । पूर्वाभिमुखस्य पूर्वस्याभिमुखं यस्य सः
तस्य पूर्वदिग्मुखस्य । जिनेशस्य जिनेश्वरस्य । दक्षिणावामभागयोः दक्षिणश्च वामश्च
दक्षिणावामौ तौ च तौ भागौ च दक्षिणावामभागौ तयोः दक्षिणावामपार्श्वयोः । सुस्थिते
संतिष्ठेतेस्म सुस्थिते । निजासने निजयोरसने पुनस्ते स्वकीयासने । सम्मुखं मिथोऽभिमुखं
यथा तथा । अद्यरोहतां आरूढौ रुद्र वीजजन्मनि लङ् ॥ ६ ॥

भा० अ० — इसके बाद सौधर्मैन्द्र तथा ईशानेन्द्र पूर्वाभिमुखस्य श्रीजिनैन्द्र भगवान
के सामने दाहिनी और बाईं ओर लगे हुए अपने २ आसन पर बैठ गए ॥ ६ ॥

अनेकतीर्थोपहतैरथाम्बुभिः घटोद्धृतैस्त्रापयितुं जिनाभकं ॥

यदारभेतेरम मुदा सुरानकस्तवाप्सरोगीतरवाप्तदिकटं ॥१०॥

अनेकेत्यादि । अथ निजासनारोहणानंतरे । अनेकतीर्थोपहतैः न एकान्यनेकानि
अनेकानि च तानि तीर्थानि च तथोक्तानि उपह्रियंतेस्म उपहतानि अनेकतीर्थैः
उपहतानि तैः । घटोद्धृतैः उद्ध्रियंतेस्म उद्धृतानि घटैः उद्धृतानि घटोद्धृतानि
तैः कलशैरुभितैः । अंबुभिः सलिलैः । जिनाभकं जिनश्चासौ अर्भकश्च
जिनाभकस्तं जिनबालकं । स्त्रापयितुं अभिषेचयितुं । यदा यस्मिन्काले यदा । सुरानकस्त-
वाप्सरोगीतरवाप्तदिकटं आनकाश्च स्तवाश्च आनकस्तवाः सुराणामानकस्तवास्तथोक्ताः
अप्सरसां गीतानि तथोक्तानि सुरानकस्तवाप्सरोगीतानि तेषां रवाप्तं विकटं यस्मिन्कर्मणि तत्
तथोक्तं देवदुम्भुभिर्देवस्तोत्रदेवगणिकासंगीतध्वनिभिः व्याप्तदिगंतरालं यथा भवति तथा ।
मुदा संतोषेण । आरभेतेस्म रभि रामस्ये लट् “स्मे च लट्” इति स्मयोगे भूतार्थे लट् ॥१०॥

भा० अ०—अनन्तर अनेक तीर्थों से लगे गये जल से परिपूर्ण कलसों से श्रीजिनेन्द्र बालक को अभिषेक कराना उन दानों ने देवदुन्दुभि, स्तुति तथा अप्सराओं की गीतध्वनि यों से दिशाओं को परिपूर्ण करते हुए प्रसन्नता-पूर्वक आरंभ किया ॥ १० ॥

तदा ऋभूणामुभयी घटा घटैः पयांसि नेतुं घटिता प्रयत्नतः ॥

सुमेरुचूलादिसुधारणावावधिप्रबद्धनीलोपलतीर्थपद्धतिः ॥११॥

तदैत्यादि । तदा तत्समये । घटैः कनककलशैः । पयांसि क्षीराणि “पयः क्षीरं पयोऽबु च” इत्यमरः । नेतुं आदातुं । सुमेरुचूलादिसुधारणावावधिप्रबद्धनीलोपलतीर्थपद्धतिः सुमेरोश्चूला आदिर्यस्मिन् कर्मणि तत् सुधारूपोऽर्णवः सुधारणवः स एवावधिर्यस्मिन् कर्मणि तत् तीर्थ-स्य पद्धतिः तथोक्ता नीलाश्च ते उपलाश्च नीलोपलाः प्रबध्यतेस्म प्रबद्धा नीलोपलैः निर्मिता तीर्थपद्धतिः तथोक्ता “तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु । अवतारर्विजुष्टाग्भः स्त्रीरजः-सु च विश्रुतम्” इति विश्वः । प्रबध्यतेस्म प्रबद्धा सुमेरुचूलादिसुधारणावावधिप्रबद्धा नीलो-पलपद्धतिर्यस्यास्सा तथोक्ता मेरुगिरिचूलिकाप्रभृतिक्षीराब्धिपर्यंतरचित्तेन्द्रनीलमणिसो-पानमार्गवती । ऋभूणां निर्जराणां “आदित्या ऋभवेऽस्वप्नाः” इत्यमरः । उभयी उभाव-व्यवाचस्या इत्युभयी द्विप्रकारा । घटा घटना । “घटः कुंभे समाधौ च घटा तु गजसंहतौ । घटनायां च गोष्ठ्यां च” इति नानार्थरत्नमालायां । प्रयत्नतः प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तस्मात् प्रयत्नतः । घटिता घट्यतेस्म घटिता रचिता तदा । ऋभूणामित्यत्र “पदे तु संहिता नित्या सैव वाक्ये विकल्पते” इति वचनान्नसंधिः कृतः ॥ ११ ॥

भा० अ०—उस समय सुमेरु पर्वत से लेकर क्षीरसमुद्र तक नीलरत्नघटित सोपान-मार्ग से जाती हुई द्विविध देवमण्डली सुवर्णकलसों से अभिषेक जल लाने के लिये प्रयत्नपूर्वक संघटित हुई ॥ ११ ॥

बभुर्ब्रजंतो मणिकुंभधारिणः सुधाशिनः पांडुवनात्पयोवनं ॥

जिनेन्द्रभक्त्या जलनीतये स्वयं प्रवृत्तपात्रांगसुरद्रुमा इव ॥१२॥

बभुरित्यादि । पांडुवनात् पांडु च तत् वनं च पांडुवनं तस्मात् । पयोवनं पयसो वनं पयोवनं “दुग्धाब्धिप्रवणप्रवासनिवासवारिकांतारेषु वनम्” इति नानार्थकोशे । ब्रजंतः ब्रजंतोति ब्रजंतः गच्छंतः । मणिकुंभधारिणः मणिभिर्निर्मिताः कुंभा मणिकुंभा मणिकुं-भान् धरतीत्येव शीलास्तथोक्ताः । सुधाशिनः सुधामश्नन्तीति सुधाशिनः देवाः । जिनेन्द्रभक्त्या जिनेन्द्रे कृता भक्तिर्जिनेन्द्रभक्तिस्तया । स्वयं । जलनीतये जलस्य नयनं जलनीतिस्तस्यै सलिलानयनाय । प्रवृत्तपात्रांगसुरद्रुमा इव पात्राण्यंगेषु येषां ते तथोक्ताः

सुराणां द्रुमास्सुरद्रुमाः पात्रांगाश्च ते सुरद्रुमाश्च तथोक्ताः प्रवृत्ताश्च ते पात्रांगसुर-
द्रुमाश्च तथोक्ताः प्रवृत्तपात्रांगकल्पवृक्षा इव । बभुः रेजिरे भा दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥१२॥

भा० अ०—पाण्डुक वनसे क्षीर समुद्र तक चकर काटते हुए तथा मणिमय कलश
लिये देवताएं जिनेन्द्र भगवान की भक्ति से स्वयं जल लाने के लिये पंचांग कल्पवृक्ष के
समान सोभते थे ॥ १२ ॥

भुवा च भीत्या भिदुरात्मकं सुगः स्वभावतो ह्यक्षमुखैर्विवर्जितम् ॥

विशालमाद्यंतविदूरमद्भुतं गभीरमापुस्त्वरया पयोनिधिम् ॥१३॥

भुवेत्यादि । भुवा भूम्या । भीत्या च वेदिकयापि । भिदुरात्मकं भिदुरमेवात्मा यस्य सः
भिदुरात्मकस्तं वज्रमयं “कुलिशं भिदुरं पविः” इत्यमरः । स्वभावतः स्वस्य भाव-
स्तस्मात् । व्यक्षमुखैः द्वे अक्षे येषां ते व्यक्षास्त एव मुखमादिर्येषां ते व्यक्षपुखास्तैः
द्वीन्द्रियादिप्राणिभिः । “अक्षः कर्षे तुषे चक्रे शकटे व्यवहारयोः । आत्मज्ञे पाशके चाक्षं
तुत्थसौवच्चर्चलेंद्रिये” इति विश्वः । विवर्जितं विरहितं निर्जंतुक्त्वात्परिशुद्धमित्यर्थः । विशालं
विस्तीर्णं । आद्यंतविदूरं आदिश्च अंतश्च आद्यंतौ ताभ्यां विदूरस्तं अनादिनिघनमित्यर्थः ।
अद्भुतं आश्चर्यभूतं । गभीरं अगाधं । पयोनिधिं पयांसि निधीयतेऽस्मिन्निति
पयोनिधिस्तं सुधोदधिं । त्वरया शीघ्रेण “संभ्रमस्त्वर” इत्यमरः । आपुः ययुः आप्लु व्याप्तौ
लिट् । जातिः ॥१३॥

भा० अ०—ये (देवताएं) स्वभाव ही से द्वीन्द्रिय जीवों से रहित, अनादि निघन
भूमि और वेदिका से वज्रमय अद्भुत तथा अगाध सुधासमुद्र को शीघ्र भाये ॥ १३ ॥

निपीड्य लक्ष्मीमपहत्य चक्रिरे ठकाः स्वकं जीवनमात्रशेषकं ॥

अपीदमायांत्यपहर्तुमित्यगादपानिधिर्वेपथुमूर्मिभिर्न तु ॥ १४ ॥

निपीड्येत्यादि । ठकाः कार्पटोप्रथिचारवः । निपीड्य निपीडनं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति
बाधित्वा मथित्वेत्यर्थः । लक्ष्मीं कमलां । अपहत्य अपहरणं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति
स्वीकृत्य । स्वकं कुत्सितः स्वः स्वकस्तं निकृष्टमात्मानं “कुत्सितालयाज्ञातः” इति क प्रत्ययः ।
जीवनमात्रशेषकं जीवनमेव जीवनमात्रं प्राणमात्रमुदकमात्रं वा तदेव शेषमवशिष्टं यस्य तं
“जीवनं वर्तने नीरे पुत्रजीवे तु जीवनः” इति विश्वः । चक्रिरे विदधिरे डुकृञ् करणे लिट् ।
इदमपि जीवनमात्रमपि अपहर्तुं प्रहीतुं । आयांति आगच्छंति या प्रापणे लट् । इति एवं
भयादिति शेषः । अपानिधिः समुद्रः । “तत्पुरुषे कृतिबहुलम्” इत्यश्लुक् । वेपथुम् कंपनं ।
द वेपु कंपनं इति धातोः “दुडिच्त्तोऽथक्ती” इतिकर्तर्यथुःप्रत्ययः । अगात् अगमत् । इण् गती

लुङ् “गैत्योः” इति गादेशः । ऊर्मिभिस्तु तरंगैस्तु वेपथुं नागात् । अपहवः ॥१४॥

भा० अ०—धूर्तों ने मथ तथा लक्ष्मी निकाल कर इसका जलमात्र अवशिष्ट रख छोड़ा है, इसे भी देवतालोग अपहरण करने के लिये मानों आ रहे हैं, इसी भय से तरंगों के द्वारा समुद्र कम्पित हो रहा है ॥ १४ ॥

मरुत्सु कुंभान्युगपत्क्षिपत्स्वलं जलाय संक्षोभमिषेण सागरः ॥

जिनोत्सवार्होऽहमभृवमित्यभृन्मुदा समुन्मेषित एष केवलं ॥१५॥

महत्स्वित्यादि । मरुत्सु दैवेषु “गरुतौ पवनामरौ” इत्यमरः । जलाय उदकाय । कुंभान् कलशान् । युगपत् सकृत् । अलं भृशम् । “अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्” इत्यमरः । क्षिपत्सु सत्सु “यद्भावोभावलक्षणम्” इति सप्तमी । सागरः पयोनिधिः । संक्षोभमिषेण संक्षोभ एव मिषं तेन चलनव्याजेन “मिषं गजनिमीलनम्” इत्यभिधानात् । एषः अयं । जिनोत्सवार्हः जिनस्य उत्सवः तथोक्तः जिनोत्सवस्य अर्हः जिनोत्सवार्हः जिनजन्माभिषेकोत्सवयोग्यः । अभृवं अभवं भू सत्तायां लुङ् । केवलं परं । मुदा क्षतोषेण । समुन्मेषितः प्रवृद्धः अभृत् भू सत्तायां लुङ् ॥१५॥

भा० अ०—जल भरने के लिये देवताओं के घट-क्षेपण करने से मैं जिन भगवान के उत्सव का योग्य हुआ इस व्याज से समुद्र प्रसन्नता पूर्वक बढ़ने लगा ॥ १५ ॥

विनिन्युरेकं मुखयोजनं घटैर्दधद्भिरष्टोदरयोजनानि च ॥

जलानि सर्वाण्यपि दुग्धवारिधेः स्वकेन मार्गेण धराधरं सुराः ॥१६॥

विनिन्युरित्यादि । सुराः देवाः । एकमुखयोजनं एक मुखस्य योजनं तथोक्तं । अष्टोदर-योजनानि उदरस्य योजनानि उदरयोजनानि अष्ट च तान्युदरयोजनानि च तथोक्तानि पुनस्तानि । दधद्भिः धरद्भिः । घटैः कलशैः । दुग्धवारिधेः वारोणि धीयन्ते अस्मिन्निति वारिधिः दुग्धरूपो वारिधिश्च तथोक्तः तस्मात् । सर्वाण्यपि सकलान्यपि । जलानि सलिलानि । स्वकेन स्वकीयेन । मार्गेण पथा आकाशमार्गेणेत्यर्थः । धराधरं धरां धरतीति धराधरस्तं महामेरुपर्वतं । विनिन्युः प्रापयतिस्म णीञ् प्रापणे लिट् ॥१६॥

भा० अ०—एक योजन चौड़े मुँह तथा आठ योजन चौड़े पैंदेवाले घटों के द्वारा देवताओं ने क्षीर-समुद्र का जल अपने आकाश मार्ग से सुमेरु पर्वत पर पहुँचाया ॥१६॥

जिनोऽयमक्षीणमहानसर्धिभागभविष्यतीत्यस्य विवक्षया स्फुट ॥

वितीर्णमप्यम्बुधिना पयोऽखिलं जिनाधिपायाक्षयतामयात्पुनः ॥१७॥

जिन इत्यादि । अयं एषः । जिनः पुर्जयकर्मठकर्मातीन् जयतीति जिनः जिननाथः । अक्षी-

णमहानसर्धिभाक् क्षीयतेस्म क्षीणं न क्षीणमक्षीणं अक्षीणं महानसं यस्यास्सा तथोक्ता
अक्षीणमहानसा चासौ ऋद्धिश्च तथोक्ता अक्षीणमहानसर्धि मज्जतिस्मेत्यक्षीणमहान-
सर्धिभाक् भज सेवायामितिभ्रातोः "विणभज" इति विणप्रत्ययस्तस्य लोपो दीर्घश्च ।
भविष्यतीति जनिष्यत इति । अस्य अर्थस्य । स्फुटं व्यक्तं । विवक्षया वक्तुमिच्छा
विवक्षा तथा उच्चरितुं वाञ्छया चच परिभाषणे इति धातोस्मनन्तात् स्त्रीलिङ्गे अत्र-
त य । जिनाधिपाय जिनश्चात्तावधिपस्तस्मै अर्हदीशिषे । अंबुधिना अंबूनि
धीयतेऽस्मिन्नित्यंबुधिस्तेन क्षीरधारिधिना । अखिलं समस्तं । पयः क्षीरं । वितोर्णमुपि
प्रदत्तमपि । पुनः भूयः । अक्षयतां न क्षयः अक्षयस्तस्य भावोऽक्षयता तां अन्यूनत्वं । आयात्
भागच्छत् या प्रापणे लङ् ॥ १७ ॥

भा० अ०—यह जिनेन्द्र भगवान् अक्षय धन-धान्य-समृद्धिशाली होंगे इसी कारण से
समुद्र ने जितने जठ समर्पित किये थे उनकी पूर्ति फिर हो गयी ॥ १७ ॥

अथामरेंद्रौ सुवृद्धौ कितान् भुजैर्नेकैर्विकृतैः पयोघटान् ॥

विधृत्य जन्माभिषवं विधित्तया सुनिर्मलस्यापि जिनस्य चक्रतुः ॥ १८ ॥

अथेत्यादि । अथ जलानयनानन्तरं । अमरेंद्रौ सौधर्मशानेंद्रौ । विकृतैः विक्रियतेस्म वि-
कृतास्तेः विक्रियाशक्तिकृतैः । अनेकैः समस्तैः । भुजैः बाहुभिः । सुवृद्धौ कितान् सुराणां
वृद्धं तथोक्तं ढौकतेस्म ढौकितः । सुरवृद्धैर्न ढौकितः । सुरवृद्धौ कितान् सुरसमूहेनानीतान् ।
पयोघटान् पयसा पूर्णां घटाः पयोघटास्तान् क्षीरकलशान् । विधृत्य धृत्वा । सुनिर्मलस्यापि
मलान्निर्गतो निर्मलः सुष्ठु निर्मलः सुनिर्मलस्तस्य निर्गतकल्पस्यापि । जिनस्य जिनेश्वरस्य
जन्माभिषवं जन्मनोऽभिषवो जन्माभिषवस्तं जन्माभिषेकं । विधोच्छ्रया विधेरिच्छा विधी-
च्छा तथा । विधित्सेति पाठे विधातुमिच्छा विधित्सेति सन्तः कर्तुमिच्छा तथा । चक्रतुः
विदधतुः डुकृञ् कर्णे लिट् ॥ १८ ॥

भा० अ०—सौधर्म और ईशानेंद्र ने देवताओं से समर्पित किये गये जलपूर्ण कल-
सों को अपनी अनेक कल्पित भुजाओं से अत्यन्त स्वच्छ शरीरवाले भी जिनेन्द्र भगवान्
का अभिषेक किया ॥ १८ ॥

सुवर्णागारुत्मतरूप्यकुंभिभिर्भुजासहस्रैरमराधिपावुभौ ॥

व्यराजतां पाकशलाटुपुष्पभिर्लतासहस्रैरिवकल्पशाखिनौ ॥ १९ ॥

सुवर्णेत्यादि । उभौ अमराधिपौ अमराणामधिपौ सौधर्मशानेंद्रौ । सुवर्णागारुत्म-
तरूप्यकुंभिभिः सुवर्णं च गारुत्मतं च रूप्यं च तथोक्तानि तैः निर्मितानि कुंभानि तैः

द्विरण्यमरकतमणिरजतमयकलशवद्भिः “गाढतमं मरकतमश्मगर्भोहरिन्मणिः” इत्यमरः । भुजासहस्रैः भुजानां सहस्राणि भुजासहस्राणि तैः सहस्रबाहुभिः । “बाहौ पाणौ भुजोर्ध्वयोः” इति नानार्थरत्नमालायां । कल्पशखिनौ शाखास्संत्यनयोरिति शाखिनौ कल्पौ च तौ शाखिनौ च तथोक्तौ कल्पवृक्षाविव । पाकशलाटुपुष्पभिः पच्यतेस्म पाकः पाकमूलेऽपिन्वाविकर्णादिभ्यः कुण्डजाहलावित्यस्यार्थं विवृण्वता कौशिककरेण पाकः फलमित्युक्तं ततः पक्कफलमित्यर्थः । पाकश्च शलाटुश्च पुष्पं च पाकशलाटुपुष्पाणि तानि संत्येषामिति पाकशलाटुपुष्पाणि तैः पक्कफलामलपुष्पसहितैः । “पाकशिशा जरानिष्ठापचनक्लेदनेषु च” इति विश्वः । “आमे फले शलाटुः स्यात्” इत्युभयत्राप्यमरः । लतासहस्रैः लतानां सहस्राणि लतासहस्राणि तैः सहस्रशाखिभिः । “लता ज्योतिष्मती स्पृका शाखावल्लीप्रियंगुषु” इति विश्वः । व्यराजतां अभातां राज् दीप्तौ लङ् ॥ उत्प्रेक्षा ॥ १६ ॥

भा० अ०—ये देवानो सुवर्ण, मरकत मणि और चाँदी के घड़ों से युक्त सहस्र भुजाओं से सुपक फल तथा मनोहर पुष्पों से लदी हुई हजारों लताओं से दो कल्पवृक्षों के समान शोभित हो रहे थे ॥ १६ ॥

शिशुश्च शैलश्च धृतिं परीक्षितुं ध्रुवं सुरेन्द्रद्वितयेन वारिधेः ॥

निषिच्यमानौ युगपत्सुधाजलैरुभावभूतां समधैर्यसंपदौ ॥ २० ॥

शिशुरित्यादि । शिशुश्च जिनबालकः । शैलश्च महामेरुः । धृतिं धैर्यं । “धृतिर्धारणधैर्ययोः” इत्यमरः । ध्रुवं निश्चलं । परीक्षणाय परीक्षितुं परीक्षानिमित्तं । सुरेन्द्रद्वितयेन सुरेन्द्रयोर्द्वितयं सुरेन्द्रद्वितयं तेन सौधर्मेशानेन्द्रयुगलेन । वारिधेः क्षीरसमुद्रस्य । सुधाजलैः सुधामयानि जलानि सुधाजलानि तैः अमृतसलिलैः । युगपत् सकृदेव । निषिच्यमानौ निषिच्येते इति निषिच्यमानौ “माङ् लट्” इत्यादिना कर्मणानः “मगाने” इति मगागमः । उभौ द्वौ । समधैर्यसंपदौ धैर्यस्य संपत् ययोस्तौ समानधृतियुक्तौ । अभूतां अजनिषातां भू सत्तायां लुङ् ॥ २० ॥

भा० अ०—धैर्य और निश्चलता की परीक्षा करने के लिये क्षीरसमुद्र के अमृतमय जलके द्वारा दोनों इन्द्रों से स्नान कराये जाते हुए श्रीजिन बालक और पाण्डु क शिलापक ही साथ समान धैर्य-सम्पत्ति-शाली से हुए ॥ २० ॥

वहत्पयःपूरशतानि पांडुकात् बभुस्त्रिलोकैकगुरोर्जिनेशिनः ॥

भरेण भिन्नादभितो विनिस्सरत्प्रभूतनिर्यासरसप्रवाहवत् ॥ २१ ॥

वहदित्यादि । पांडुकात् पांडुकापलात् । वहत्पयःपूरशतानि पयसां पूराः पयपूराः वहंतीति वहंतः वहंतश्च ते पयःपूराश्च तथोक्तास्तेषां शतानि निर्गच्छत्क्षीरपूरशतानि

त्रिलोकैकगुरोः त्रयश्च ते लोकाश्च तथोक्ताः एकश्चासौ गुरुश्च एकगुरुः त्रिलोकानामेक-
गुरुस्त्रिलोकैकगुरुस्तस्य त्रिभुवनस्य मुख्यगुरोः । “गुहनिषेकादिकरे पित्रादौ सुरमन्त्रिणि ।
दुर्जराऽलघनोः प्रोक्तो गुरुर्महति वाच्यवत्” इति विश्वः । जिनेशिनः त्रि ननाथस्य । भरेण
भारेण । भिन्नात् भिनत्तिस्म भिन्नं तस्मात् । अभितः सर्वतः । विनिस्सरत्प्रभूतनिर्यास-
रसप्रवाहवत् निर्यासस्य रसः निर्यासरसः तस्य प्रवाहस्तथोक्तः प्रभूतश्चासौ निर्यास-
रसप्रवाहश्च तथोक्तः निस्सरतीति निस्सरन् स चासौ प्रभूतनिर्यासरसप्रवाहश्च
तथोक्तस्तद्वत् निगच्छत्प्रभूतनिर्यासरसप्रवाह इव “निर्यासस्यादाभ्रमरसः खपुरो
वेषकोलशः” इति विदग्धचूडामणौ । बभुः । रेजुः भा वितौ लिट् ॥२१॥

भा० अ०—पाण्डुक-शिला से प्रवाहित होते हुए रैकड़ो जल प्रवाह मानो त्रिभुवन-
पति श्रीजिनेन्द्र भगवान् के बोझ से दबकर चारो तरफ से निकलती हुई आभ्र-रसधारा के
सदृश मालूम होते थे ॥ २१ ॥

नगेंद्रसंपत्तिदिदृक्षया ध्रुवं पयःप्रवाहाः परितोऽपि संभ्रमात् ॥

हटत्तटीशृंगशिलागुहासरोवनेषु पर्याटुग्नेकदा चिरं ॥२२॥

नगेंद्रेत्यादि । पयःप्रवाहाः पयसां प्रवाहाः तथोक्ताः क्षीरप्रवाहाः । नगेंद्रसंपत्तिदिदृक्षया
नगानां इंद्रो नगेंद्रस्तस्य संपत्तिः तथोक्ता द्रष्टुमिच्छा दिदृक्षा नगेंद्रसंपत्तिदिदृक्षा तथा
महामेरोः संपदं द्रष्टुमिच्छया । हटत्तटीशृंगशिलागुहासरोवनेषु तटी च शृंगं च शिला च
गुहा च सरश्च वनं च तटीशृंगशिलागुहासरोवनानि हटंतीनि हटन्ति हटंति च
तानि तटीशृंगशिलागुहासरोवनानि च तेषु रमणीयतया प्रस्फुरच्छिखरशिलागुह-
सरोवरकाननेषु । परितोऽपि । संभ्रमात् संवेगात् “समी संवेगसंभ्रमी” इत्यमरः ।
अनेकधा अनेकेन प्रकारेण अनेकधा अनेकविधेन । चिरं बहुसमयपर्यन्तम् । पर्याटुः
इतस्ततः परिजग्मुः । अट गतौ लिट् ॥ २२ ॥

भा० अ०—जलधाराओं ने सुमेरु पर्वत की विभूति देखने की इच्छा से—नदी, शिखर,
गिरिकन्दरा, तालाव तथा वन में चारों ओर यड़े वेग से दैर तक चक्कर लगाया ॥२२॥

वहत्पयःपूरशतोऽभितो बभौ सुमेरुराच्छिद्य पतवयोर्द्वयं ॥

पुनश्च केनापि चरिष्यतीत्ययं गिरिद्विषा राजतरज्जुबद्धवत् ॥२३॥

वहदित्यादि । गिरिद्विषा गिरीणां द्विद् तथोक्तस्तेन देवेंद्रेण । पतत्रयोः पक्षयोः ।
द्वयं युगलं । आच्छिद्य खडित्वा । पुनश्च पश्चात् । अयं एषः पर्वतः । केनापि
प्रकारेण । चरिष्यति गमिष्यति । राजतरज्जुबद्धवत् रजतस्येयं राजती राजती चासौ
रज्जुश्च राजतरज्जुः बध्यतेस्म बद्धः राजतरज्जु बद्धस्तथोक्तस्स इव रूप्यकृतज्वा बद्ध इव ।

अभितः सर्वतः । वहत्पयःपूरशतः पयसां पूराः पयःपुराः तेषां शतानि पयःपूरश-
तानि वहतिपयःपूरशतानि यस्यासौ तथोक्तः । सुमेरुः महामेरुः । बभौ चिरराज ।
भा दीप्तौ लिट् । प्राग्गिरयः सपक्षाः शकचनं चरंतो गोत्रभिदा सपक्षच्छेदमघः
पातिता इति हि लौकिकोक्तिः स्तोत्रमुत्प्रेक्ष्यते ॥ २३ ॥

भा० अ०—इन्द्र से दोनों पांख काटे जाने पर भी सुमेरु पर्वत शायद फिर से किसी
तरह चलने लग जाय—इस खयाल से इसे सैकड़ों जलधारा-रूपी राजतरजरू से आषट्
के समान सोभता था ॥ २३ ॥

विरेजुरुन्मग्ननिमग्नमूर्तयो मुहुर्मुहुर्ज्योतिपलोकसंश्रिते ॥

पयःप्रवाहे परिताऽपि तारका यथैव विस्पष्टविनष्टबुद्बुदाः ॥ २४ ॥

विरेजुरित्यादि । पयःप्रवाहे पयसां प्रवाहस्तथोक्तस्तस्मिन् । ज्योतिषलोक
संश्रिते ज्योतिषामयं ज्योतिषः स चासौ लोकश्च ज्योतिषलोकस्तं संश्रितस्तस्मिन्सति ।
परिताऽपि स्वनेऽपि । उन्मग्ननिमग्नमूर्तयः उन्मज्जन्तिस्म उन्मग्नः निमज्जन्तिस्म निमग्नः
उन्मग्नश्च निमग्नश्च तथोक्तः । उन्मग्ननिमग्नः मूर्तयो यानां तास्तथोक्ता उद्गतां तर्गता-
वययाः । तारकाः नक्षत्राणि । “तारकाप्युद्वास्त्रियाम्” इत्यमरः । मुहुर्मुहुः पुनःपुनः ।
विस्पष्टविनष्टबुद्बुदाः विस्पष्टाश्च विनष्टाश्च विस्पष्टविनष्टाः ते च ते बुद्बुदाश्च तथोक्ताः
व्यक्ताव्यक्तजलबुद्बुदाः । यथैव येन प्रकारेण । तथा तेनैव प्रकारेण । रंजुः बभुः राज्ञ
दीप्तौ लिट् उत्प्रेक्षा ॥ २४ ॥

भा० अ० इस जलप्रवाह के ज्योतिर्लोक में पहुँचने पर इसमें मग्नोन्मग्न होती हुई
तारायें उगती और विनशते हुए जल बुद्बुद के समान दीखती थीं ॥ २४ ॥

निशाकराहस्करभार्गवासितैरलक्ष्यत क्षीरतरंगिणी क्षणां ॥

सिताब्जरक्तांबुजकैरवोत्पलैर्विराजमानेव वियत्तरंगिणी ॥ २५ ॥

निशाकरेत्यादि । क्षीरतरंगिणी तरंगास्संन्यस्यामिति तरंगिणी क्षीरस्य तरंगिणी
“नृदुक्” इत्यादिना डी । निशाकराहस्करभार्गवासितैः निशां करोतीति निशाकरः “दिवावि-
भानिशेत्यादिना” कृज्प्रत्ययः अहस्करातोत्यहस्करः तेनैव सूत्रेण ट् प्रत्ययः भुगौ भवो
भार्गवः निशाकरश्च भार्गवश्च असितश्च निशाकराहस्करभार्गवासितास्तेः चंद्र
सूर्यशुक्रशनेश्वरैः सिताब्जरक्तांबुजकैरवोत्पलैः अप्सु जायत इत्यब्जं सितं च तत् अब्जं च
सिताब्जं रक्तं च तत् अंबुजं च कैरवं च “मिते कुमुदकैरवे” इत्यमरः उत्पलं च सिताब्ज-
रक्तांबुजकैरवोत्पलानि तैः श्वेताश्वरक्तकमलसिनोत्पलनीलोत्पलैः । विराजमाना विराजत
इति विराजमाना “माङ्गलदेत्यादिना” आनश् प्रत्ययः “मगाने” इति मः वियत्तरंगिणीव

वियती विद्यमाना तरंगिणी तथोक्ता सेव क्षणं क्षणपर्यन्तम् । अलक्ष्यत बहुशयत । लक्ष्मि-
दर्शनांकनयोः कर्मणि लङ् । उत्प्रेक्षा यथासंख्या च ॥ २५ ॥

भा० अ०—क्षीरनदी—लाल, काले, उजले कमल तथा कैरव से समाच्छादित होकर
चन्द्र, सूर्य, शुक तथा शनिग्रह से परिवेष्टित देवनदी के समान कुछ क्षण तक
सोभने लगी ॥२५॥

वहन्ति नानामणिमेदिनीप्रभाप्रबद्धदुग्धांबुधुनीशतान्यभुः ॥

सुरेंद्रभीताचलपालिनेऽब्धये नगाधिपक्षिप्रविचित्रवस्त्रवत् ॥ २६ ॥

वहन्तीत्यादि । वहन्ति वहन्तीति वहन्ति स्रवन्ति वहन्ति प्रापणे इति धातोः शतृप्रत्ययः ।
नानामणिमेदिनीप्रभाप्रबद्धदुग्धांबुधुनीशतानि नानामणिमेदिनीप्रभामिः प्रबध्यन्तेस्मि
प्रबद्धानि तथोक्तानि दुग्धरूपपाण्यम्बूनि दुग्धाम्बूनि तेषां धुन्यः दुग्धाम्बुधुन्यस्तासां
शतानि तथोक्तानि नानामणिमेदिनीप्रभाप्रबद्धानि च तानि दुग्धाम्बुधुनीशतानि
तथोक्तानि विविधगणकान्तिभिः रजितक्षीरगनीरनद्यनेकानि । सुरेंद्रभीताचलपालिने
सुराणामिन्द्रः सुरेंद्रः तरुमाद्वीता सुरेंद्रभीतास्ते च ते अचलाश्च तथोक्ताः
सुरेंद्रभीताचलान् पालयतीत्येवं शीलः पाली तथोक्तस्तस्मै गोत्रमिद्वीतपर्वतरक्षकाय ।
अब्धये आपो धीयन्तेऽस्मिन्नित्यविध्वस्तस्मै समुद्राय । नगाधिपक्षिप्रविचित्रवस्त्रवत्
नगानामधिपस्तथोक्तः क्षिप्यतेस्म क्षिप्तं नगाधिपेन क्षिप्तं तथोक्तं विचित्रं च
तत् वस्त्रं च विचित्रवस्त्रं नगाधिपक्षिप्रं च तत् विचित्रवस्त्रं च तथोक्तं नगाधिपक्षिप्र-
विचित्रवस्त्रमिव तथोक्तं । आभुः व्यगजन् । मा दीमौ लङ् । “आद्विषांर्भर्जुस्वा” इति
विकल्पेन जुस् । उत्प्रेक्षा ॥ २६ ॥

भा० अ०—विविध गणिमय मेदिनी की प्रभा से प्रतिकलित सैकड़ों दुग्धरूप जल की
नदियां इन्द्र से डरे हुए पर्वतों की रक्षा करने वाले समुद्र को पर्वतराज से दिये गये
अपूर्व वस्त्र के समान सोभने लगीं ॥२६॥

महीभृता तेन तदोपधीकृताः पयस्तटिन्यो भुवनैकपालकं ॥

सुगोत्रलावण्यनिवासमर्गाव समेत्य वर्याः स्वमयं व्यधुः ज्ञाणात् ॥२७॥

महीभृतेत्यादि । तेन महीभृता महीं बिभर्तीति महीभृत् तेन राजा पर्वतेन वा ।
तदा तत्समये । उपधीकृताः प्रागनुपधा इदानीमुपाधाः कियन्तेस्म तथोक्ताः “उपायन-
मुपप्राह्यमुपधाचापि” इत्यमरः । पयस्तटिन्यः तटमस्त्यान्नामिति तटिन्यः पयसां तटिन्य-
स्तथोक्ताः क्षीरनद्यः । वर्याः विशिष्टाः पतिवराश्च पुरुषस्ववशीकरणचतुरा इत्यर्थः । “पति-
वरा च वर्याथ मुख्यवर्यवरेण्याश्च” इत्यमरः । भुवनैकपालकं एकध्यासौ पालकश्च एक-

पालकः भुवनस्यैकपालको भुवनैकपालकस्तं लोकस्य सुख्यरक्षकं । सुगोत्रलावण्य-
निवासं शोभनं गोत्रं विशिष्टान्वयः पक्षे शोभना गोत्राः सुगोत्राः महागिरयः
सुगोत्रं च सुगोत्राश्च लावण्यं सौरूप्यं लवणत्वं तच्च सुगोत्रलावण्यानि तेषां निवासस्तं
“गोत्रं नाम्नि कुले क्षेत्रे कानने चित्तवर्त्मनोः संभावनीयबोधेऽपि गोत्रः क्षोणिधरे मतः ।
लावण्यं देहकांतौ च लवणत्वे च कथ्यते” इत्युभयत्राप्यभिधानात् । अर्णवं अंबुधिं ।
समेत्य समयनं पूर्वापश्चात्किञ्चिदिति प्राप्य । क्षणात् अल्पकालात् । स्वमयं
स्वस्मादभिन्नं स्वस्वरूपं । व्यधुः अकार्षुः दुष्प्राप्त्धारणे च लुब्धुः । श्लेषालंकारः ॥ २७ ॥

भा० अ०—उस समय मानों राजा से (पर्वत से) भेंट की गयीं सुन्दर दुग्धमय
नदियों ने संसार के एकमात्र रक्षक तथा उच्चवंशजों (उत्तम पर्वतों) का सौन्दर्यस्थान
समुद्र के पास जाकर तुरन्त उसे निजरूपमय बना डाला ॥२७॥

अथामरातीर्थजलैस्सुरेश्वरद्वयेन सृष्टे जिनगंधवारिणि ॥

पटीरकपूर्निषद्वराविलेऽप्यहो ममउज्जुह्वनपापकर्दमे ॥२८॥

अथेत्यादि । अथ अभिपदान्तरे । सुरेश्वरद्वयेन सुराणामीश्वरौ तथोक्तौ सुरे-
श्वरयोर्द्वयं सुरेश्वरद्वयं तेन सौधर्मेशानेन्द्रयुगलेन । तीर्थजलैः तीर्थानि च तानि जलानि
च तीर्थानां जलानि वा तीर्थजलानि तैः तीर्थमलिलैः । सृष्टे सृज्यतेस्म सृष्टस्तस्मिन् कृते ।
पटीरकपूर्निषद्वराविले पटीरश्च कपूर्ं च तथोक्ते पटीरकपूर्णयोर्निषद्वरस्तथोक्तः ।
“निषद्वरस्तु जंबालः” इत्यमरः पटीरकपूर्निषद्वरेणाविलस्तथोक्तस्तस्मिन् ‘कलुषोऽनच्छ
आविलः’ इत्यमरः श्रीगंधकपूर्णकेन कलुषेऽपि । हृतपापकर्दमे ह्रियतेस्म हृतः पापमेव
कर्दमस्तथोक्तः हृतः पापकर्दमो येन सः तस्मिन् । जिनगंधवारिणि गंधेन युतं वारि
गंधवारि जिनस्य गंधवारि तथोक्तं तस्मिन् जिनपतिगंधोदके । ममउज्जुः मज्जतिस्म
हुपस्जो शुक्लौ लिट् । अहो अद्भुतं ॥२८॥

भा० अ०—इस के बाद दोनों इन्द्रों से तीर्थ-जलों द्वारा किये गये चन्दन तथा कर्पूर-
मय और पापपापहारी श्रीजिनेन्द्र भगवान् के सुगन्धित गन्धोदक में देवताओं ने
गोते लगाये ॥२८॥

बभौ तरां पांडुकसंज्ञिका शिला समीपकीर्णैः स्नपनोदबिंदुभिः ॥

यथा शरच्चद्रकलोडुभिः श्रितैर्यथा च शुक्तिर्नवमौक्तिकैश्च्युतैः ॥२९॥

बभौचित्यादि । पांडुकसंज्ञिका पांडुक इति संज्ञा यस्वास्सा तथोक्ता । शिला हृषत् ।
समीपकीर्णैः समीपे कीर्णास्समीपकीर्णास्तेः निकटे विकीर्णैः । स्नपनोदबिंदुभिः स्नप-
नश्लोदकानि “मन्योदनसक्तु बिंदुव्रजविवदभारहारगाह” इत्युदादेशः । तेषां बिंदवः

क्षपनोद्भिद्वस्तेः अभिषेकजलबिन्दुमिः । श्रितेः आश्रितेः । उडुमिः नक्षत्रैः । शरच्चन्द्रकला शरदृश्चंद्रशरच्चंद्रस्तस्य कला तथोक्ता शरत्कालशशिकला । यथा । च्युतेः च्यवतेस्म च्युतास्तेः । परितः परितैः । नवमौक्तिकैः नवाश्च ते मौक्तिकाश्च नवमौक्तिकास्तेः नूतनमौक्तिकमणिभिः । शुक्तिः यथा तथा । वमौ तरां प्रकृष्टं बभौ बभौ तरां “द्वयोर्विभज्ये च तरप्” इति तरप् “अत्र्यैतिकम्” इत्यादिना चाम् भा दीप्तौ लिट् ॥२६॥

भा० अ०—नक्षत्रों से जिस प्रकार शारदी चन्द्रकला, तथा चारो तरफ बिखरे हुए नूतन मोतियों से जिस प्रकार शुक्तिका शोभा पाती है, उसी प्रकार समीप में पड़े हुए अभिषेक-जल-बिन्दुओं से पाण्डुक-शिला भी अत्यन्त सुशोभित होने लगी ॥२६॥

प्रमार्ज्यं निर्मज्जनशीकरांस्तनौ दूकूलचेलांचलपल्लवेन तत् ॥

शची विमुग्धा जगदेकवृद्धमप्यलंचकाराऽखिलबालभूषणैः ॥३०॥

प्रमार्ज्येत्यादि । विमुग्धा विमूढा । शची इंद्राणी । दूकूलचेलांचलपल्लवेन दूकूलं च तत् चेलां च दूकूलचेलां तस्य अञ्चलः स एव पल्लवस्तेन । तनौ शरीरे । निर्मज्जनशिकरान् निर्मज्जनस्य शिकरास्तान् अभिषेकजलकणान् । प्रमार्ज्यं मार्जयित्वा । जगदेकवृद्धं एकश्चासौ वृद्ध एकवृद्धः जगतामेकवृद्धस्तथा कस्तं जगतां मुख्यपांडितं वयोधिकं च । “बुधः वृद्धौ पांडितेऽपि” इत्यमरः । तं जिनेशं । अखिलबालभूषणैः बालस्य भूषणानि बालभूषणानि अखिलानि च तानि बालभूषणानि च अखिलबालभूषणानि तैः । अलंचकार अलंकारो-तिस्म डुकृत् करणे लिट् ॥३०॥

भा० अ०—मोली भालो इंद्राणी ने देह में छुटे हुए अभिषेक-जलकणों को चादर के अंचल से पोंछ कर संसार में एकमात्र ज्ञानवृद्ध श्रीजिनेन्द्र भगवान को बालोचित भूषणों से समलङ्कित किया ॥३०॥

निसर्गंधः श्रुतिसंश्रयाभ्यां रराज रक्तोपलकुंडलाभ्यां ॥

जिनाधिपः पल्लवितद्विपाश्वो यथा रसालः शिशिरात्ययस्य ॥३१॥

निसर्गेत्यादि । जिनाधिपः जिनेश्वरः । निसर्गंधश्च श्रुतिसंश्रयाभ्यां निसर्गेण रंध्रं च ते श्रुती च निसर्गरंध्रश्च तौ ते एव संश्रया ययोस्ते ताभ्यां स्वामाविकलिद्रकर्णाश्रयाभ्यां । रक्तोपलकुंडलाभ्यां रक्तश्चासावुपलश्च रक्तोपलः रक्तोपलेन रचिते कुंडले ताभ्यां पद्म-रागमणिनिर्मितकुंडलाभ्यां । शिशिरात्ययस्य शिशिरस्यात्ययः शिशिरात्ययस्तस्य वसंतकालमारंभस्य । पल्लवितद्विपाश्वः पल्लवास्संजाता अनयोरिति पल्लवितौ द्वौ च तौ पाश्वौ च द्विपाश्वौ पल्लवितौ द्विपाश्वौ यस्यासौ तथोक्तः संजातपल्लवयुक्तो-भयपाश्वः “संजाततारकाश्चिभ्यः” इति त प्रत्ययः । रसालः मार्कदः “आश्रन्तौ रसाऽऽ

सौ सहकारोऽतिसीरमः” इत्यमरः । यथा तथा । रराज बभौ राज् दीप्तौ लिट् । रसालस्य पल्लवितद्विपार्श्वमात्रत्वसमर्थनायैव वसंतस्य शिशिरात्ययाभिधानग्रहणं । उत्प्रेक्षा ॥ २१ ॥

भा० अ०—श्रीजिनेन्द्र भगवान् स्वाभाविक छिद्रवाले दोनों कानों में लगे हुए पद्मराग-मणि-निर्मित कर्णभूषणों से मानों वसन्त ऋतुमें दोनों ओर से पल्लवित आम्रवृक्ष के समान सोभने लगे ॥३१॥

हारस्य मुक्ता गलशंखमुक्ता इव प्रभोरंगमरीचिवश्याः ॥

उरःकवाटीयमुनाहृदांतर्वितेनिरे बुद्बुदपंकिलीलां ॥ ३२ ॥

हारस्येत्यादि । प्रभोः जिनाधिपस्य । गलशंखमुक्ता इव गल एव शंखः गलशंखः मुच्यतेस्म मुक्ताः गलशंखेन मुक्ताः तथोक्ताः कंठकंबुगलिता इव । अंगमरीचिवश्याः अंग-स्य मरीचयः तथोक्ताः वशं गताः वश्याः । “पश्यपश्यवयस्येत्यादिना” साधुः । अंगमरीची-नां वश्यास्तथोक्ताः शरीरस्य कांत्यधीनाः । हारस्य कठाभरणस्य । मुक्ताः मौक्तिकानि । उरः-कवाटीयमुनाहृदांतः उरसः कवाटी उरः कवाटी उरः कवाट्येव यमुना तथोक्ता उरः कवाटी-यमुनायाः हृदस्तस्यांतः उरःप्रवेशयमुनानदीहृन्मध्ये । बुद्बुदपंकिलीलां बुद्बुदानां पंकि-स्तथोक्ता बुद्बुदपंक्याः लीला तथोक्ता तां । बुद्बुदराजिविलासं । वितेनिरे विस्तार-यंतिस्म तनु विस्तारे लिट् ॥ ३२ ॥

भा० अ०—श्रीजिनेन्द्र भगवान् के कण्ठरूपी शंख से अलग हुए तथा अंगों की चमक के अधीनस्थ हार के मोतियां मानों वक्षस्थल-रूपी यमुना के भीतर जल की बुद्बुद-लीला का दृश्य दिखला रहे हैं । अर्थात् भगवान् के श्याम शरीर में हार के मोतियों के दाने काली यमुना के जल-बुद्बुद से दीख पड़ते थे ॥३२॥

महीधरे तव निषेधिवांसं तमालनीलाकृतिमुद्ग्रहंतम् ॥

पयोदबुद्ध्या श्रितमिन्द्रचापमस्मिन्मग्द्रत्नमयः कलापः ॥ ३३ ॥

महीधर इत्यादि । रत्नमयः रत्नानां विकारो रत्नमयः । कलापः कटिसूत्रं । “कलापो भूषणे बर्हे” इत्यमरः । तत्र तस्मिन् तत्र । महीधरे पर्वते । निषेधिवांसं निषेधति इति निषेधिवांसं स्थितवांसं । तमालनीलाकृतिं तमाल इव नीला तमालनीला सा चासावा-कृतिश्च तमालनीलाकृतिस्तां तमालनीलवच्छयामाकारं । उद्ग्रहंतं उद्ग्रहतीत्युद्ग्रहन् तं धरंतं । जिनेशं । पयोदबुद्ध्या पयोद इति बुद्धिः पयोदबुद्धिः तथा मेघबुद्ध्या । श्रितं आश्रितं । इन्द्रचापं इन्द्रस्य चापमिन्द्रचापं सुरधनुः । असिस्मरत् अबिंतयत् ध्ये स्मृ चिंतायां णिञ्ताल्लुङ् । उत्प्रेक्षा ॥ ३३ ॥

भा० अ०—रत्नमय कटिभूषण ने उस पर्वत पर विराजमान तमालवृक्ष के समान

श्याम रंग के श्रीजिनेन्द्र भगवान को मेघ समझ कर उगे हुए इन्द्रवाप की याद दिलायी ॥३३॥

बालामृतांशोर्ध्रुवमस्य पादमेकांततः पंकजरूपप्रशांतेः ॥

निबंधनं बंधुहिताय भानुर्भजे ज्वलन्नूपुरवेषधारी ॥३४॥

बालेत्यादि । भानुः सूर्यः । एकांततः एकश्चासावंतश्च तथोक्तः एकांतात् एकांततः अत्यर्थं । पंकजरूपप्रशांतेः पंकात् पापात् जायत इति पंकजं “पंकः कर्दमपापयोः” इति विश्वः । पंकजा चासीं रुक् च तथोक्ता पंकजस्य कमलस्य रुक् तथोक्ता “स्त्री स्युजा चोपताप-रोगव्याधिगदामया “स्युः प्रभा ह्यु चिस्तिवड्भाभाश्छविद्यु तिदीप्तयः” इत्यमरः । तस्याशं-तिस्तथोक्ता तस्याः पापजनितरोगस्य कमलकिरणस्य वा शांतिरूपशामस्य । निबंधनं कारणं । अस्य एतस्य । बालामृतांशोः अमृतरूपा अंशवो यस्य सः तथोक्तः बाल एवामृतांशुस्तस्य जिनबालचंद्रस्य । पादं चरणं किरणं वा । बंधुहिताय बंधुभ्यो हितं बंधुहितं तस्मै बांधवानां कमलानां हितं निमित्तं । ज्वलन्नूपुरवेषधारी ज्वलतीति ज्वलत् ज्वलच्च तत् नूपुरं च ज्वलन्नूपुरं तदेव वेषः ज्वलन्नूपुरवेषस्तं धरतीत्येवं शीलस्तथोक्तः प्रकाशमानमं-बीरवेषधारी । रूपकः । ध्रुवं निश्चलं । भजे निषेवे भज सेवायां लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३४॥

भा०अ०— सूर्य ने अपने बंधु (कमल) की हित-कामना से प्रेरित होकर पद्म के (अथवा पाप से उत्पन्न हुए) रंग को (अथवा जम्पुटता) शान्त करने (अथवा विकाश करने) के एकमात्र कारण जो जिनेन्दुबाल के चरण हैं, उनका उज्ज्वल नूपुर का वेश धारण कर सेवा की । जिनेन्द्र भगवान् का चरण सूर्य के ऐसा समुज्ज्वल था ॥ ३४ ॥

कलंकमुक्त्यै सकुटुंबमिदुर्नखच्छलेनाभजदस्य पादौ ॥

सदाश्रयं सोऽपि नमोचयति छलेन नीलोपलकिंकिणीनाम् ॥३५॥

कलंकमुक्त्तये इत्यादि । इंदुः चंद्रः । अस्य जिनबालकस्य । नखच्छलेन नखा एव छलं तेन पादनखरव्याजेन । रूपकः । कलंकमुक्त्यै मोचनं मुक्तिः कलंकस्य मुक्तिः कलंकमुक्तिस्तस्यै कलमषत्यजननिमित्तं । सकुटुंबं कुटुंबेन सह वर्तनं यस्मिन्कर्मणि तत् कुटुंबसहितं । अभजत् असेवत भज सेवायां लङ् । सोऽपि कलंकोऽपि अपिशब्दश्चार्थः । सदाश्रयं सतां प्रशस्तानां नक्षत्राणां च आश्रयः सदाश्रयस्तं सत्पुरुषनक्षत्राश्रयं । श्लेषः । “सत्प्रशस्तं विद्यमाने त्रिषु क्लोवे सत्यतारयाः” इति शाश्वतः । नमोचय न त्याजय मुच्छ मेोचणे णिप्रताह्लोद् । नीलोपलकिंकिणीनां नीलध्वासौ उपलक्ष्य तथोक्तः नीलो-पलेन निर्मिताः किंकिण्यस्तासां इन्द्रनीलकृतक्षुद्रघंटिकानां “किंकिणी क्षुद्रघंटिका” इत्यमरः छलेन व्याज्येन । पादौ चरणौ । अभजत् । उत्प्रेक्षा ॥ ३५ ॥

भा०अ०—सपरिवार चन्द्रमा ने अपने कलङ्क की मुक्ति के लिये नख के बहाने से जिनेन्द्र भगवान् के चरण की सेवा की । और उस कलङ्क ने भी सज्जनों (अथवा नक्षत्रों) के आश्रयभूत उस चरण (अथवा चन्द्रमा) की 'मैं इसे नहीं छोड़ता' इस विचार से नीलम से जड़ी हुई किंकिणी के बहाने से सेवा की । अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् के चरण-नख चन्द्रमा के ऐसा समुज्वल था और नीलम से जड़ी हुई किंकिणी चन्द्रमा के कलङ्क के समान थी ॥ ३५ ॥

मुहुर्विलिप्तोऽपि जिनेन्द्रगात्रे शचीशरत्नोज्वलभासिशच्या ॥

सिताभ्रविभ्राजिपटीरपङ्कः स्फुटोऽभवत्केवलसौरभेण ॥ ३६ ॥

मुहुर्इत्यादि । शचीशरत्नोज्वलभासि शच्याः ईशश्शचीशस्तस्य रत्नं तथाक्तं शची-शरत्नमिव उज्वलाभाः यस्य तत् शचीशरत्नोज्वलभास्तस्मिन् इन्द्रनीलवदुज्वलकांतियुक्ते । जिनेन्द्रगात्रे जिनानामिन्द्रस्तस्य गात्रं जिनेन्द्रगात्रं तस्मिन् जिनेश्वरशरीरे । शच्या इन्द्राण्या । मुहुः पुनः । विलिप्तोऽपि विलिप्यतेस्म विलिप्तोऽपि । सिताभ्रविभ्राजिपटीरपङ्कः विभ्राजत इत्येवं शीलो विभ्राजी सिताभ्रेण कर्पूरं विभ्राजी तथाक्तः सितध्वासावभ्रश्च सिताभ्रशशारदाभ्रेण स इव विभ्राजा तथोक्त इति वा पटीरस्य पङ्कः पटीरपङ्कः सिताभ्रविभ्राजी चासौ पटीरपङ्कश्च तथोक्तः कर्पूरं विराजमानः श्रागंधकर्मणः "सिताभ्रो हिमवाल्मुकी" इत्यमरः । केवलसौरभेण सुरभिरिव सौरभं केवलं सौरभं केवलसौरभं तेन केवलपरिमलेन । स्फुटः प्रव्यक्तः । अभवत् अभूत् । भू सत्तायां लङ् । ननु वर्णनेत्यंगवारीत्यतिशयः । अनु-मित्यलंकारः ॥ ३६ ॥

भा०अ०—इन्द्रनील-मणि की कान्ति से युक्त श्रोत्रजिनेन्द्र-देह में इन्द्राणी से बार बार उपलित होने पर भी कर्पूरमय स्वच्छ तथा उज्वल श्रील्लण्ड चन्दन केवल सुगन्ध से मालूम पड़ता था न कि अपने रंग से ॥ ३६ ॥

अथाखिलेन्द्रैः सहितोऽमरेंद्रः समर्चनाभिः स्तवनैश्च नाट्यैः ॥

समाप्तजन्माभिषवं समग्रं कुशाग्रमेनं पुनरानिनाय ॥ ३७ ॥

अथेत्यादि । अथ अलंकरणानंतरं । अखिलेन्द्रैः अखिलाश्च ते इन्द्राश्च अखिलेन्द्रास्तैः समस्तेन्द्रैः । सहितः युक्तः । अमरेंद्रः अमराणामिन्द्रस्तथोक्तः सौधर्मेन्द्रः । समर्चनाभिः पूजाभिः । स्तवैश्च स्तोत्रैः । च शब्दस्समुच्चयार्थः । नाट्यैः नर्तनैः जन्माभिषवं जन्म-नोऽभिषवो जन्माभिषवस्तं जन्माभिषेकं । समग्रं सकलं । समाप्त्य समापनं पूर्वं पश्चात्किञ्चित्ति उमित्वा । एनं जिनेशं । कुशाग्रं राजपुरं । पुनः मुहुः । आनिनाय प्रापयांचकार णीञ् प्रापणे लिट् ॥ ३७ ॥

भा०अ०—इसके अनन्तर सभी अन्यान्य इन्द्रों के साथ सौधमेंद्र पूजन, स्तुति तथा नृत्यादिक-द्वारा जन्माभिषेक सम्पन्न करके फिर जिनेन्द्र भगवान् को कुशाग्र नामक राज-पुरी में लाये ॥ ३७ ॥

ऋभुक्षिचक्षुर्द्युतिसिच्यमानो जिनो बभौ देवगजे निषराणः ॥

तदापि पाण्डूपरिरत्नकुंभशतक्षरत्क्षीरनिषिच्यमानः ॥ ३८ ॥

ऋभुक्षीत्यादि । देवगजे देवस्य गजे देवश्चासौ गजश्चेति वा देवगजस्तस्मिन् ऐरावतगजे । निषण्णः निषादतिस्म निषण्णः निविष्टः । ऋभुक्षिचक्षुर्द्युतिसिच्यमानः ऋभुक्षिणश्चक्षूषि तथोक्तानि ऋभुक्षिचक्षूषां द्युतिस्तथोक्ता सिच्यत इति सिच्यमानः ऋभुक्षिचक्षुर्द्युत्या सिच्यमानस्तथोक्तः । तथापि तस्मिन्कालेऽपि । पाण्डूपरिरत्नकुंभ-शतक्षरत्क्षीरनिषिच्यमानः पाण्डुरपरि पाण्डुशिलोपरि रत्नमयाः कुम्भास्तथोक्ताः रत्नकुम्भानां शतं तथोक्तं क्षरन्ति क्षरत् क्षरच्च तत् क्षीरं क्षरत्क्षीरं रत्नकुम्भ-शतात् क्षरत्क्षीरं तथोक्तम् निषिच्यत इति निषिच्यमानः रत्नकुम्भशतक्षरत्क्षीरेण निषिच्य-मानस्तथोक्तः मणिमयकलशशतेन स्रवत्पयसा सिच्यमानः स इति अध्याहारः । बभौ रराज भा दीप्तौ लिट् ॥ ३८ ॥

भा०अ०—ऐरावत हाथी पर बैठे हुए जिनेन्द्र भगवान् इन्द्र की नेत्रद्युति से ओत प्रोत होते हुए उस समय भी मानों पाण्डु-क-शिला पर मणिमय कुंभ की सैकड़ों क्षीर-धारा से अभिषिक्त होते हुए के समान सोभते थे ॥ ३८ ॥

पुरं नृपागारमपि प्रविश्य पुरैव यत्नेन्द्रकृते सुरेन्द्रः ॥

निवेशयामाम सहेमपीठे सभागृहे रत्नमये जिनेन्द्रं ॥ ३९ ॥

पुरमित्यादि । सुरेन्द्रः सुराणामिन्द्रः देवेन्द्रः । पुरं राजपुरम् । नृपागारमपि नृन्पातीति नृपस्तस्यागारम् नृपागरं नृपमन्दिरमपि अपिशब्दस्समुच्चयार्थः । प्रविश्य । पुरैव प्रागेव । यक्षेन्द्रकृते यक्षाणामिन्द्रो यक्षेन्द्रस्तेन कृतं तस्मिन् कुबेरनिर्मिते । सहेमपीठे हेमना निर्मितं पीठं तथोक्तं सहेमपीठेन सह वर्तत इति सहेमपीठं तस्मिन् सुवर्णसिंहासन-सहिने । रत्नमये रत्नस्य विकारो रत्नमयं तस्मिन् रत्ननिर्मिते । सभागृहे सभायाः गृहं आस्थान-सभागृहं तस्मिन् मण्डपे । जिनेन्द्रं जिनेश्वरं । निवेशयामास निवासयतिस्म । विश प्रवेशने णिञन्ताल्लिट् ॥ ३९ ॥

भा०अ०—सुरेन्द्र ने राजपुरी तत्पश्चात् राजमन्दिर में प्रवेश करते ही के साथ पूर्व में ही कुबेर-निर्मित रत्नमय सभागृह में सुवर्ण के सिंहासन पर श्रीजिनेन्द्र भगवान् को बैठाया ॥ ३९ ॥

ततः सुतास्येदुविलोकमात्रप्रवृद्धहर्षामृतसिंधुमग्नौ ॥

विलोक्य मातापितरौ स्मितास्यां निवेदयामास समस्तमिन्द्रः ॥४०॥

तत इत्यादि । इन्द्रः शक्रः । ततः तस्मिन् ततः निवेशनानन्तरं । सुतास्येदु-
विलोकमात्रप्रवृद्धहर्षामृतसिंधुमग्नौ सुतास्यास्य सुतास्यं तदेवेदुः रूपकः विलोक एव
विलोकमात्रं सुतास्येदेविलोकमात्रं प्रवर्धतेस्म प्रवृद्धः सुतास्येदुविलोकमात्रेण
प्रवृद्धः सुतास्येदुविलोकमात्रप्रवृद्धः अमृतमयसिंधुः अमृतसिंधुः हर्षा एवामृत-
सिंधुस्तथोक्तः सुतास्येदुविलोकमात्रेण प्रवृद्धः सुतास्येन्दुविलोकमात्रप्रवृद्धश्चासौ
हर्षामृतसिंधुश्च तथोक्तः मज्जनस्म मग्नौ सुतास्येदुविलोकमात्रप्रवृद्धहर्षामृतसिंधौ
मग्नौ तथोक्तौ जिनबालचन्द्रदर्शनमात्रेण समृद्धसंतोषक्षीरसमुद्गे ह्यातौ । माता-
पितरौ माता च पिता च मातापितरौ । “आङ्” इति सूत्रेण द्रव्यमासे पूर्वमकारस्याङ्-
देश जननीजनकौ । विलोक्य वीक्ष्य । स्मितास्यः स्मितमास्यं यस्य सः तथोक्तः
ईषद्भसनमुखमहितस्सन् । समस्तं मायाशिशुं निधाय स्वामिन्द्रतयनादिसर्वं निवेदयामास
आज्ञापयामास विद् ज्ञाने लिट् “दयायास्कासित्यादिना” आम् तद्योगे असभुवीति धातौ-
रनु प्रयोगः ॥४०॥

भा०अ०— इसके बाद इन्द्र ने पुत्र जिन-बालक के प्रफुल्ल मुखचन्द्र के दर्शन-मात्र से
उमड़े हुए आनन्द-सुधा-समुद्र में गीता लगाते हुए माता पिता से मुम्कुरते हुए सारा
वृत्तान्त निवेदन किया । अर्थात् मायामय बालक को रख कर जितेन्द्र-बालक को सुमेरु
पर्वत पर पहुँचाने आदि का सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ४० ॥

माता स्वयं च परिंभमिषेण देवं रोमांचनीपकलिकानिकरैः कृताध्या ॥

प्रीत्याभ्यर्पिचदमितप्रमदाश्रुनीरैः स्वच्छैस्तुच्छकुचकुंभपयोद्वितीयैः ॥४१॥

मातेत्यादि । माता जिनजननी । स्वयं च । च शब्दस्समुच्चयार्थः । रोमांचनी-
पकलिकानिकरैः नीपस्य नीपवृक्षस्य कलिकास्तथोक्ताः नीपकलिकानां निकराः तथोक्ताः
रोमांचा इव नीपकलिकानिकराः रोमांचनीपकलिकानिकरास्तैः रोमहर्षणकदंब-
कोरकसमूहैः । कृताध्या क्रियतेस्व कृतं कृतमस्य यया सा तथोक्ता त्रिहिताध्या । परिंभ-
मिषेण परिंभ इति मिषं तेन आलिंगनव्याजेन । स्वच्छैः सुनिर्मलैः । अतुच्छकुचकुंभपया-
द्वितीयैः न तुच्छौ च तौ कुचौ च अतुच्छकुचौ तावेव कुंभौ तथोक्तौ अतुच्छ-
कुचकुंभयोः विद्यमानं पयः तथोक्तं अतुच्छकुचकुंभपय एव द्वितीयं पयां तानि
अतुच्छकुचकुंभपयोद्वितीयानि तैः रूपकः पीवरस्तनक्षीरद्वितीयोदकयुतैः । अमितप्रम-
दाश्रुनीरैः अश्रुणो नोराण्यश्रुनीराणि न मितोऽमितः स चासौ प्रमदश्च तथोक्तः अमित-

प्रमदैन आतान्यश्च नीराणि तैः बहुलसंतोषसंभूतनेत्रोदकैः प्रथमानदाश्रुभिः पश्चात्कुच-
कुम्भयोभि रित्यर्थः । देवं जिननाथं । प्रीत्या संतोषेण । अभ्यर्षिचत् अभ्यर्षिणात् । षिच् सेचने
लङ् । मातुरालिंगनदृष्टोत्कर्षात् रोमांचानदृषाणकुचपयःसु तयो भवंतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

भा० अ०—आलिंगन के बहाने से रोमांचरूप कक्ष्म के कलिका समूह से पूजा किये
हुए स्वयं माता ने उन्नत पयोधर की स्वच्छ दुग्ध-धारा तथा आनन्द की अश्रुधारा से
श्रीजिनेन्द्र भगवान् को प्रीति पूर्वक अभिषिक्त किया ॥४१॥

मणिकांचनदिव्यवस्त्रदानैः पटुभेरिपटहोत्थितारवैश्च ॥

युगपत्परिपूरिताखिलाशं विदधे स्वःपतिरस्य जातकर्म ॥४२॥

मणीत्यादि । स्वःपतिः स्वर्गस्य पतिः देवेन्द्रः । मणिकांचनदिव्यवस्त्रदानैः मणयश्च
कांचनानि च द्विवि भवानि दिव्यानि दिव्यानि च तानि वस्त्राणि च दिव्यवस्त्राणि
तथोक्तानि मणिकांचनदिव्यवस्त्राणां दानानि तथोक्तानि तैः रत्नहिरण्यदिव्यवसनत्यागैः ।
पटुभेरिपटहोत्थितारवैः भेर्यश्च पटहाश्च भेरिपटहाः पटवश्च ते भेरिपटहाश्च तथोक्ताः उत्थी-
यन्ते स्म उत्थिताः पटुभेरिपटहैरुत्थिताः तथोक्ताः पटुभेरिपटहोत्थिताश्च ते आरवाश्च पटुभेरि-
पटहोत्थितारवास्तैः पटुदुन्दुभिपटहजनितध्वनिभिः । च शब्दस्समुच्चयार्थः । परिपूरिताखि-
लाशं परिपूर्णन्तेस्म परिपूरिताः अखिलाश्च ताः आशाश्च अखिलाशाः अखिलाश्च अखिलाश्च
अखिलाश्च तरेकशेषः परिपूरिताः अखिलाशाः यस्मिन्कर्मणि तत् तथोक्तं परिव्याप्त-
समस्तदिशं यथा तथा संपूर्णकृतसमस्तामिलाशं च यथा तथा । “आशा तृष्णाविशोः प्रोक्ता”
इति विश्वः । अस्य जिनबालकस्य । जातकर्म जातस्य कर्म तथोक्तं । विदधे चकार ।
डुधाञ् धारणे च लिट् ॥ ४२ ॥

भा० अ०—देवेन्द्र ने सुवर्ण, मणि तथा उत्तम २ वस्त्रों के परिधापन से और दिव्य
दुन्दुभि पटह के नाद से परिपूर्ण दिङ्मण्डल में शास्त्रोक्त विधि से जात-कर्म संस्कार
सम्पन्न किया ॥४२॥

करिष्यते मुनिमखिलं च सुव्रतं भविष्यति स्वयमपि सुव्रतो मुनिः ॥

विवेचनादिति विभुरभ्यधाय्यसौ बिडौजसा किल मुनिसुव्रताक्षरैः ॥४३॥

करिष्यत इत्यादि । असौ अयं । विभुः स्वामी । अखिलं च सकलं । मुनिं यतिजनं । च
समुच्चयार्थः । सुव्रतं सु शोभनं व्रतं यस्य तं सुष्ठु व्रतयुक्तं । करिष्यते विधास्यते । स्वयमपि ।
सुव्रतः समीचीनव्रतयुक्तः । मुनिः मुनीशः । भविष्यति जनिष्यते भू सत्तायां लृट् । इति
एवं । विवेचनात् निर्बचनात् । बिडौजसा देवेन्द्रेण “बिडौजाः पाकशासनः” इत्यमरः ।

मुनिसुव्रताक्षरैः मुनिसुव्रत इत्यक्षराणि मुनिसुव्रताक्षराणि तैः मुनिसुव्रताक्षरैः । अभ्यधाषि ।
डुघाम् धारणे च कर्मणि लुङ् “कर्मभावे” इति अ प्रत्ययः “जेः” इति तस्य लुक् आहूतः
इत्यर्थः ॥५३॥

भा० अ०—स्वयम् उत्तम व्रतशाली होकर सभी मुनियों को प्रशस्त व्रत वाले बना
येंगे ऐसा विचार कर अमराधिय इन्द्र ने ‘मुनि सुव्रत’ इन अक्षरों के आधार पर इन का
मुनिसुव्रत नाम रक्खा ॥५३॥

देव्यो मज्जनमंडनादिकरणे प्रौढाः प्रहृष्टाशयाः ।

देवांश्चापि विनोदकर्मणि समानाकृत्यवस्थागतान् ॥

देवस्यास्य नियुज्य निर्जगपतिः प्रत्युद्ययौ स्वं जगत् ।

प्रीत्यानुव्रजतो विसृज्य विबुधान भालाप्रबद्धांजलीन् ॥ ४४ ॥

देव्य इत्यादि । निर्जरपतिः निर्जेगणां पतिस्तथोक्तः देवेन्द्रः । अस्य एतस्य । देवस्य
स्वामिनः । मज्जनमंडनादिकरणे मज्जनं च मंडनं च मज्जनमंडने ते आदिर्येषां तानि मज्जन-
मंडनादीनि तेषां करणं मज्जनमंडानादिकरणं तस्मिन् स्नानालंकारादिक्रियायां । प्रौढाः
चतुराः । प्रहृष्टाशयाः प्रहर्षतिस्म प्रहृष्टः प्रहृष्टः आशयो यासां तः संतुष्टाभिप्रायाः । देव्यः
देवरमण्यः । विनोदकर्मणि विनोदस्य कर्म तस्मिन् विनोदकार्ये । समानाकृत्यवस्थागतान्
आकृतिश्च अवस्था च आकृत्यवस्थे समाने च आकृत्यवस्थे च समानाकृत्यवस्थे
गच्छतिस्म गताः समानाकृत्यवस्थे गतास्तथोक्तास्तान् समानाकारवयोगतान् । देवां-
श्चापि सुरकुमारांश्चापि । च शब्दोऽत्र प्रौढान् प्रहृष्टाशयानिति लिंगपरिणामेन समुच्चिनोति ।
नियुज्य नियम्य । प्रीत्या संतापेण । अनुव्रजतः अनुव्रजंतीत्यनुव्रजंतस्तान् पश्चादायातः ।
भालाप्रबद्धांजलीन् भालस्याग्रं भालाग्रं वध्यतेस्म बद्धः भालाग्रं बद्धोऽजलिः येषां ते भाल-
प्रबद्धांजलयस्तान् ललाटाप्ररचितांजलीन् । विबुधान् चतुर्विधान् देवान् । विसृज्य
प्रहित्य । स्वं स्वकीयं । जगत् लोकं । प्रत्युद्ययौ प्रत्युज्जगाम । या प्रापणे लिट् ॥ ४४ ॥

भा० अ०—देवेन्द्र जितेन्द्र भगवान् के स्नानालंकार आदि शुभकृत्य सम्पादन में प्रवीण
तथा उन्नत विचार वाली देवांगनाओं और मनोरञ्जन-कार्य में दक्ष तथा समान आकृति
और अवस्था वाले हाथ जोड़े आगे पीछे चलते हुए नतमस्तक देवताओं को वहाँ नियुक्त
कर आप अपने स्थान को चल दिये ॥४४॥

इत्यर्हद्वासकृतेः काव्यरत्नस्य टीकायां सुबोधिन्यां भगवज्जन्मा-

भिषेकवर्णनो नाम षष्ठः सर्गोऽयं समाप्तः ।

अथ सप्तमः सर्गः ।



न निर्जरैर्वर्जितसेवनोऽयं न कांतिसंभावितशुक्लपक्षः ॥

न च प्रदोषावसरं प्रपन्नः क्व विद्म धालेंदुरियाय वृद्धिम् ॥१॥

नेत्यादि । अयं एषः । बालेंदुः बाल एव इन्दुः बालचंद्रः । निर्जरैः जराभ्यां निर्गता निर्जरास्तैः देवैः । वर्जितं सेवनं वर्जितसेवनं यस्य सः विरहितपूजनः निवृत्तभक्षणः । न न भवति । निर्जराशचंद्रकलाः कृष्णपक्षे भाक्ष्यन्ति न तु शुक्लपक्षे इति प्रसिद्धः । कांतिसंभावितशुक्लपक्षः कांत्या संभावितस्तथोक्तः शुक्लानां पक्षः शुक्लपक्षः कांतिसंभावितः शुक्लपक्षो यस्य सः पक्षे शुक्लध्यासौ पक्षश्च शुक्लपक्षः कांतिसंभावितः शुक्लपक्षो यस्य सः किरणसंस्कृतस्फटिकादिधवलवस्तुसमूहः प्रभाप्रोद्भाषितपूर्वपक्षश्च । “पक्षे मासाद्धके पार्श्वे प्रहे साध्यविरोधयोः । केशाद्यैः परतो वृद्धे बले सखिसहाययोः । पत्रे चुल्लिरंध्रे च देहांगे राजकुंजरे । शुक्लां योगांतरे श्वेते शुक्लं च रजते मतम्” इत्युभयत्रापि विश्वः । न न भवति । प्रदोषावसरं प्रकृष्टा दोषाः प्रदोषास्तथोक्ताः प्रदोषाणामवसरस्तं पक्षे प्रदोषावसरावसरावसरस्तथोक्तस्तं प्रकृष्टपापाश्रयवेलां रजनीमुखकालं च । “सायं निश्यवथं दोषास्त्रिवासा दूषणाग्रयोः” इति भास्करः । प्रपन्नः प्रपद्यतेस्म प्रपन्नः प्रयातः । न च न भवति । च समुच्चयार्थः । वृद्धिं समृद्धिं । इयाय जगाम । इण् गती लट् । एव कुत्र । विश्वं जानीमः । विद्म ज्ञाने लट् । “विदो लटो वा” इति विकल्पेन णशाद्यादेशः । निर्जरैर्वर्जितसेवनः कांतिसंभावितशुक्लपक्षः प्रदोषावसरं प्रपन्नश्चैव स पुनः वृद्धिं एति अयं तु तद्विलक्षणगुणः कथं वृद्धिमायाति इतिभावः ॥ १ ॥

भा० अ०—यह नूतन जिन बालक चन्द्र देवताओं से विरहित सेवन नहीं है’ अर्थात् इस जिन-चन्द्र कला को देवतार्ये भक्षण नहीं करते । क्योंकि चन्द्रकला को कृष्ण ही पक्ष में देवता लोग नहीं खाते हैं ऐसा लोक प्रसिद्ध सिद्धान्त है केवल कान्ति से ही शुक्लपक्ष की सम्भावना नहीं की जाती अर्थात् जिन-चन्द्र-बालक की चाँदनी सदा समुद्योतित रहती है । और यह चन्द्र प्रदोष अथवा पापास्त्रयको प्राप्त नहीं है तो भी बढ़ता ही जाता है यह भाश्चर्य है । अर्थात् इन जिनचन्द्र तथा आकाश-चन्द्र के धर्म-वैपरीत्य में महान् अन्तर है यह बड़े भाश्चर्य की बात है ॥१॥

करांगुलिं लिप्तसुधां स लिङ्ङ्वा बबंध मातुः स्तनयोर्न बुद्धिं ॥

सुरेन्द्रबंधः सुरदेहतायां चिरानुभूतामृततृष्णयेव ॥ २ ॥

करांगुलिमित्यादि । सुरेन्द्रबंधः सुराणामिन्द्रास्सुरेन्द्राः वंदितुं योग्यो बंधः सुरेन्द्रैर्बंध-
स्तथोक्तः देवैर्देवबंधः । सः जिननाथः । लिप्तसुधां लिप्यतेस्म लिप्ता लिप्ता सुधा यस्या-
स्मा तां उपलिप्तपीयूषां । करांगुलिं करस्यांगुलिः करांगुलिः तां हस्तांगुलिं । लिङ्ङ्वा
लेहनपूर्वं आस्वाद्य । सुरदेहतायां सुराणां देहो यस्य सुरदेहस्तस्य भावः सुरदेहता तां
तस्यां धृतदिव्यशरीरत्वे । चिरानुभूतामृततृष्णयेव अनुभूयतेस्म अनुभूतं चिरेण अनुभूतं
चिरानुभूतं तच्च तत् अमृतं च तथोक्तं चिरानुभूतामृतस्य तृष्णा तथैव बहुकालानुभूत-
सुधावांगुलयेव । मातुः जनन्याः । स्तनयोः । बुद्धिं मतिं । न बबंध न चकार । बधि बंधने
लिङ् ॥२ ॥

भा० अ०—सुरेन्द्रों से बन्धनीय श्रीजिन-बालक ने मानों देव-शरीरपने की चिरकाल
से अनुभूत अमृत की तृष्णा से सुधालित अपनी अंगुलियों को चाट कर माता के स्तन-
पान से रुचि हटायो ॥२॥

जिनार्भकस्येन्द्रियतृप्तिहेतुः करे बभूवामृतमित्यचित्रं ॥

चित्रं पुनः स्वार्थसुखैकहेतुरतच्चामृतं तरय करे यदासीत् ॥ ३ ॥

जिनार्भकस्येत्यादि । जिनार्भकस्य जिन एव अर्भकस्तस्य जिनबालकस्य । “दारको
नन्दनोऽर्भकः” इति धनंजयः । करे हस्ते । अमृतं सुधा । इन्द्रियतृप्तिहेतुः इन्द्रियस्य तृप्तिस्त-
थोक्ता इन्द्रियतृप्त्याः हेतुस्तथोक्तः इन्द्रियसंतर्पणकारणं । बभूव भवतिस्म । भू सत्तायां लिङ् ।
इति एवं । वचनं । अचित्रं न चित्रमचित्रं आश्चर्यं न भवति । पुनः किमिति चेत्—तस्य जिन-
बालकस्य । करे हस्ते । यत् स्वार्थसुखैकहेतुः स्वस्मै इदं स्वस्मै भवं वा स्वार्थं स्वार्थं च
तत् सुखं च स्वार्थसुखं एकश्चासौ हेतुश्च एकहेतुः स्वार्थसुखैकहेतुस्तथोक्तः स्वाधीन-
सुखस्य मुख्यकारणं । अमृतं मोक्षः । “अमृतं यज्ञशेषे स्यात्पीयूषे सलिले घृते । अयाचिते
च मोक्षे च धन्वंतरिसुपर्बणोः” इति विश्वः । इति । आसीदभवत् स्वाधीनं बभूवेत्यर्थः
तच्च च समुच्चयार्थः । चित्रं आश्चर्यं ॥ ३ ॥

भा० अ०—जिन बालक श्रीमुनिसुव्रत नाथ के हाथ में इन्द्रिय-तृप्ति केलिये अमृत था
इसमें तो कोई आश्चर्य ही नहीं है । आश्चर्य केवल इस बात के लिये कहा जा सकता है
कि अपने सुखका एक मात्र कारण-भूत अमृत (मोक्ष) भी उनके हस्तगत था ॥३॥

उल्लोकितैस्तपललोचनायाः ससंभ्रमोत्क्षेपणकौतुकेषु ॥

रराज राजांगभवोऽतरिक्षे तडिल्लताश्लिष्ट इवांबुवाहः ॥४॥

उल्लोकितेरित्यादि । राजांगभवः अंगे भवतीत्यंगभवः राज्ञोऽंगभवस्तथोक्तः राजकुमारः । उत्पललोचनायाः उत्पले इव लोचने यस्यास्तस्याः कुमुद्वलनिभनेत्रायाः पद्मावत्याः । उल्लोकितैः उल्लोकिते स्म उल्लोकितानि तैः उर्ध्वदर्शनैः । ससंभ्रमोत्क्षेपणकौतुकेषु उत्क्षेपणाभ्येव कौतुकानि तथोक्तानि संभ्रमेण सह वर्तत इति ससंभ्रमाणि तानि च तान्युत्क्षेपणकौतुकानि च तथोक्तानि तेषु संभ्रमसहितोर्ध्वप्रापणकौतुकास्तु । अंतरिक्षे आकाशे । तडिल्लताश्लिष्टः आश्लिष्यतेस्म आश्लिष्टः तडिल्लतया आश्लिष्टः तथोक्तः विद्युल्लतालिङ्गितः । अंबुवाह इव अंबु वहतीत्यंबुवाहो मेघः स इव । रराज बभौ । राज्ञु दीप्ती लिट् उत्प्रेक्षा ॥ ४ ॥

भा० अ०—पद्माक्षी पद्मावती जब राजकुमार को ऊपर की ओर दृष्टि किये हुई बार २ पलक गिरा कर देख रही थी तब वे आकाश में विद्युल्लता से आवेष्टित मेघ के समान सोमने लगे ॥४॥

नराधिपेनोरसि नीयमानो बभार हारांतरनायकत्वं ॥

भेजे चलत्कुंडलतां भुजाग्रे चूडामणित्वं शिगसि प्रपन्नः ॥ ५ ॥

नराधिपेनेत्यादि । नराधिपेन नराणामधिपो नराधिपस्तेन सुमित्रमहाराजेन । उरसि वक्षसि । नीयमानः नीयत इति नीयमानः प्राप्यमाणः । हारांतरनायकत्वं हारस्यांतरं हारांतरं नायकस्य भावो नायकत्वं हारांतरे स्थितं नायकत्वं पुनस्तत् हारमध्यगततरलमणित्वं । बभार धरतिस्म भृञ् भरणे । भुजाग्रे भुजयोरग्रं भुजाग्रं तस्मिन् भुजशिरसि । नीयमानः । चलत्कुंडलतां चलत इति चलन्ती चलन्ती च ते कुंडले च चलत्कुंडले तयोर्भावश्चलत्कुंडलता तां त्रिलसत्कर्णविष्टमत्वं । भेजे निवेवे । भजसेवायां लिट् । शिरसि मस्तके । नीयमानः । चूडामणित्वं चूडामणेर्भावश्चूडामणित्वं शिशोरङ्गत्वं । “चूडामणिः शिरेःरत्नम्” इत्यमरः । प्रपन्नः प्रपद्यतेस्म प्रपन्नः नीतः ॥५॥

भा० अ०—सुमित्र महाराज से छाती से लगाये जाने पर हार के मध्यमणित्व को, भुजाके अग्रभाग में लेने से चल कर्णभूषणत्व को तथा शिर पर लेने से चूडामणित्व को राजकुमार ने प्राप्त किया ॥५॥

करात्करं बंधुजनस्य गच्छन् रराज विभ्राजितहेमसूत्रः ।

सलेखबंधः कृतहेमलेखो वणिग्जनस्येव निकाषपटः ॥ ६ ॥

करादित्यादि । बंधुजनस्य बंधुश्चासौ जनश्च बंधुजनस्तस्य । करात् हस्तात् । करं हस्तं । गच्छन् गच्छतीति गच्छन् यान् । सः जिनः । लेखबंधः लेखबंधः देवबंधः ।

“आदित्यादित्रिषदे लेखा अदिनिन्दनाः” इत्यमरः । विभ्राजितहेमसूत्रः हेम्ना निर्मितं सूत्रं हेमसूत्रं विभ्राजते स्म विभ्राजितं विभ्राजितं हेमसूत्रं यस्य सः तथोक्तः विराजितसुवर्णकटि सूत्रयुक्तः । वणिग्जनस्य वणिषचासौ जनश्च वणिग्जनस्य । कृतहेमलेखः क्रियते स्म कृता हेम्ना-लेखा हेमलेखा कृता हेमलेखा यस्य सः तथोक्तः कृतस्वर्णलेखासहितः । “लेखा लेख्ये सुरे लेखा लिपिराजक्यामंते” इति विश्वः । निकाषपट्ट इव निकाषश्चासौ पट्टश्च तथोक्तः निकषोपल इव । रराज बभौ । राजृ दीमो लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ ६ ॥

भा० अ०—सुवर्णकटिभूषण से सुशोभित तथा देवताओं से वन्दनीय राजकुमार मुनि-सुव्रत परिवार-वर्गों के हाथों हाथ होते रहने से सोने की लकीर से समुद्भासित वणिक् लोगों की कसौटी से जान पड़ते थे । अर्थात् कृष्णवर्ण मुनिसुव्रतनाथ सुवर्ण के कटि-भूषण से समलङ्कृत होने पर सोने से कमी गयी कसौटी के समान दीखते थे ॥६॥

स जानुचारी मणिमेदिनीषु म्वपाणिभिः स्वप्रतिबिंबितानि ।

पुरः प्रधावत्सुरसूनुबुद्ध्या प्रनाडयन्नाटयति स्म बाल्यं ॥ ७ ॥

स इत्यादि । मणिमेदिनीषु मणिकीलिता मेदिन्यो मणिमेदिन्यस्तासु रत्नमय-भूमिषु । जानुचारी जानुभ्यां चरनीत्येवं शीलस्तथोक्तः जानुगमनशीलः बालकः । स्वप्रति-बिंबितानि स्वस्य प्रतिबिंबितानि तथोक्तानि स्वप्रतिमानानि । स्वपाणिभिः स्वस्य पाणयस्तैः स्वकीयहस्तैः । प्रतिबिंबवहुत्वाद्वहुवचनं । पुरः निजाग्रतः । प्रधावत्सुरसूनु-बुद्ध्या प्रधावन्तीति प्रधावन्तः सुराश्च ते सूनुवश्च सुरसूनुवः प्रधावन्तश्च ते सुरसूनुवश्च तथोक्ताः प्रधावत्सुरसूनुव इति बुद्धिस्त्वथोक्ता तथा देवबालकमत्या । प्रनाडयन् प्रनाड यतीति प्रनाडयन् । बाल्यं बाल्यत्वं । नाटयति स्म नर्तयति स्म । त्रिज्ञानधरत्वाद्द्विद्यमान-मपि बाल्यावस्थावशाद्द्विद्यमानवत्त्वेन दर्शयतिस्मेत्यर्थः । भ्रान्तिमानलंकारः ॥ ७ ॥

भा० अ०—दोजानू हांकर इधर उधर मणिमय भूमिपर डोलते हुए राजकुमार अपनी छाया को आगे बौड़ते हुए देवबालक समझ कर अपने हाथों से ताड़ित करते हुए बाल्य-भावका अभिनय दिखाने लगे ॥७॥

शनैस्समुत्थाय गृहांगणोपु मुगंगनादत्तकरः कुमारः ॥

पदानि कुर्वन्किल पंचपाणि पपात तद्दीक्षणादीनचक्षुः ॥ ८ ॥

शनैरित्यादि । सुरांगनादत्तकरः सुरांगनामंगनाः सुरांगनास्ताभिः दत्तः करो यस्य सः तथोक्तः देवांगनाभिर्दत्तहस्तः । कुमारः जिनबालकः । शनैः मंदं यथा तथा । समुत्थाय समुत्थानपूर्वं पश्चात्किञ्चित् । गृहांगणेषु गृहस्यांगणानि गृहांगणानि तेषु सद्ना-

जिरेषु “गृन्वाचग्रहणी देहलयंगणं चत्वरजिरे” इत्यमरः । पंचषाणि पंच च षट् च पंचषाणि “सुड्वार्थ” इत्यादिना समासः । “प्रमाणसंख्याद्दुः” इति ड प्रत्ययः । “डित्यंत्याजादेः” इत्यंत्याजादेलुक् । पदानि पदनिक्षेपणानि । तद्वीक्षणदीनचक्षुः तासां वीक्षणं तथोक्तं तद्वीक्षणे दीने चक्षुषी यस्य सः तथोक्तः देवांगनादर्शनेन सुदुःखितनेत्रः सन् यद्वा तद्वीक्षणेन दीनं विगतहर्षं चक्षुर्यथा तथा । पपात पततिस्म पत्त्ल गतौ लिट् ॥ ८ ॥

भा० अ०—कुमार धीरे से उठ सुरांगनाओं की अंगुली पकड़ और अंगने में पांच चार डेग चल कर ही उन्हें (सुरांगनाओं को) देखने से थकित-नेत्र (दुःखित नेत्र) होते हुए गिर पड़े ॥८॥

स पांशुकैलौ सुरतर्नकानां करावकीर्णैर्नवरत्नचूर्णैः ॥

कृतोपवीतो व्यरुचत्कुमारस्सदिव्यधन्वव नवांबुवाहः ॥९ ॥

स इत्यादि । पांशुकैलौ पांशोः केलिः पांशुकैलिस्तस्मिन् धूलिक्रीडायां । सुरतर्नकानां सुराश्च ते तर्नकाश्च सुरतर्नकास्तेषां देवबालकानां । करावकीर्णैः अवकीर्णने स्म अवकीर्णाः करैरवकीर्णाः करावकीर्णास्तैः हस्तैर्विकीर्णैः । नवरत्नचूर्णैः नव च तानि रत्नानि च नवरत्नानि नवरत्नानां चूर्णाः नवरत्नचूर्णास्तैः । “चूर्णे क्षोदः” इत्यमरः । कृतोपवीतः कृत उपवीतो यस्य सः तथोक्तः विहितवेष्टितः । सः कुमारः जिनकुमारः । सदिव्यधन्वा द्विवि भवं दिव्यं दिव्यं च तत् धन्व च दिव्यधन्व दिव्यधन्वना सह वर्तते इति सदिव्यधन्वा तथोक्तः सुरचापसहितः । “धनुश्चापी धन्वशरासनकादंडकार्मुकम्” इत्यमरः । अंबुवाहः अंबु वहतीत्यंबुवाह इव मेघ इव । व्यरुचत् । रुचि अभिप्रात्यां च लृङ् । “द्युद्भयो लुङ्” इति तिप् । उत्प्रेक्षा ॥ ९ ॥

भा० अ०—वह राजकुमार धूलक्रीडा के समय देवबालकों के द्वारा फेंके गये नये रत्नों के चूर्ण से परि वेष्टित होकर इन्द्र चाप से प्रातिकूलित नूतन मेघ के समान सोभते थे ॥९॥

अशेषविज्ञोऽनिमिषैः परीक्षाप्रधित्सयेवैष विधीयमानान् ॥

नियुद्धमुख्याखिलबालकेलिं निरूपयामास नरेन्द्रसूनुः ॥१० ॥

अशेषविज्ञ इत्यादि । अशेषविज्ञः अशेषं विजानानीत्यशेषविज्ञः सर्वज्ञः । एषः अयं । नरेन्द्रसूनुः नराणामिन्द्रो नरेन्द्रस्तस्य सूनुः राजतनयः । अनिमिषैः न विद्यते निमिषो येषो ते अनिमिषास्तैः देवैः । विधीयमानान् विधीयंत इति विधीयमानास्तान् क्रियमाणान् । नियुद्धमुख्याखिलबालकेलिन् बालानां केलयः बालकेलयः अखिलाश्च ते बालकेलयश्च

अखिलबालकेलयस्तान् बाहुयुद्धप्रमुखकेलयश्च अखिलबालकेलयः नियुद्धं मुख्यं येषां ते नियुद्धमुख्यास्ते च ते अखिलबालकेलयश्च नियुद्धमुख्याखिलबालकेलयस्तान् समस्त-बालविलासान् । परीक्षाप्रार्थितस्येव परीक्षां प्रार्थितसतीति परीक्षाप्रार्थिता या विचार-करणेच्छप्रेष । निरूपयामास दर्शः । रूप रूपक्रियायां लिट् ॥ १० ॥

भा० अ०—इस सर्वज्ञ राजकुमार ने देवताओं से की गयी सभी बाल-क्रीडाओं को परीक्षा करने के निमित्त देखा न कि सर्वज्ञ होकर मनस्त्वृत्ति के लिये ॥१०॥

गतोनपादायुतवत्सरस्य श्रितं ततो यौवनमस्य गात्रं ॥

मधुर्यथा नन्दनपारिजातं शरद्यथासान्ध्यसुधामयूखम् ॥ ११ ॥

गतोनेत्यादि । ततः तस्मिन् ततः तदनंतरे । गतोनपादायुतवत्सरस्य ऊनध्यासौ पादश्च तथोक्तः गत ऊनपादो येषां ते अयुतप्रमिता वत्सरा अयुतवत्सरा गतोनपादाः अयुतवत्सरा यस्य तस्य गलितन्यूनतुरीयभागदशप्रमितसहस्रप्रमितसंवत्सरस्य गलितविगलितपंचशताधिकसप्तसहस्रसंवत्सरस्येत्यर्थः । अस्य जिनकुमारस्य । यौवनं यूना भावो यौवनं । गात्रं देहं । श्रितं प्राप्तं । नन्दनपारिजातं नन्दनस्य पारिजातस्तथोक्तस्तं नन्दनकल्पवृक्षं । मधुः वसंतः । यथा शरत् शरत्कालः । सांध्यसुधामयूखं संध्याया भवत्सांध्यः सुधारूपो मयूखो यस्य सः सांध्यश्चासौ सुधामयूखश्च तथोक्तस्तम् उद्यच्छद्मं यथाश्रितः तथेति भावः ॥ ११ ॥

भा० अ०—जिस प्रकार वसन्त ऋतु नन्दन कल्पवृक्ष को और शरदु ऋतु सन्ध्याकाली-न चन्द्रमा को आलिंगन करती है उसी प्रकार जब मुनिसुव्रतनाथ साढ़े सात हजार वर्ष के हुए तब इनकी देह को युवावस्थाने आलिंगित किया ॥११॥

अधर्मता निर्मलता च नित्यं पयस्सुधापांक्तिकलोहितत्वं ॥

समाकृतिं संहननं च पूर्वं सुगंधिता निंदितकैणनाभिः ॥ १२ ॥

अधर्मतेत्यादि । नित्यं अनवरतं । अधर्मता धर्मस्य भावो धर्मता न धर्मता अधर्मता निःस्वेदत्वं । निर्मलता मलाभिर्गतं निर्मलं निर्मलस्य भावो निर्मलता निर्मलत्वं । च समुच्चयार्थः । पयस्सुधापांक्तिकलोहितत्वं पयश्च सुधा च पयस्सुधे पंक्तौ तिष्ठतीति “निकटाद्दिषु वसतीति” ठन् । पयस्सुधयोः पांक्तिस्तथोक्तं पयस्सुधापांक्तिकं च तत् लोहितत्वं च तथोक्तं तस्य भावः पयस्सुधापांक्तिकं लोहितत्वं क्षीरामृतराजस्थितगौरुधिरत्वं । त्रिष्वपि पदेषु बहुव्रीहिर्वा । समाकृतिः समा चासावाकृतिश्च तथोक्ता समचतुरस्रसंबन्धः । पूर्वं प्राथमिकः । संहननं ध्वज-वृषभनाराचसंहननं । निंदितकैणनाभिः निंदितेस्म निंदितः अत्यंतं निंदितो निंदितकः

“कुत्सिताख्याकान्ते” इति कट् । निन्दितकृपणवो नाभिर्यथा तयोका तिरस्कृतकस्तूरी । सुगंधितः शोभनो गंधोऽस्येति सुगंधिः “सूतपूतिसुरभेर्गंधाद्भिद्रुगुणे” इति अकार-स्येकारः । सुगंधेर्भावस्सुगंधिता सौरभत्वम् ॥ १२ ॥

भा०अ०—निस्स्वेदता, स्वच्छता, क्षीर तथा अमृत के समान श्वेत रुधिरता, सम-चतुरस्रसंस्थान, वज्रवृषभारात्र सहनन तथा कस्तूरी के विनिन्दित करने वाली सुगन्धिता आदि सलक्षण उन के अंगों में थे । १२ ।

परशशतैरंबुजकंबुमत्स्यश्रीवत्समुख्यैर्वरलक्षणैश्च ॥

मद्व्यंजनैश्चोनमहस्रकेणा मसूरिकाद्यैरुपलक्षितत्वम् ॥ १३ ॥

परशशतैरित्यादि । अंबुजकंबुपत्स्यश्रीवत्समुख्यैः अंबुजं च कंबुश्च मत्स्यश्च श्रीवत्सश्च अंबुजकंबुपत्स्यांस्ते मुख्या येषां तानि अंबुजकंबुमत्स्यश्च वत्समुख्यानि तैः कमलशंखमत्स्य-श्रीवत्सप्रमुखैः । परशशतैः शताव्या संख्या येषां तानि परशशतानि तैः साष्टशतैः “परः शताद्यास्ते येषां परा संख्या शताधिकत्वात्” इत्यमरः । वरलक्षणैश्च वराणि च तानि लक्षणानि च वरलक्षणानि तैः उत्कृष्टलक्षणैः । मसूरिकाद्यैः मसूरिका आद्या येषां तानि मसूरिकाद्यानि तैः मसूरिकादिभिः । ऊनमहस्रकेण ऊनं च तम् सहस्रकं च ऊनसहस्रकं तेन कियदूनसह-स्रेण नवशतैरित्यर्थः । सद्व्यंजनैश्च संति च तानि व्यंजनानि च सद्व्यंजनानि च तैः प्रशस्तव्यंजनैश्च लक्षणैः । उपलक्षितत्वं उपलक्ष्यते स्म उपलक्षितं तस्य भावः उपलक्षि-तत्वं ॥ १३ ॥

भा० अ०—एक सौ आठ कमल, शंख, मत्स्य और श्रीवत्स आदि प्रशस्त लक्षणों से तथा नौ सौ अच्छे २ व्यंजनों और मसूरिकादि से वे (जिन बालक) उपलक्षित होते थे । १३ ।

विलोचनासेचनकं मुरूपं वचांसि पीयूषरसाग्रघटाः ॥

जगत्त्रयीमप्यतथा विधातुं पटीयसी काचन दिव्यशक्तिः ॥ १४ ॥

विलोचनेत्यादि । मुरूपं शोभनं रूपं तथोक्तं सौरूप्यमित्यर्थः । विलोचनासेच-नकं विलोचनयोगसेचनकं तथोक्तं नेत्रदर्शनेन तृप्त्यंतरहितं । “तदासेचनकं तृप्तेर्नास्त्यंतो यम्य दर्शनात्” इत्यमरः । पीयूषरसाग्रघटाः पीयूषस्य रसास्तथोक्ताः पीयूषरसानामग्रघटाः पीयूषरसाग्रघटाः अमृतमसजलयंत्राणि । “उद्धाटकं घटीयंत्र-पादावर्तारग्रघटकः” इति हलायुधः । वचांसि वचनानि सर्वप्रियहितवचनानीत्यर्थः । निय-तलिंगत्वाद्भिषेक्यविशेषणत्वेऽपि तादावस्थम् । जगत्त्रयी त्रयाणां पूरणी त्रयी जगतां त्रयी जगत्त्रयी तां । अपि । अतथा विधातुं तेन प्रकारेण तथा न तथा अतथा अतथा विधातव्य

अतथा विधातुं कल्पितुं । पटीयसी प्रकृष्टा पटुः पटीयसी “गुणांगाद्वे ष्टेयसुः” इति इयसु प्रत्ययः “नृदुगित्” इत्यादिना ईप् । काचन काचित् । दिव्यशक्तिः दिवि भवा दिव्या सा चासौ शक्तिश्च तथोक्ता अप्रमितवीर्यतेत्यर्थः ॥ १४ ॥

भा० अ०—जिनबालक का सुन्दर रूप आँखों को तृप्त करने वाला और घाणी अमृत-धार के जल-यन्त्र के समान थी । अर्थात् सारे संसार को विचलित (अत्याश्चर्यमग्न) कर ने के लिये उन में कोई अपूर्व ही दिव्य शक्ति विद्यमान थी । १४ ।

युतः स्वभावातिशयैरमीभिः कृतोन्नतिर्विंशतिचापदंडैः ॥

विषाग्निशस्त्रादिविघातदूरस्त्रिदोषवैषम्यभवामयारिः ॥ १५ ॥

युत इत्यादि । अमीभिः एतैः । स्वभावातिशयैः स्वभावात् जाता अतिशयाः स्वभावातिशयास्तैः सहजानिशयैः । युतः युक्तः । विंशतिचापदंडैः चापानां दंडाश्चापदंडाः विंशतिश्च ते चापदंडाश्च विंशतिचापदंडास्तैः विंशतिधनुर्भिः । कृतोन्नतिः कृता उन्नतिः यस्यासौ यथोक्तः । विषाग्निशस्त्रादिविघातदूरः विषं चाग्निश्च शस्त्रं च विषाग्निशस्त्राणि तान्यादीनि येषां ते विषाग्निशस्त्रादयस्तेषां विघातस्तथोक्तः विषाग्निशस्त्रादिविघातात् दूरस्तथोक्तः गरलानलप्रहरणादिविघातरहितः । त्रिदोषवैषम्यभवामयारिः त्रयश्च ते दोषाश्च त्रिदोषाः विषमस्य भावो वैषम्यं त्रिदोषवैषम्यात् भवस्तथोक्तः त्रिदोषवैषम्यभवश्चास्मावामयश्च त्रिदोषवैषम्यभवामयस्तस्यारिः तथोक्तः वातपित्तश्लेष्मवैषम्यात् जातस्याधिनामगम्यत्वाद्भिषुः निर्व्याधिरित्यर्थः ॥ १५ ॥

भा० अ०—इन स्वाभाविक अतिशयों से युक्त, बीस धनुष के प्रमाण उन्नत और विष, अग्नि तथा शस्त्रादिकों के घात से दूरस्थ अर्थात् अकाल-मृत्यु से रहित और वातपित्त-कफादि रोगों के शत्रु-भूत श्रीजिन बालक थे । १५ ।

त्रिंशत्सहस्रीमितवत्सरायुः स्फुटातसीसूनसमानवर्णाः ॥

तदायमुत्सृष्टधनुःशरस्य स्मरस्य शंकां जनयांबभूव ॥ १६ ॥

त्रिंशत्सहस्रीत्यादि । त्रिंशत्सहस्रीमितवत्सरायुः त्रिंशतः सहस्राणां समहारः त्रिंशत्सहस्री तथा मितं वत्सराणामायुः त्रिंशत्सहस्रीमितवत्सरायुः यस्य सः त्रिंशत्सहस्रीमितवत्सरायुष्कः । स्फुटातसीसूनसमानवर्णाः अतस्याः सूनं स्फुटं च तत् अतसीसूनं च तस्य समानः स्फुटातसीसूनसमानो वर्णो यस्य सः विकसितातसीकुसुमसदृशवर्णाः । अर्थ एषः । तदा यौवनसमये । उत्सृष्टधनुः धनुश्च शरश्च धनुशरौ उत्सृज्येते स्म उत्सृष्टौ धनुशरौ येनासावुत्सृष्टधनुशरस्तस्य त्यक्त्वापवाणस्य । स्मरस्य मन्मथस्य ।

शंकां संदेहं । जनयांबभूव उद्गावयतिस्म । जनैङ् प्रादुर्भावे । “प्रयुज्याप्याणिञ् वा” इति णिञ् ततो “दयायास्कास्” इत्यादिना भाम् तेनैव सूत्रेण भूसत्तायामित्यस्यानुप्रयोगः णिञ्अन्ताह्लिद् इति पंचमिः कुलकं ॥ १६ ॥

भा० अ० — तीस हजार वर्ष की आयुवाले और खिले अतसी-पुष्प के समान रंगवाले श्रीजिनबालक ने धनुर्बाण को अलग रखके हुए कामदेव की शङ्का उत्पन्न कर दी ॥ १६ ॥

पित्रापि निर्वर्तितदारकर्मा ततः स यूनामधिपोऽपि वृद्धां ॥

अप्राह्यत स्वामधिगजलक्ष्मीं पुरैव राजा जगतां त्रयाणां ॥ १७ ॥

पित्रेत्यादि । ततः तस्मिन् ततः तदनंतरे । पुरैव प्रागेव । त्रयाणां जगतां त्रिलोकीनां । राजा स्वामी मुनिसुव्रतः । पित्रापि जनकेनापि । निर्वर्तितदारकर्मा दाराणां कर्म निर्वर्त्यते स्म निर्वर्तितं निर्वर्तितं दारकर्म यस्य सः तथोक्तः कृतविवाहकार्यः । “भार्या जायाऽथ पुंभूमि दाराः स्यात्तु कुट्टुम्यिनी” इत्यमरः । यूनां तरुणानां अधिपस्तथोक्तोऽपि । वृद्धां वर्धते स्म वृद्धा तां जरामिति विरोधः समृद्धामिति परिहारः । स्वां स्वकीयां । अधिराजलक्ष्मीं अधिको राजो अधिराजः “राजन्सखेः” इत्यट् अधिराजस्य लक्ष्मीः अधीराजलक्ष्मीस्तां अप्राह्यत स्वीकार्यते स्म प्रही उपादाने इति धातोर्णिजन्तात्कर्मणि लङ् । स्वामिनोर्जगत्त्रय-राजत्वेपि स्वान्वयाधिराज्यग्रहणं क्षत्रियकर्मपालनमितिभावः ॥ १७ ॥

भा० अ०—पहले ही से त्रिभुवन के राजा होते हुए श्रीमुनिसुव्रत-नाथ ने पिता से विवहादि कृत्य कराये जानेपर तरुणों के शासक हो कर भी वृद्ध राज्यलक्ष्मी को ग्रहण किया अर्थात् पिताने विवाहादि-कार्य सम्पन्न करके मुनि सुव्रतनाथ को युवराज्याभिषेक किया ॥ १७ ॥

पुण्यैकलभ्योऽधिकसौख्यहेतुर्विचित्रवर्णां विशदांतरंगः ॥

नृपासनस्थोऽनमयत्त्रिलोकीं स दीपवर्ति निधिवत्पदाग्रे ॥ १८ ॥

पुण्यैकेत्यादि । पुण्यैकलभ्यः पुण्यमेवैकं पुण्यैकं लब्धुं योग्यो लभ्यः पुण्यैकेन लभ्यः सुकर्मकेन प्राप्यः । अधिकसौख्यहेतुः सुखमेव सौख्यं अधिकं च तत् सौख्यं च अधिक-सौख्यं अधिकसौख्यस्य हेतुस्तथोक्तः प्रकृष्टार्तीन्द्रियसुखस्य हेतुः बहुलेंद्रियसुखस्य कारणं च । विचित्रवर्णः विचित्रो वर्णो यस्य सः तथोक्तः अद्भुतशोभायुतः विविध-मणिमयत्वाद्भानावावर्णसहितश्च । विशदांतरंगः विशदमंतरंगं यस्य सः निर्मलाभिप्रायः निर्मलादिप्रांतर्भाषो वा । नृपासनस्थः नृपस्यासनं नृपासनं तत्र तिष्ठतीति नृपासनस्थः । सः । पदाग्रे पदयोरग्रं पदाग्रं तस्मिन् चरणयोरुपरि पदस्याग्रं पदाग्रं तस्मिन् स्थानाग्रे च ।

निधिवत् निधिरिव निधानमिव । दीपवर्ति' दीपस्य वर्तिः दीपवर्तिस्तां प्रदीपवर्त्तिकां ।
“वर्त्तिर्द्वौपदशादीपगात्रानुलेपनीषु च । वर्त्तिर्भेषजनिर्माणनयनांजनलेखयोः” इति विश्वः ।
त्रिलोकीं त्रयाणां लोकानां समाहारत्रिलोकीं तां “द्विगोः” इति डी त्रिभुवनं । अनमयत्
प्राह्वयत् णम् प्रह्वत्वे शब्दे णिजन्ताल्लङ् ॥ १८ ॥

भा० अ०—पुण्य ही से प्राप्त करने योग्य, अतीन्द्रिय-सुखद् अथवा अधिक सुखके कारण
भूत, आश्चर्यजनक शोभा-सम्पन्न अथवा विविधमणिभय होने से नानावर्ण से युक्त तथा
स्वच्छान्तरंगवाले मुनिसुव्रतनाथ ने निधितुल्य दीपवर्त्तिका के समान त्रिभुवन को अपने
पैरों पर अथवा निधिस्थानपर अवनत किया अर्थात् समस्त संसार उनके सामने प्रणत रहते
थे ॥१८॥

आस्थानलक्ष्म्याः सगुणोरुकांतिर्नृपावलीमौक्तिकहारमध्ये ॥

स्थितो दधौ नायकरत्नशोभामसौ महानीलरुचिर्नृपेन्द्रः ॥ १९ ॥

आस्थानलक्ष्म्या इत्यादि । आस्थानलक्ष्म्याः आस्थानस्य लक्ष्मीस्तथोक्ता तस्याः
सभाश्रियः । नृपावलीमौक्तिकहारमध्ये नृन् पातीति नृपास्तेषामावली नृपावली मौक्ति-
कानां हारो नृपावत्येव मौक्तिकहारस्तस्य मध्यं तस्मिन् भूपतिसमूहमुक्ताफलहारमध्ये ।
स्थितः तिष्ठति स्म स्थितः । गुणोरुकांतिः उर्वीचासौ कांतिश्च तथोक्ता गुणाश्रोहकां-
त्यश्च गुणोरुकांतयः गुणोरुकांतिभिः सह वर्तन इति सगुणोरुकांतिः संख्यादिगुणमहत्कां-
तिद्वययुक्तः तंतुद्युनियुतः । “मौर्व्यप्रवानपारदिद्रियसूत्रमत्वादिबंध्यादिविधादिहरितादिषु
गुणः” इति नानार्थकोशे । महानीलरुचिः महश्च तन् नीलं च मडानीलं तस्य रुचिर्यस्य सः
इन्दनीलरत्नकानियुक्तः । असौ अयं । नृपेन्द्रः नृपाणामिन्द्रस्तथोक्तः । नायकरत्नशोभां
नायकं च तत् रत्नं च नायकरत्नं तस्य शोभां तरलरत्नशोभां । दधौ धरति स्म दुध्याञ्
धारणे च लिट् ॥ १९ ॥

भा० अ०—गुणयुक्त अथवा तन्तुयुक्त, अत्यधिक प्रभाशाली और बहुनील कान्तिवाले
इस राजा मुनिसुव्रतनाथ ने सभालक्ष्मी के नृपसमूह रूपी हार के बीच में रत्नों के
स्वामित्व की शोभा धारण की ॥१९॥

स चंद्रपाषाणसभापयोधौ सचामरोल्लोलतरंगमाले ॥

शेषोपमस्फाटिकविष्टरस्थः श्रिया सनाथो हरिवच्चकाशे ॥२०॥

स इत्यादि । सचामरोल्लोलतरंगमाले उल्लोलाश्च ते तरंगाश्च उल्लोलतरंगाः चामरा-
प्येषोल्लोलतरंगाः चामरोल्लोलतरंगाः तेषां माला चामरोल्लोलतरंगमाला तथा सह वर्तत

इति सचामराल्लोलतरंगमालस्तस्मिन् प्रकीर्णकोपमोर्मिपंक्तिसहिते । चन्द्रपाषाणसभा-
पयोधौ चन्द्रपाषाणेन निर्मिता सभा तथोक्ता चन्द्रपाषाणसभैव पयोधिस्तस्मिन् चंद्र-
कांतशिलारचितसभासमुद्रे । शेषोपमस्फाटिकविष्टरस्थः स्फटिकेन निर्मितं स्फाटिकं
तच्च तत् विष्टरं च स्फाटिकविष्टरं शेषस्योपमं शेषोपमं तच्च तत् स्फाटिकविष्टरं च तस्मिन्
तिष्ठतीति शेषोपमस्फाटिकविष्टरस्थः महाशेषोपमानस्फटिकनिर्मितसिंहासनस्थः ।
श्रिया संपत्त्या । सनाथः सहितः । सः जिनः । श्रिया रमया । सनाथः युक्तः । श्लेषः ।
हरिवत् हरिरिव हरिवत् नारायण इव । चकारो बभौ । काशि दीप्तौ लिट् उत्प्रेक्षा ॥२०॥

भा० अ०—चाररूपी चंचल तरंग की माला वाले चन्द्रकान्त-मणिनिर्मित सभासमुद्र
में शेष-तुल्य स्फटिक रचित आसन पर बैठे हुए मुनिसुव्रतनाथ लक्ष्मी-युक्त विष्णु के
समान देदीप्यमान होने लगे ॥२०॥

चकंपिरे हेममयाः किरीटा मुहुः सभामौघमदां नृपाणां ॥

जिनोक्तिपीयूषजुषां यथामी मरुदशान्जाह्नवपद्मकेशाः ॥२१॥

चकंपिरे इत्यादि । सभामौघमदां सभायास्सौधस्तथोक्तः सभासौधे सीदतीति
सभासौधसदस्तेषां सभासदने विद्यमानानां । जिनोक्तिपीयूषजुषां जिनस्योक्तिः
जिनोक्तिस्मैव पीयूषं तथोक्तं जिनोक्तिपीयूषं जुषतीति जिनोक्तिपीयूषजुषस्तेषां जिन-
वचनामृतं पीत्या सेवमानानां । नृपाणां राज्ञां । हेममयाः हेमो विकारस्तथोक्ताः सुवर्ण-
मयाः । किरीटाः मुकुटानि । मुहुः मुहुः पुनः पुनः । मरुदशान् मरुतो वशो मरुदशस्तस्मात्
वानाधीनात् । अमी इमे । “इदमस्तु संनिकृष्टेऽर्थेऽदसो विप्रकृष्टोऽर्थः समीपतर
वर्तिचैतदौ रूपं तदिति परीक्षे विजानीयात्” इति वचनात् । जाह्नवपद्मकेशाः
जाह्नव्या इदं जाह्नवं तच्च तत् पद्मं च तथोक्तं जाह्नवपद्मस्य केशास्तथोक्ताः गङ्गेय-
कमलकुड्मलाः “केशोऽस्त्री कुड्मले ऋद्धपियाने ऽथौघदिव्ययाः” इत्यमरः । यथा चकंपिरे ।
चेलुः कपुड् चलने लिट् उत्प्रेक्षा ॥ २१ ॥

भा० अ०—सभागृह में बैठे हुए तथा जिनवचनामृत पान करते हुए राजाओं के
सुवर्ण मुकुट हवा के झोंके लगी हुई जाह्नवी कमल-कलिका के समान बार बार कम्पित
होने लगे ॥२१॥

जिनांबुदः पीठनगाधिरूढो दिवौकसामेष धिनोतु वृंदं ।

प्रवर्षणौर्वागमृतस्य चित्रं प्रमोदयामास च राजहंसान् ॥२२॥

जिनांबुद इत्यादि । पीठनगाधिरूढः पीठमेव नगः पर्वतो वृक्षो वा तथोक्तः पीठनगमधिरौ-

हतिस्म तथोक्तः सिंहासनाद्रिस्थः भद्रासनद्रुमस्थितो वा । “शैलवृक्षौ नगावगौ” इत्युभयत्राप्यमरः । एषः अयं । जिनांबुदः अंबु ददातीत्यंबुदः जिन एवांबुदः अर्हद्भिर्द्रनीरदः । वाग-मृतस्य वागेवामृतं वागामृतं तस्य वचःपीयूषस्य । प्रवर्षणैः प्रकृष्टानि वर्षणानि प्रवर्षणानि तैः प्रसेचनैः । दिवौकसां त्रिवि ओको येषां ते दिव्यौकसस्तेषां अमर्त्यानां चातकानां च “दिवौकाश्चातके सुरे” इति विश्वः । वृद्ं निचयं । धिनेतु प्रीणातु धिवु प्रीणने लोट् । किंतु राजहंसान् राजानो हंसास्तान् हंसपक्षिणः नरेन्द्रवरांश्च । “नृपश्चेष्टकादंबकल-हंसेषु राजहंसः” इति नानार्थकोशे । च समुच्चयार्थः । प्रमोदयामास संतोषयामास । मुदि हर्षेणिजंताह्लिट् । चित्रं आश्चर्यं । अत्र मेघस्य हंसतोषकत्वमद्भुतं । रूपकः ॥ २२ ॥

भा० अ०—सिंहासनाधिरूढ अथवा पर्वताधिरूढ होकर श्रीजिनेन्द्र रूपी मेघ ने देवताओं अथवा चातकों के समूह को प्रसन्न किया किन्तु आश्चर्य तो यह है कि वाक्सुधा-वृष्टि के द्वारा राजाओं अथवा राजहंसों को भी तृप्त कर दिया ॥२२॥

स्वस्थैरदुःस्थोऽतनुसौख्यकृष्टैर्जुष्टामृतैरष्टगुणाभिरामैः ॥

वृतोऽजरैः सिद्ध इवैष रेजे विलोकयन् लोकगतिं समस्ताम् ॥ २३ ॥

स्वस्थैरित्यादि । स्वस्थैः स्वस्तिष्ठंतीति स्वस्थाः देवास्तैः “स्वरित्यव्ययस्थस्य रे फस्य लुक्” इति लुक् पक्षे स्वस्मिंस्तिष्ठंतीति स्वस्थास्तैः स्वात्मस्थितैः । अतनुसौख्य-कृष्टैः न विद्यते तनुर्यस्यासावतनुः सुखमेव सौख्यं अतनोः सौख्यमतनुसौख्यं तस्य काम-सुखस्य नातनूनि अतनूनि अतनूनि च तानि सौख्यानि च “तनुः काये कृशे चाल्पे विरलेऽपि च वाच्यवत्” इति विश्वः । कृष्यते स्म कृष्टाः अधीनाः अनंतसुखानां च कृष्टा अधीनास्तैः । जुष्टामृतैः जुष्यते स्म जुष्टं जुष्टममृतं गैस्तैः अनुभूतपीयूषैः प्राप्तनिर्वाणैश्च । अष्टगुणाभिरामैः अष्ट च गुणाश्च तथोक्ताः अष्टगुणैरभिरामास्तथोक्तास्तैः अणिमाद्यष्टगुणैः सम्यक्वाद्यष्टगुणाभिरामैः । अजरैः न विद्यते जरा येषां ते अजरास्तैः देवैः पक्षे जरारहितैः उपलक्षणात् जातिजरामरणरहितैः मुक्तात्मभिरित्यर्थः । वृतः त्रियते स्म वृतः परिवेष्टितः । अदुस्थः दुःखे तिष्ठतीति दुस्थः न दुस्थः अदुस्थः समृद्धः सुस्थितश्च । समस्तां सकलां । लोकगतिं लोकस्य गतिर्लोकगतित्तां प्रजाजीवनोपायं भुवनस्थितिं च “गतिमार्गं दशायां च ज्ञाने यात्राभ्युपाययोः । नाडीव्रणसरण्यां च” इति विश्वः । विलोकयन् विलोकयतीति विलोकयन् विचारयन् । एषः अयं जिनराजः । सिद्ध इव सिध्यति स्म सिद्धः सिद्धपरमेष्ठिवत् । रेजे चकाशे । राजृ दीप्ती लिट् श्ले षोपमालंकारः ॥ २३ ॥

भा० अ०—स्वस्थ अथवा निजात्मस्थित, अनन्तसुखानुभवो अथवा काम-सुखलित, अमृतसेवी अथवा निर्वाणानन्दमग्न, अणिमाद्यष्ट गुणों से युक्त अथवा सम्यक्वादि से

मिश्रित, देवताओं से अथवा जरागहित्य से परिवेष्टित और समृद्ध अथवा सुस्थित श्री-मुनिसुव्रतनाथ प्रजाओं के जीवनोपाय का विचार करते हुए सिद्ध परमेष्ठी के समान सोभने लगे ॥२३॥

नरोरगस्वर्गिमनोरमाभिरुपास्यमानः स बभौ सभायाम्

जयार्थमुन्मुद्रितशस्त्रकेशो जगत्त्रयाणामिव पुष्पकेतुः ॥२४॥

नरोरगेत्यादि । सभायां सदसि । नरोरगस्वर्गिमनोरमाभिः नराश्च उरगाश्च स्वर्गोऽ-
स्त्येषामिति स्वर्गिणस्ते च नरोरगस्वर्गिणः मनोरमयतीति मनोरमाः नरोरगस्वर्गिणं
मनोरमाः नरोरगस्वर्गिमनोरमास्ताभिः मनुष्यमवनवात्मिककल्पवासिकनारीभिः ।
उपास्यमानः उपास्यत इत्युपास्यमानः सेव्यमानः । जगत्त्रयाणां त्रयोऽवयवाः संत्ये-
षामिति त्रयाणि जगतां त्रयाणि जगत्त्रयाणि तेषां लोकत्रयाणां । “अत्रयात्तयङ्” इति तयट् ।
“द्वित्रिभ्यां लुञ्च” इति तस्य लुक् । जगत्त्रयाणामित्यनेकान्यपि जगत्त्रयाणि जयैदिति
पुष्पकेतोस्संभावनावहुत्वं । जयार्थं जयायेदं जयार्थं जयनिमित्तं । उन्मुद्रितशस्त्रकेशः
शस्त्राणां केशः शस्त्रकेशः उन्मुद्रितः शस्त्रकेशो यस्य सः तथोक्तः मुद्राविरहितायुध-
भांडागारः । पुष्पकेतुः पुष्पाण्येव केतुर्यस्य सः तथोक्तः मन्मथ इव बभौ रंजे ।
भा दीप्तौ लिट् उत्प्रेक्षा ॥२४॥

भा० अ०—मनुष्य स्त्री, मवन, और कल्पवासिनी अंगनाओंसे समामें सेवित होते हुए
मुनिसुव्रतनाथ त्रिभुवन को जीतने के लिये शस्त्रास्त्रसे सज्जित कामदेव के समान
सोभते थे ।

उपायनीकृत्य गजाश्वरत्नान्युपागतानामधिपं नृपाणाम् ॥

न केवलं मार्गरुधो नगेंद्रा निपेतुरेषां दुरिताद्रयश्च ॥ २५ ॥

उपायनीकृत्यादि । गजाश्वरत्नानि गजाश्च अश्वाश्च रत्नानि च तथोक्तानि
समस्तानि कुंजरवाजिमणोन् । उपायनीकृत्य प्रागनुपायनमिदानीमुपायनकरणं पूर्वं
पश्चात्किंचिदिति तथोक्तं उपहारं कृत्वा । अधिपं स्वामिनं । उपागतानां उपायातानां ।
नृपाणां राज्ञां । केवलं परं । मार्गरुधः मार्गं रुधंतीति मार्गरुधः वर्त्मप्रतिबंधकाः । नगेंद्राः
नगानामिन्द्रास्तथोक्ताः गिरिवराः । न निपेतुः न पतंति स्म अपितु एषां नृपाणां मार्गरुधः
मोक्षमार्गनिरोधकाः दुरिताद्रयश्च दुरितान्येवाद्रयः निपेतुः पल्लु गती लिट् सहोक्तिः ॥२५॥

भा० अ०—(मुनिसुव्रतनाथ को) हाथी, घोड़े तथा रत्नों का उपहार देकर लौटते हुए
राजाओं के मार्ग में रुकावट डालने वाले केवल पर्वत ही नहीं गिरे प्रत्युत मोक्षमार्ग के

बाधकृपापक्षी पर्वत भी विनष्ट हो गये ॥२५॥

भक्तुं जिनेद्रं ब्रजतां नृपाणां चमूपदोद्भूतपरागपाल्या ॥

विहाय चेतांसि पलायमानकपोतलेश्याकृतिरन्वकारि ॥ २६ ॥

भक्तुमित्यादि । जिनेद्रम् जिनानामिद्रो जिनेद्रस्तं । भक्तुं भजनाय भक्तुं सेवितुं । ब्रजतां ब्रजंतीति ब्रजंतस्तेषां गच्छतां । नृपाणां नृन् पांतीति नृपास्तेषां राज्ञां । चमूपदोद्भूतपरागपाल्या चमूनां पदानि चमूपदानि चमूपदैक्यतास्तथोक्ताः चमूपदोद्भूताश्च ते परागाश्च तथोक्ताः चमूपदोद्भूतपरागाणां पालिस्तया सेनाचरणनिर्गतधूलिश्रेण्या । “परागः पुष्परजसि धूलिस्नानीययोरपि । गिरिप्रभेदे विख्याताद्युपरागे च चंदने । पालिः कर्णलताप्रोऽथौ पङ्क्तावकप्रदेशयोः । पालिः प्रस्थे च यूकायां जातश्मश्रुस्त्रियामपि” इत्युभयत्रापि विश्वः । चेतांसि हृदयानि । विहाय विज्ञानं पूर्वं पश्चादिति । पलायमानकपोतलेश्याकृतिः पलायत इति पलायमाना कपोताचासौ लेश्या च कपोतलेश्या पलायमाना चासौ कपोतलेश्या च तथोक्ता पलायमानकपोतलेश्यायाः आकृतिस्तथोक्ता धावत्कपोतलेश्यापरिणामाकारः । अन्वकारि अन्वक्रियत डुकृञ् करणे कर्मणि लुङ् ॥२६॥

भा० अ०—श्रीजिनेन्द्र भगवान की सेवन करने के लिये जाने हुए राजाओं की सेना के पदाघात से उड़ी हुई धूलिराजियोंने चित्त को छोड़ कर भागती हुई कपोत-लेश्या का अनुकरण किया ॥२६॥

चित्रं कृपालोजिनपस्य राज्यं यत्प्राप्तबंधानपि पापदस्यून ॥

बाधां दुरतां दधतो नितानं विमोचयामास जगज्जनानां ॥ २७ ॥

चित्रमित्यादि । यत् यस्मात्कारणात् । प्राप्तबंधानपि प्राप्यते स्म प्राप्तास्ते च ते बंधाश्च प्राप्तबंधाः पक्षे प्राप्ता बंधाः येषां ते तान् प्राप्तप्रकृतिस्थित्यादिवंधान् शृङ्खलादिबंधनयुक्तान् । जगज्जनानां जगति विद्यमाना जनास्तेषां लोकजन्तूनां । दुरतां अधधिरहितां । बाधां पीडां । दधतः दधतीति दधतस्तान् चिनरतः । पापदस्यून पापान्येव दस्यवस्तथोक्तास्वान् । “दस्युशात्रवशाच्च” इत्यमरः । नितानं अत्यंतं । विमोचयामास निवारयामास मुच्ल मोचने णिजंताल्लिट् । “दयायास्केत्यादिना” आम् असभुविति धातेर्योगः । कृपालोः कृपास्यास्तोति कृपालुस्तस्य “कृपाहृदयाः” मत्वर्थे आलु प्रत्ययः दयायुक्तस्य । जिनपस्य जिनान् पातीति जिनपस्तस्य जिननाथस्य । राज्यं राज्ञो भावः कृत्यं वा राज्यं प्रभुत्वं । चित्रं आश्चर्यम् ॥ २७ ॥

भा० अ०—सांसारिक जीवों को निस्सीम पीड़ा पहुँचाने की वजह से प्रकृतिस्थित्यादि

बन्धन-चतुष्टय अथवा शृङ्खलादि बन्धन को प्राप्त हुए पापदारी चोरों को एकदम मुक्त कर दिया गया यही दयालु जिनेन्द्र भगवान के राज्य की विचित्रता है ॥२७॥

जिनेऽवनीं रक्षति सागरांतां नयप्रतापद्वयदीर्घनेत्रे ॥

कस्यापि नासीदपमृत्युरीतिः पीडा च नाल्पाऽपि बभूव लोके ॥२८॥

जिन इत्यादि । नयप्रतापद्वयदीर्घनेत्रे नयश्च प्रतापश्च नयप्रतापी तयोर्द्वयं तयोर्द्वयं दीर्घं च नेत्रे च दीर्घनेत्रे नयप्रतापद्वयमेव दीर्घनेत्रे यस्य सः नयप्रतापद्वयदीर्घनेत्रस्त्वस्मिन् नीतिपराक्रमद्वयविशालनयनयुक्ते । रूपकः । जिने जिनेशे । सागरांतां सागर प-
चांतो यस्यास्सा तां समुद्रावसानां । अवनीं भूमिं । रक्षति रक्षतीति रक्षन् तस्मिन् सति । लोके जगति । कस्यापि एकस्यापि । अपमृत्युः अकालपरणं । ईतिः प्रवासः अतिवृष्ट्यादिर्वा । “ईतिः प्रवासे डिवे स्यादतिवृष्ट्यादिपट्सुच” इत्युभयत्रापि विश्वः । नासीत् नाभवत् । अहंपि पीडा च । न बभूव न भवति स्म । भू सत्तयां लिट् ॥२८॥

भा० अ०—नोति तथा प्रतापरूपी विशाल नेत्रद्वयसे युक्त श्रीजिनेन्द्र भगवान के समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वी के शासन करते रहनेपर संसार में किसी को भी अकालमृत्यु तथा अतिवृष्ट्यादि की थोड़ी भी पीड़ा नहीं हुई ॥२८॥

अधर्मता खड्गिनि तस्य राज्ये पयोधरे सत्पथरोध आसीत् ॥

वधूकटाक्षे श्रवणातिपाते गजे कदाचिद्यदि दानलोपः ॥२९॥

अधर्मतेत्यादि । तस्य मुनिसुव्रतस्वामिनः । राज्ये राज्ञः कृत्ये । खड्गिनि । अधर्मता न विद्यते धर्मः पुण्यं यस्यान्माधर्मः पक्षे न विद्यते धर्मो धनुर्यस्यासावधर्मस्तस्य मावोऽधर्मता पुण्यराहित्यं चापरहितत्वं । “धर्मः पुण्ये यमे न्याये स्वभावचारयोः कर्तौ । उपमायामहिंसा-
यां चापे चोपनिगद्यते” इति विश्वः । आसीत् अभवत् । सत्पथरोधः संश्र्वासी पंथाश्च सत्पथः सन्मार्गः पक्षे सनां नक्षत्राणां पंथाः सत्पथः व्योम । “सत्प्रकाशे विद्यमाने त्रिषु क्लीबे सत्यतारयोः” इति शाश्वतः । “अरूपः पथोऽत्” इत्यन् प्रत्ययः । तस्य रोधो निरोधः सन्मार्ग-
निरोधः आकाशनिरोधः । पयोधरे पर्यासि धरतीति पयोधरस्तस्मिन् मेघे । आसीत् । श्रव-
णातिपातः श्रवणस्य परमागमध्रुतेः श्रवणानां दिगंबराणां वा पक्षे श्रवणयोः कर्ण-
योः अतिपातः अतिपतनमतिपातः उल्लंघनं । “श्रवणं स्याद्वृक्षमेदे श्रवणं ध्रुतिकर्णयोः ।
श्रवणो मासपाषण्डे दध्याहयां श्रवणीमता” इति विश्वः । वधूकटाक्षे वधूनां कटाक्षो
वधूकटाक्षस्तस्मिन् । यदि चेत् । दानलोपः दानस्य लोपस्तथोक्तः त्यागरहितत्वं पक्षे
मदजलाभावः । “त्यागगजमदशुद्धिपालनछेदनेषु दानम्” इति नानार्थकोशे । कदाचित्
कस्मिंश्चित्काले । गजे कुंजरे । आसीत् अभवत् । परिसंख्यालंकारः ॥ २९॥

भा० अ०—श्री मुनिसुव्रतनाथ के राज्य में लङ्काधारियों में अधर्मता (धनुर्हीनता या पुण्यरहितता) थी न कि वहाँ के लोगों में, मेघ मण्डल में ही सत्पथ-सन्मार्ग (आकाश मार्ग) की हकावट थी न कि वहाँ के जनों के, स्त्रियों के कटाक्ष पर ही श्रवण (कान) का उल्लङ्घन करना अर्थात् कान तक पहुँच जाना निर्भर था न कि वहाँ के लोगों में शास्त्रों का अथवा द्विगम्बर मुनियों का अनादर करना, और हाथियों में ही कदाचित् दान (मद-धारा) का लोप हो सकता था न कि वहाँ के लोगों में । २६।

रतिक्रियायां विपरीतवृत्ती रतावसाने किल पारवश्यं ॥

बभूव मल्लेषु गदाभिघातो भयाकुलत्वं रविचंद्रयोश्च ॥३०॥

रतीत्यादि । विपरीतवृत्तिः विपरीता वृत्तिर्विपरीतवृत्तिः विरुद्धाचरणं पक्षे पुरुष-वर्तनं । रतिक्रियायां रत्याः क्रिया रतिक्रिया तस्यां । बभूव भवति स्म । पारवश्यं परस्य वशः पारवशः तस्य भावः पारवश्यं शरीरादिपरद्रव्याधीनत्वं पक्षे मूर्च्छांपराधीनत्वं । रतावसाने रतस्यावसानं रतावसानं तस्मिन् सुरतांते । बभूव । गदामिघातः गदानां व्याधीनां पक्षे गदायाः दंडस्य अमिघातः प्रहारः रोगबाधा दंडायुधहतिः । “आयुधामयम्रातृविष्णुषु गदः” इति नानार्थकोशे । मल्लेषु मल्लभटेषु । बभूव । भयाकुलत्वं भयेनाकुलो भयाकुलस्तस्य भावो भयाकुलत्वं भीतिकातरत्वं । पक्षे भया कांत्या आकुलत्वं संकीर्णत्वं । रविचन्द्रयोः रवि-श्चंद्रश्च रविचंद्रौ तयोः सूर्यचंद्रमसोश्च । बभूव किल । भू सत्तायां लिट् । परिसंख्यालंकारः ॥३०॥

भा० अ०—रतिक्रिया में ही कदाचित् विपरीत वृत्ति (पुष्वृत्ति) थी पर वहाँ के लोगों में विरुद्धाचरण नहीं था, सभोग के अन्त में ही पारवश्य (शिथिलता) था पर वहाँ के लोगों में परद्रव्यपराधीनता न थी, मल्लों में ही गदा के प्रहार का प्रचार था न कि वहाँ के लोग गद (व्याधि) ग्रस्त थे और चन्द्र तथा सूर्य ही कदाचित् भा (कान्ति) से परिपूर्ण न थे न कि वहाँ के लोग भयाकुल थे । ३०।

इति निरुपमभक्त्या सानुरक्त्याऽवनम्रत्रिभुवनपतिचूडाचित्ररत्नांशुवर्त्या ॥

विलिखितपदपीठराजपीठे स तस्थौ दशदशशतसंख्यान् वत्सरान् पंच चैव ॥३१॥

इतीत्यादि । सः मुनिसुव्रतप्रभुः । सानुरक्त्या अनुरक्त्या सह वर्तत इति सानुरक्तिः तथा अनुरागरक्त्या निर्व्याजयेत्यर्थः । इति एवं प्रकारेण । निरुपमभक्त्या उपमाया निर्गता निरुपमा सा चासौ भक्तिश्च निरुपमभक्तिस्तथा उपमातीतभक्त्या । अवनम्रत्रिभुवनपतिचूडा-चित्ररत्नांशुवर्त्या त्रयाणां भुवनानां समहारस्त्रिभुवनं तस्य पतयः त्रिभुवनपतयः अवन-प्रतीत्येषं शीलाः अवनम्राः ते च ते त्रिभुवनपतयश्च तेषां चूडा तयोक्ताः चित्राणि च

तानि रत्नानि च चित्ररत्नानि तेषामंशवः चित्ररत्नांशवः अवनम्रत्रिभुवनप-
तिचूडानां चित्ररत्नांशवस्तथोक्ताः तथैव वर्तिस्तया अवनमनशीलत्रिलोक-
पतिमुकुटरत्नकांतिवर्तिकया । “वर्तिर्दीपदशादीपगात्रानुलेपनीषु च । वर्तिर्भेषजनिर्माणनय-
नांजनलेखयोः” इति विश्वः । विलिखितपद्पीठे पद्मयोः पीठं पद्पीठं चरणासनं विलिखितं
पद्पीठं यस्य तस्मिन् । राजपीठे राज्ञः पीठं राजपीठं तस्मिन् । दशदशशतसंख्यान् दश
वारान् शतानि दशशताति पुनरपि दशवारान् दशशतानि दशदशशतानि तान्येव सं-
ख्या येषां ते दशदशशतसंख्यास्तान् । पंच चैव । वत्सरान् वर्षान् । पंचाधिकदशसहस्रवर्ष-
पर्यन्तमित्यर्थः । “कालाध्वानोर्व्याप्तौ” इति व्याप्त्यर्थे द्वितीया । तस्यौ तिष्ठति स्म । छा गति
निवृत्तौ लिट् ॥ ३१ ॥

इत्यर्हदासकृतेः काव्यरत्नस्य टीकायां सुखबोधिन्यां भगवत्कौमारयोवनदारकर्मसाध्या-
ज्यवर्णना नाम सप्तमसर्गोऽयं समाप्तः ।

भा० अ०—इस प्रकार निश्चल तथा अनुपम-भक्ति से अवनत त्रिभुवनपतियों की
मुकुटमणि से प्रतिबिम्बित राजसिंहासन पर श्रीमुनिसुव्रत स्वामी ने आरूढ़ होकर इस
हजार पाँच सौ वर्षों तक राज्य-शासन किया । ३१ ।

अथ अष्टमसर्गः

अत्रान्तरे श्रुतधरः श्रुतधर्मतत्त्वैर्मध्योत्तमैर्दमवरारव्यमुमुक्षुमुख्यः ॥

आलोक्य यागकरिपुंगवमस्तर्हर्षमापृष्ट इत्यचकथद्रजराजवृत्तं ॥१॥

अत्रेत्यादि । अत्रान्तरे अस्मिन्नवसरे एतत्साम्राज्यकाल इत्यर्थः । श्रुतधर्मतत्त्वैः
श्रुतधर्मस्य तत्त्वं श्रूयते स्म श्रुतं श्रुतं धर्मतत्त्वं येस्तैः श्रुतधर्मस्वरूपैः । मध्योत्तमैः रत्न-
त्रयाविभवनयोग्याः मध्याः मध्येषूत्तमा मध्यात्तमास्तैः विनेयजनमुख्यैः । अस्तर्हर्षं अस्तौ
हर्षो यस्य तं नष्टसंतापं । यागकरिपुंगवं पुमांश्चासौ गौश्च पुंगवस्तथोक्तः यागार्हः करिपुंग-
वस्तथोक्तस्तं पट्टबंधगजवरं । विलोक्य आलोक्य । आपृष्टः आपृच्छते स्म आपृष्टः विज्ञापितः ।
श्रुतधरः श्रुतं धरतीति श्रुतधरः परमागमभृत् । दमवरारव्यमुमुक्षुमुख्यः दमस्य वरो दमवरः
दमवर इत्यारव्या यस्य सः मोक्षमिच्छती मुमुक्षवस्तेषु मुख्यस्तथोक्तः दमवरारव्य-
श्चासौ मुमुक्षुमुख्यश्च तथोक्तः दमवरनामधेयमुनिश्रेष्ठः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । गज-
राजवृत्तं गजानां राजा गजराजस्तस्य वृत्तं करीष्टचरित्रं । अचीकथत् अन्नवीत्, कथ वाक्य-
प्रबंधे चुरादिभ्यो णिच् कथापानीत्यादिना अक् तस्य लोपः लुङ् णेरिततोत्यादिना णिलुक्
कंध्रत्यादिना ऊः द्विधातुरित्यादिना द्विर्भावः सन्बल्लघावित्यादिना अल्लुचिसन्बद्धा

“सन्वत” इतीत्वभावः ॥ १ ॥

भा० अ०—एक समय इन्हीं मुनिसुव्रतनाथ के शासन-काल में पट्टबन्धगजाधिपति को उदासी न देख कर धर्मतत्त्व को सुने हुए उत्तम भविकों से इसके विषय में पूछे गये वमवर नामक परमागमज्ञाता मुमुक्षुश्रेष्ठ यतिवर ने हाथी का वृत्तान्त यों कहा । १।

राजाभवन्नरपतिः पुरि पूर्वताले दानं ददौ निकृतनिर्मलजैनधर्मः ॥

स्वैरं कुपात्रनिवहाय ततोऽजनिष्ट सोयं गजः स्मृतवनः कबलं निरंधे ॥ २ ॥

राजैत्यादि । पूर्वताले पूर्वतालारुखे । पुरि पत्तने । नरपतिः नराणां पतिस्तथोक्तः नरपत्यारव्यः । राजा स्वामी । अभवत् अभूत् । भू सत्तायां लुङ् । निकृतनिर्मलजैनधर्मः निक्रियते स्म निकृतः मलाभिर्गता निर्मलः जिनम्यायं जैनः संसारदुःखाक्रांतान् जीवानुद्धृत्य मोक्षसुखे धरतीति धर्मः जैनश्चासौ धर्मश्च जैनधर्मः निर्मलश्चासौ जैनधर्मश्च तथोक्तः निकृतो जैनधर्मो येन सः तथोक्तः तिरस्कृतानवद्यत्तत्रयात्मकधर्मः सन् । स्वैरं स्वैष्टं । “मदस्वच्छंदयोः स्वैरः” इत्यमरः । कुपात्रनिवहाय कुत्सितानि पात्राणि तेषां निवहस्तथोक्तः तस्मै कुत्सितपात्रसमूहाय । दानं धनादित्यागं । ददौ ददाति स्म । डुदाञ् दाने लिट् । ततः तस्मात्कारणात् । सः नरपतिः । अयं एषः । गजः करिपतिः । अजनिष्ट अजायत । जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् । स्मृतवनः स्मृतं वनं येन सः चितितवनस्सन् । कबलं आहारं । निरंधे निवारयते हथिङ् आवरणे लट् ॥ २ ॥

भा० अ०—पूर्वताल नामक नगर में यह गजराज विशुद्ध जैन धर्म को तिरस्कृत किये हुआ नरपति नामक एक राजा था । कुपात्रों को मन-माना दान देने से इसने हाथी की योगि में जन्म लिया है । इसे अपने पूर्व वन की बात याद आयी अतः भोजन नहीं करता । २।

आकर्ण्य तद्वचनमाप्तभवस्मृतिस्सन् सद्यः सदृग्विकलसंयममग्रहीत् सः ॥

श्रुत्वा जगत्त्रयगुरुस्तदिदं सभास्थो निर्वेदमात्महृदये विभरां बभूव ॥ ३ ॥

आकर्ण्येत्यादि । सः यागहस्ती । तद्वचनं तस्य वचनं तथोक्तं मुनिवचनं । आकर्ण्य श्रुत्वा । आप्तभवस्मृतिस्सन् आप्यते स्म आप्ता भवस्य स्मृतिः आप्ता भवस्मृतिर्येन सः तथोक्तः प्राप्तजातिस्मरणस्सन् । सद्यः तस्मिन्निति सद्यः तत्क्षणे । सदृग्विकलसंयमं दृशा सह वर्तत इति सदृक् स चासौ विकलसंयमश्च सदृग्विकलसंयमस्तं दर्शनयुक्तदेशसंयमं । अग्रहीत् अग्रहणात् । ग्रही उपादाने लुङ् । तदिदं तदेतत्सर्वं । सभास्थः सभयां तिष्ठतीति सभास्थः भाष्याने स्थितः । जगत्त्रयगुरुः जगतां त्रयं जगत्त्रयं तस्य गुरुः लोकत्रयस्वामी । श्रुत्वा । आत्महृदये आत्मने हृदयं आत्महृदयं तस्मिन् स्वस्य चित्ते । निर्वेदं वेदाग्यं । विभारांबभूव डुभृञ् धारणपोषणयोः । “भीहीभृहोः श्रु ब्लादीति” श्रु ब्वत् ।

“द्विधातुः” इत्यादिना द्विः । “आमिति” भू सत्तायां इति धातोः पुनर्योगः । धरतिस्मेत्यर्थः ॥३॥
भा० अ०—उस हाथी ने उल्लिखित मुनिवर से अपने पूर्व भव की सभी बातें सुन कर जाति-स्मरण होने से तत्क्षण सम्यग्दर्शन पूर्वक देशसंयम को धारण किया यह बात सुन कर त्रिभुवन-गुरु मुनिसुव्रत नाथ के मी चित्त में एक दम वैराग्य हो गया ।३।

हंताशुभाशरणदुःखचले भवेऽस्मिन् बीभत्सके वपुषि चेतननेययंत्रे ॥

प्रारंभमिष्टपरिणामकटौ च भोगे लोलो वसाम्यलमलं स्वहिते यतिष्ये ॥४॥

हंतैत्यादि । अशुभाशरणदुःखचले न शुभमशुभं न शरणमशरणं उभयत्र बहुव्रीहिर्वा अशुभं च तदशरणं च तथोक्तं दुःखं च तत् चलं च तथोक्तं अशुभाशरणं च तत् दुःखचलं च अशुभाशरणदुःखचलं तस्मिन् अप्रशस्तशरणरहितपीडाकारणस्थिरत्वरहिते । खंज-कुंडादिवदन्यतरप्राधान्येन विशेषणमित्यादिना कर्मधारय एव समासः । अस्मिन् एतस्मिन् । भवे संसारे । बीभत्सके जुगुप्साजनके । चेतननेययंत्रे नेतुं योग्यं नेयं चेतनेन नेयं चेतननेयं चेतननेयं च तत् यंत्रं च चेतननेययंत्रं तस्मिन् अचेतनत्वाज्जीवप्राणीययंत्रे । वपुषि शरीरे । प्रारंभमिष्टपरिणामकटौ प्रारंभे मिष्टे प्रारंभमिष्टः परिणामे कटुः परिणामकटुः प्रारंभ-मिष्टश्चासौ परिणामकटुश्च प्रारंभमिष्टपरिणामकटुः तस्मिन् प्रथमे मनोहरं चरमे परुषे । भोगे विषयद्रव्ये च । लोलः आसक्तस्मन् । वसामि निष्ठामि । हंत हा । अलमलं पर्याप्तं पर्याप्तं । “अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्” इत्यमरः । स्वहितं स्वस्मै हितं स्वहितं तस्मिन् आत्महिते कार्ये । यतिष्ये प्रयत्नं करिष्ये यति प्रयत्ने लट् ॥ ४ ॥

भा० अ०—मैं अशुभ तथा शरणरहित दुःखों से चलायमान इस संसार में चेतनयंत्र के द्वारा नानायोगि में जन्म कराने वाली घृणास्पद देह में रह प्रारंभ में सुखद तथा परिणाम में दुःखद भोग में लिप्त हो रहा हूँ । हा !!! अब मैं आत्मकल्याण के लिये प्रयत्न करूँगा (ऐसा मुनिसुव्रत स्वामी ने कहा) ।४।

तन्निश्चितात्मकरणीयतया वसंतं स्वांतं नितांतमवधार्य विमुक्तिनार्या ॥

संपर्कलालमधिषेव चरा विमृष्टाः संप्राप्य साधु जगदुर्जगदंतदेवाः ॥५॥

तमित्यादि । स्वांतः स्वस्य अतः स्वांतः अतरंगे । नितांतं अत्यंतं । निश्चितात्मकरणीयतया निश्चीयतेस्म निश्चितं आत्मना करणीयमात्मकरणीयं निश्चितं च तत् आत्मकरणीयं च तथोक्तं तस्य भावो निश्चितात्मकरणीयता तथा व्यवसितस्वकीयकर्तव्यतया । वसंतं वसतीति वसन् तं वसंतं तिष्ठंतं तं मुनिसुव्रतजिनपं । अवधार्य अवधारणं पूर्वं पश्चात्किञ्चिदिति निश्चित्य । जगदंतदेवाः जगतोऽतस्तथोक्तः जगदंतं विद्यमाना देवास्तथोक्ताः लौकान्तिका ममराः । संपर्कलालसधिया लालसा चासौ धीश्च लालसधोः संपर्क लालसधीस्तथोक्ता

तया संभोगासक्तबुद्ध्या । विमुक्तिनार्या विमुक्तिरेव नारी विमुक्तिनारी तथा मोक्षवनिताया ।
रूपकः । विच्छाः विच्छज्यते स्म विच्छाः प्रेरिताः । चरा इव दूता इव । संप्राप्य संप्रापणं
पूर्वं० समेत्य । साधु मनोहरं यथा तथा । जगदुः ऊचुः । गद व्यक्तायां वाचि लिट् ।
उत्प्रेक्षा ॥५॥

भा० अ०—मुनिमुब्रत-नाथ को अपने अन्तरंग में कर्त्तव्य-कर्म को पूर्ण रूप से निश्चित
किये हुए जान कर साथ करने की इच्छा से मुक्ति-रूपिणी बनिता के द्वारा भेजे गये दूत
के समान लौकिकान्तिक देवों ने इनकी सेवा में उपस्थित होकर इस प्रकार निवेदन
किया । ५ ।

अस्मात्तृतीयजनने जननांधकूपादभ्युद्धरेयमखिलं जगदित्युदीर्णा ॥

चित्तस्थले तत्र कृपाच्छलकल्पवल्ली या साद्य देव फलिता जगदेकबंधोः ॥६॥

अस्मादित्यादि । देव स्वामिन् । जगदेकबंधोः एकश्चासौ बंधुश्च एकबंधुः जगतामेक-
बंधुस्तस्य लोकानां मुख्यबंधोः । तत्र भवतः । चित्तस्थले चित्तस्य स्थलं चित्तस्थलं तस्मिन्
मनःप्रदेशे । अस्मात् पतस्मात् । जननात् जन्मतः । तृतीयजनने त्रयाणां पूरणं तृतीयं तच्च
तत् जननं च तृतीयजननं तस्मिन् “द्वित्रेस्ति यद्देश्च ऋशि” इति तीयत् प्रत्ययः ऋशादेशश्च । हरि-
वर्मचरे तृतीयजन्मति । अखिलं सकलं । जगत् लोकं । जननांधकूपात् अंधश्चासौ कूपश्च अंधकूपः
जननमेवांधकूपो जननांधकूपस्तस्मात् संसारनिर्जलपुराणकूपात् । अभ्युद्धरेयं अभ्युद्धराणि ।
इति एव प्रकारेण । उत्तार्णा उत्तरा । या कृपाच्छलकल्पवल्ली कृपैव छलं यस्यास्सा कृपा-
च्छला कल्पया चासौ वल्लो च तयोका सा । अथ अस्मिन्मद्य इदानीं । फलिता फलतिस्म
निष्पन्ना ॥ ६ ॥

भा० अ०—हे देव ! इस से तीसरे जन्म में आप के हृदयस्थल में यह इच्छा हुई थी
कि मैं इस सारे संसार का जन्मान्ध कूप से उद्धार करूँ सो आज आप जैसे त्रिभुवन के
एकमात्र बन्धु की वह कृपारूपिणी कल्पलतिका फलोभूत हो गयी । ६ ।

सांयात्रिकस्त्वमसि बोधनकर्णधारो यस्मात्तपप्रवहणो गुणरत्नवाही ॥

तस्माद्विनेयवरसार्थयुतो विमुक्तिद्वीपं गमिष्यसि भवांबुनिधेरवश्यं ॥७॥

सांयात्रिक इत्यादि । यस्मात्कारणात् । त्वं भवान् । बोधनकर्णधारः बोधनमेव कर्ण-
धारो यस्य सः तथोक्तः सम्यग्ज्ञाननाविकयुक्तः । तपःप्रवहणः तप एव प्रवहणो यस्य सः
तपश्चरणनौयुक्तः । “यानपात्रं प्रवहणं बोहित्यं च बहित्रवत्” इत्यभिधानात् । गुणरत्नवाही गुणा
एव रत्नानि गुणरत्नानि तानि वहतीत्येवं शीलस्तथोक्तः समूलोत्तरगुणमणिधारी । विनेय-
सार्थयुतः विनेया एव सार्था विनेयसार्थास्तैर्युतः भव्यश्रेष्ठिभिर्युक्तः । सांयात्रिकः पोत-

वणिक् । असि भवसि । तस्मात् कारणात् । भवांबुनिधेः भव एवांबुनिधिस्तस्मात् संसारसमुद्रात् । विमुक्तिद्वीपं विमुक्तिरेव द्वीपो विमुक्तिद्वीपस्तम् मोक्षांतद्वीपं । “व्यं तरुण सर्गाद्विद्वपोनात्” इतीकारादेशः । अवश्यं निश्चयं । गमिष्यसि यास्यसि । गम्लृ गतौ लिट् । रूपकः ॥ ७ ॥

भा० अ०—आप सम्यग्ज्ञान-रूपी नाविक वाले, तपोरूपी नाव वाले और मूलोत्तर गुणरूपी रत्न ढोने वाले हैं; इस लिये भविक रूप श्रेष्ठिवर्षों के साथ इस संसार-समुद्र को पार कर मुक्तिरूपी द्वीपको आप अवश्य जायेंगे । ७ ।

स्वं लोकमित्थमभिवंद्य गतेषु तेषु देवोऽपवर्गपुरसाधननिर्गमंतं ॥

बंधून्निवेद्य जननीजनकौ पराश्रं प्राज्यं नियोज्य तनये विजये स्वराज्यं ॥८॥

स्वमित्यादि । इत्थं अनेन प्रकारेण इत्थं “कथमित्थमुः” इति साधुः । अभिवंद्य अभिवंदनं पूर्व० नुत्वा नत्वा च । स्वं स्वकीयं । लोकं ब्रह्मलोकं । तेषु लौकान्तिकेषु । गतेषु यातेषु । देवः स्वामी । तं । अपवर्गपुरसाधननिर्गमं अपवर्गमेव पुरं अपवर्गपुरं तस्य साधनं तथोक्तं अपवर्गपुरसाधनाय निर्गमः अपवर्गपुरसाधननिर्गमस्तं मोक्षपुरसाधनाय बहिर्याणं । बंधून् स्वजनान् । जननीजनकौ जननी च जनकश्च जननीजनकौ मातापितरौ । परांश्च अन्यांश्च अमात्यादीन् । च समुच्चयार्थः । निवेद्य निवेदनं पूर्व० ज्ञापयित्वा । विजये वजयाख्ये । तनये पुत्रे । प्राज्यं प्रचुरं । राज्यं । राज्ञो भावः कृत्यं वा राज्यं राज्यभारं । नियोज्य नियोजनं पूर्व० संस्थाप्य ॥ ८ ॥

भा० अ० - चन्द्रनापुरस्सर यों निवेदन कर लौकिकान्तिक देवों के अपने ब्रह्मलोक में जाने पर मुनिसुव्रत-नाथ ने मोक्षपुर-साधन के निमित्त प्रस्थान को अपने माता, पिता, बन्धुवर्गों तथा अन्यान्य अमात्यादिकों से कह विजयनामक पुत्र को सारा साम्राज्य का भार दे दिया । ८ ।

तीर्थांबुनाऽथ दिविजप्रभुणाभिषिक्तो दिव्यांगरागवसनाभरणैः प्रसिद्धः ॥

अग्नेभवां ग्रहविवर्त्तमिव स्फुरतीमध्यारोह शिबिकामपराजितारव्यां ॥ युग्मं ॥९

तीर्थांबुनेत्यादि । अथ राज्यनियोजनानन्तरं । दिविजप्रभुणा दिवि जायंत इति दिविजा-स्तेषां प्रभुर्दिविजप्रभुस्तेन । तीर्थांबुना तीर्थानामंबु तेन गंगादितीर्थोदकेन । अभिषिक्तः अभिषिच्यते स्म अभिषिक्तः स्नापितः । दिव्यांगरागवसनाभरणैः दिवि भवानि दिव्यानि अंग-स्य रागोऽगरागः अंगरागश्च वसनं च आभरणं च तथोक्तानि दिव्यानि च तान्यंगरागवसना-भरणानि च दिव्यांगरागवसनाभरणानि तैः स्वर्गभवानुलेपनवस्त्राभरणैः । प्रसिद्धः अलं-कृतः । “प्रसिद्धी रव्यातभूषितौ” इत्यमरः । ग्रहविवर्त्तमिव ग्रहाणां विवर्तः ग्रहविवर्तस्तं

नवरत्नखचितत्वान्नवग्रहरिणाममिव । स्फुरन्तीं स्फुरन्तीति स्फुरन्तीं तां विराजन्तीं । अग्रेभवां
अग्रे भवतीत्यग्रभवा तां पुरस्थितां । अपराजितारव्यां अपराजितेत्यारव्या यस्यास्सा अपराजि-
तारव्या तां अपराजितनामधेयां । शिविकां याप्ययानं । अध्याहरोह अध्यारोहतिस्म ।
रुह बीजजन्मनि लिट् ॥ ६ ॥

भा० अ० - इन्द्र के द्वारा गंगादितीर्थ जल से स्नान कराये जाकर तथा स्वर्गीय अंग
रंग और वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर मुनिसुव्रतनाथ रत्नखचित होने से देखीय-
मान अपराजिता नाम की पालकी पर आरूढ़ हुए । ६ ।

भूमिभृतामभृत सप्तपदानि भूमौ विद्याधृतां वियति सप्तपदानि वृदं ॥

आरब्धपांडुवनमप्यृतुभिः प्रपन्नैरानिन्यिरे तदनु नीलवनं निलिपाः ॥ १० ॥

भूमिभृतामित्यादि । भूमौ अवतौ । भूमिभृतां भूमिं बिभ्रतीति भूमिभृत-
स्तेषां राज्ञां । वृदं समूहः । सप्तपदानि सप्त च तानि पदानि च सप्तपदानि सप्तपर्यंतं ।
अभृत अभृत । वियति आकाशे । विद्याधृतां विद्यां धरन्तीति विद्याधृतस्तेषां ।
वृदं । सप्तपदानि अभृत भृत् भरणे लुङ् । तदनु पश्चात् । निलिपाः देवाः । “निलिपाः स्व-
र्गिणस्सैन्द्रौ” इत्यभिधानात् । प्रपन्नैः प्रपद्यन्तेस्म प्रपन्नास्तेः । ऋतुभिः वर्मणादिषड्भुभिः ।
आरब्धपांडुवनमपि वनशब्दोऽत्रपुष्पवाचकः तदाह विष्णुपर्यायव्युत्पत्तौ सुभूतिचंद्रोमर-
सिंहटीकाकारो वनमालीति पुष्पमाला तद्योगाद्वनमालीति । आरभ्यतेस्मारव्यानि पांडूनि च
तानि वनानि च तथोक्तानि आरब्धानि पांडुवनानि यस्य तत्तथोक्तं प्रारब्धशुभ्रकुसुमयुषतं
ऋतुभिरारब्धस्मितकुसुमस्यास्य नोलकुसुमवत्त्वं विरुद्धिमित्यपिशब्दार्थः । नोलवनं नीलं
च तत् वनं च नीलमिति वनं वा नीलवनं नीलानि वनानि यस्य तन्नीलवनं नीलपुष्पोपेतं
चेतिविरोधः नास्ति नोलोद्यानं । आनिन्यिरे प्रापयःमासुः । णीञ् प्रापणे । शिविकामिति
सर्वत्राध्याहारः ॥ १० ॥

भा० अ० - पृथ्वी पर राजाओं ने उस पालकी को मात डेग, विद्याधरों ने आकाश
में सात पग तथा देवताओं ने प्रशस्य वसन्तादि छः ऋतुओं से समाकुल और समुज्ज्वल
पुष्पवाले नीलनामक उद्यान तक ढाया । १० ।

रेजे नभस्थलविगजिविमानराजिरश्मिप्रतानवितताप्रविभागमेतत् ॥

अत्तुं फलप्रकरमापतनः पतंगानानायविस्तृतमिवोपरि निग्रहीतुं ॥ ११ ॥

रेजे इत्यादि । नभस्थलविराजिविमानराजिरश्मिप्रतानवितताप्रविभागं नभसः स्थलं
नभस्थलं विराजन्तीत्येवं शीलाः विराजिनस्ते च ते विमानाश्च विराजिविमानाः तेषां राजिः

नभस्त्रले विराजि विमानराजिस्तथोक्ता तस्याः रश्मयः रश्मीनां प्रतानं नभस्त्रलविराजि-
विमानराजिरश्मिप्रतानन्तेन विततः अप्रस्य भागोऽप्रस्योगः नभस्त्रलविराजि विमानराजि-
रश्मिप्रतानविततोऽप्रस्योगो यस्य तत् तथोक्तं । एतत् नीलवनं । फलप्रकरं फलानां
प्रकरस्तथोक्तस्तं फलसमूहं । अत्तुं भद्रताय तथोक्तं भक्षणाय । आपततः आपतं-
तीत्यापतंतः तान् आगच्छतः । पतंगान् विहगान् । “पतंगौ पक्षिसूर्यौ च” इत्यमरः ।
निग्रहीतुं निग्रहणाय निग्रहीतुं आक्रष्टुं । उपरि अग्रे । आनायविस्तृतमिव आनायेन विस्तृतं
तथोक्तं जालप्रच्छादितमिव । रेजे बन्तौ । राजृ दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ ११ ॥

भा० अ०—आकाश में विराजमान विमान-पक्षियों के दीप्तिपुंज ने प्रतिफलित
शिखर वाला यह नीलवन फल-समूह को खाने के लिये आने वाले पक्षियों को बहाने
के लिये फैलाये गये जाल के समान मालूम होता था । ११ ।

रेजे बहिर्घटितरत्नविमानमेतदन्तश्चरामरि गलन्मकरंदधारं ॥

सैद्रायुधं सचपलं च सवारिधारमभ्रच्युतं मिथ इवाहनमभ्रजालं ॥ युग्मं ॥ १२ ॥

रेजे इत्यादि । बहिर्घटितरत्नविमानं बहिः बाह्ये घट्यते स्म घटितः रत्नैर्निर्मिताः
विमानास्तथोक्ताः घटितो रत्नविमानो यस्य तत् । अंतश्चरामरि अंतश्चरतीत्यंतश्चराः
अंतश्चरा भ्रमर्यो यस्य तत् मध्ये विचरदमरस्त्रीसहितं । गलन्मकरंदधारं मकरंदस्य धारा
तथोक्ता गलती मकरंदधारा यस्मिन् तत् स्रवत्पुष्परसप्रवाहसहितं । एतत् वनं । सैद्रायुधं
इंद्रायुधेन सह वर्तत इति तथोक्तं सुरचापसहितं । सचपलं चपलया सह वर्तत इति
तथोक्तं विद्युत्सहितं । “तडित्सौदामिनी विद्युश्च चपला अपि” इत्यमरः । च समुच्चयार्थः ।
सवारिधारं वारिणां धारा तथोक्ता वारिधारया सह वर्तत इति तथोक्तं वृष्टिसं-
पातसहितं । मिथः अन्योन्यं । आहतं संवृष्टं । अभ्रच्युतं अभ्राच्च्युतं तथोक्तं आकाशा-
त्पतितं । अभ्रजालं अभ्राणां जालं तथोक्तं मेघसमूह इव । “अभ्रं नभःस्वर्गबलाहकेषु” इति
विश्वः । रेजे चकाशे । रत्नविमानयुक्तत्वात्सुरचापसहितं अंतश्चरामरीयुक्तत्वाद्धियुत्स-
हितं पुष्परसयुक्तत्वाद् वृष्टिसंपातसहितं कृष्णवर्णत्वाद्नस्य मेघजालत्वं । उत्प्रेक्षा ॥ १२ ॥

भा० अ०—बाहर रत्नजडित विमानवाला, जिसके भीतर देवांगनायें विचरण कर-
रही हैं और जहां मकरन्द-धारा प्रवाहित हो रही है ऐसा यह वन इन्द्रचाप-सहित विद्यु-
लता-मण्डित तथा वारि-धारा-युक्त परस्पर संघर्षित मेघ-समूह के समान सोमने
लगा । १२ ।

यानादथायमवतीर्थं वनस्य मध्ये श्रीदेन दिव्यपटमंडपिकां प्रकलृप्तां ॥

आविश्य देवपतिदत्तकरावलंबः श्रीदिव्यमौक्तिकचतुष्कमलंचकार ॥ १३ ॥

यानादित्यादि । अथ गमनानंतरं । देवपतिदत्तकरावलंबः देवानां पतिर्देवपतिः करस्यावलंबः करावलंबः देवपतिना दत्ततथोक्तः देवपतिदत्तः करावलंबो यस्य सः । अयं एषः मुनिसुव्रतस्वामी । यानात् शिबिकायास्सकाशात् । अवतीर्थं अवतरणं कृत्वा । वनस्य नीलवनस्य । मध्ये अंतःप्रदेशे । श्रीदेन श्रियं ददातीति श्रीदः तेन कुबेरेण । “श्रीदः पुण्यजनेश्वरः” इत्यमरः । प्रकलृप्तां निर्मितां । दिव्यपटमंडपिकां पटस्य मंडपिका दिवि भवा दिव्या सा चासीत् पटमंडपिका च तथोक्ता तां मनोहरदूष्यां । आविश्य प्रविश्य । श्रीदु-ग्धमौक्तिकचतुष्कं मौक्तिकस्य चतुष्कं श्रिया दृश्यं तच्च तत् मौक्तिकचतुष्कं च तथोक्तं श्रीदेवीविरचितमौक्तिकरंगावलं । अलंचकार अलंकरातिस्म अश्वयमदित्यर्थः । दुकृञ् करणे लिट् ॥ १३ ॥

जाने के बाद, मुनिसुव्रत नाथ ने विमान से उतर कर वन के बीच में कुबेर से रचित चक्रमण्डप में इंद्र का हाथ पकड़ कर प्रवेश कर लक्ष्मीजी से निर्मित मणिमय वेदी को विभूषित किया ॥ १३ ॥

षष्ठोपवासनियमी सुरदिङ्मुखस्थः पत्यंकवान्परिहृतांबरमाल्यवेषः ॥

त्यक्ताखिलोपधिर्नृपेत्सहस्रभृद्दुःखार्थमाणवरसिद्धनमस्कृतिश्च ॥ १४ ॥

षष्ठेत्यादि । षष्ठोपवासनियमी षण्णां पूरणः षष्ठः स चासाद्युपवासश्च षष्ठोपवासः नियमोऽस्यास्तीति नियमी षष्ठोपवास इति नियमी तथोक्तः उपवासद्वयनियमी । त्रिंशद्बुधटिकानामेक उपवास इत्यागमपरिसंभाषाश्रयणात् । सुरदिङ्मुखस्थः सुरस्य दिक् सुरदिक् सुरदिशि मुखं सुरदिग्मुखं तस्मिन् तिष्ठतीति तथोक्तः पूर्वामिमुखः । पत्यं-कवान् पत्यंकोऽस्यास्तीति पत्यंकवान् पद्मासनः । परिहृतांबरमाल्यवेषः परिहृत्यतेस्म परिहृताः अंबरं च माल्यं च वेपश्च अंबरमाल्यवेपाः परिहृता अंबरमाल्यवेपा येन सः तथोक्तः परित्यक्तवस्त्रमालाभरणः । “आकल्पे मंडनं वेपःप्रतिकर्मप्रसाधनम्” इति हलायुधः । त्यक्ताखि-लोपधिः अखिलाश्च ते उपधयश्च अखिलोपधयः त्यज्यतेस्म त्यक्ताः त्यक्ताऽखिलोपधयो येन सः विसृष्टबाह्याभ्यंतरपरिग्रहः । उपेतसहस्रभृद्भूत् सहस्रं भृद्भूतः सहस्रभृद्भूतः उपयतिस्म उपेताः सहस्रभृद्भूता येन सः तथोक्तः । उच्चार्यमाणवरसिद्धनमस्कृतिश्च उच्चार्यते इति उच्चार्यमाणा वराश्च ते सिद्धाश्च वरसिद्धाः नमस्कारणं नमस्कृतिः वरसिद्धानां नम-

स्कृतिस्तथोक्ता उच्चार्यमाणा वरसिद्धनमस्कृतिः येन सः तथोक्तः “नमःसिद्धेभ्यः” इति प्रोच्चार्यमाणसिद्धनमस्कारश्च । च शब्द उत्तरनिरोधणसमुच्चयार्थः ॥ १४ ॥

भा० अ० - छठवें उपवास का नियम करने वाले, ब्रह्ममाला आदि का त्याग किये हुए, अन्तरंग तथा बहिर्ग परिग्रह को छोड़े हुए और हजारों राजाओं से युक्त ॐ नमः सिद्धेभ्यः इस सर्वोत्कृष्ट नमस्कार मंत्र का उच्चारण करते हुए श्रीमुनिसुव्रत स्वामी ने पूर्वाभिमुख हो पद्मासन लगाये हुए । १४ ।

उत्खाय पंचभिरुदंचितमुष्टिबन्धैः कैश्यं च पंच भवमूलचयं यथैव ॥

वैशाखकृष्णदशमीदिवसेऽपराह्णे दीक्षामुपादित युतश्रवणे सितांशौ ॥ १५ ॥

उत्खायेत्यादि । सः मुनिसुव्रतस्वामी । सितांशौ सिता अंशवो यस्य सः सितांशुस्तस्मिन् चंद्रे । युतश्रवणे युताः श्रवणा येन सः युतश्रवणस्तस्मिन् श्रवणनक्षत्रसहिते । वैशाखकृष्णदशमीदिवसे वैशाखपूर्णिमास्यास्तीति वैशाखः “साऽस्यपौर्णमासी” इत्यण् वैशाखस्य कृष्णः दशानां पूरणा दशमी “नेामष्ट टित्वान् टिट्ठैत्रित्यादिना” डी दशमीदिवसे तथोक्तः वैशाखकृष्णस्य दशमीदिवसस्तस्मिन् वैशाखमासकृष्णपक्षस्य दशम्यां तिथौ । अपराह्णे अह्नः अपरः अपराहस्तस्मिन् “संलपव्ययसर्वाणात्तत्” इत्यतश्चोमे ह्यदेशश्च सायाह् । पंचभिः । उदंचितामुष्टिबन्धैः उदंचन्ते स्म उदंचिताः मुष्टिबन्धाः मुष्टिबन्धाः उदंचितास्तु ते मुष्टिबन्धाश्च उदंचितमुष्टिबन्धैः उन्नीतमुष्टिबन्धैः । पंचभवमूलचयं पंच चतुर्भवाश्च पंचभव्यास्तेषां मूलानि तेषां चयस्तं पंचकंसारममूर्त्तसमूहं । यथैव । कैश्यं केशानां समूहो केश्यं पुनस्तत् “केशादेः” इति ण्यः । उत्खाय उत्खननं पूर्वं ० उद्धूय । दीक्षां नैर्प्रन्थ्यं । उपादित उपाधत्त । डु दाञ् दाने लुङ् ॥ १५ ॥

भा० अ० - द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भाव-रूप पंच संसार-मूल-समूह केशों का पंचमुष्टियों से लोञ्चकरके वैशाख कृष्णदशमी के चन्द्रयुत श्रवण में अपराह्न समय में दीक्षा ग्रहण की । १५ ।

लोकत्रयैकगुरुरेव पुरैव पूर्णाचारिवशीलगुणसंयमभाग्वाही ॥

प्राप्ताखिलैरिहिरुपजातचतुर्थबोधिरत्यंतगौरवपदं पुनरासदेव ॥ १६ ॥

लोकत्रयेत्यादि । पुरैव पूर्वमेव । लोकत्रयैकगुरुः लोकानां त्रयं लोकत्रयं गुरुरा-
राध्यो दुर्भरश्च । “गुरुस्तु निष्पत्तौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे” इत्यभिधानात्, एकधास्तौ गुरुश्च
एकगुरुः लोकत्रयस्यैकगुरुस्तथोक्तः त्रिभुवनमुख्यगुरुः । एषः अयं स्वामी । पूर्णाचारि-
ह्येकगुणसंयमभाग्वाही चारित्रं च शीलं च गुणश्च संयमश्च चारित्रशीलगुणसंयमाः

पूर्यन्ते स्म पूर्णास्ते च ते चारित्रशीलगुणसंयमाश्च तथोक्ताः यद्वा पूर्णञ्च तच्चारित्रं चेति प्रोक्तस्तथैव भारस्तथोक्तः पूर्णचारित्रशीलगुणसंयमभारं वहतीत्येवं शीलस्तथोक्तः पूर्णचारित्रं सकलचारित्रं व्रतपरिरक्षणलक्षणं शीलं सम्यक् वादिलक्षणो गुणः इन्द्रियप्राणिद्विभेदस्संयमः एत एव भारस्तस्य वाही । प्राप्ताखिलर्द्धिः प्राप्यन्ते स्म प्राप्ताः अखिलाश्च ताः ऋद्धयश्च अखिलर्द्धयः प्राप्ता अखिलर्द्धयो येन सः तथोक्तः प्राप्तबुद्ध्यादिसप्तर्द्धियुतः । उपजातचतुर्थबोधिः चतुर्णां पूरणश्चतुर्थः स चासौ बोधिश्च चतुर्थबोधिः उपजातश्चतुर्थबोधिर्यस्य सः तथोक्तः उत्पन्नमनःपर्ययज्ञानः । पुनः । अत्यंतगौरवपदं गुरोर्भात्रो गौरवं तच्च तत् पदं च गौरवपदं अत्यंतगौरवपदं तथोक्तं पुनस्तत् अधिकगुरुत्वस्थानं । आसदेव आगमदेव । षड्लु विशरणगत्यवसादनेषु लुङ् “सदित्यादिना” णदित्वादङ् ॥ १६ ॥

भा० अ० — यह स्वामी त्रिभुवन के मुख्य गुरु पहले थे ही अब फिर पूर्ण चारित्र, शील गुण तथा संयम के धारक सारी ऋद्धियों को प्राप्त कर मनःपर्यय ज्ञान-पूर्वक गौरव पद पर आरूढ़ हुए । १६ ।

रेजेतरां दशशतैः श्रवणैरुपेता नेत्रैरिवामरपतिः किरणैरिवार्कः ॥

पत्रैरिवांबुजमरैरिव चक्ररत्नं शेषः फणैरिव निधानमिवैष यज्ञैः ॥१७॥

रेज इत्यादि । दशशतैः दश चारान् शतं दशशतास्तैः सहस्रमिनैः । श्रवणैः मुनिभिः । उपेतः उपैतिस्म तथोक्तः सहितः । एष अयं स्वामी । अमरपतिः अमराणां पतिस्तथोक्तः द्वेन्द्रैः । नेत्रैरिव सहस्रनयनैरिव । अर्कः सूर्यः । किरणैरिव सहस्रकान्तिभिरिव । अंबुजं कमलं पत्रैरिव सहस्रदलैरिव । चक्ररत्नं चक्रं च तत् रत्नं च चक्ररत्नं । अरैरिव सहस्रधाराभिरिव । शेषः धरणीन्द्रः । फणैरिव सहस्रकृणाभिरिव । “स्फुटायां लु फणाद्वयोः” इत्यमरः । निधानं निधिः यक्षैरिव सहस्रयक्षदेवैरिव । रेजे बभौ राजु दीप्तौ लिट् ॥ १७ ॥

भा० अ० — हजारों मुनियों से युक्त यह मुनिसुव्रत स्वामी सहस्र नयनों से इन्द्र के समान सहस्र किरणों से सूर्य के समान सहस्र फणों से शयनाग के समान और सहस्र यक्षों से निधि के समान सोभने लगे । १७ ।

यस्माद्भव लवनं नियमेन तस्मिन्नेः पुष्पधन्वुनतः पुरतो जिनेन ॥

तस्मात्तदादि किल नीलवनाभिधानं तस्याभवत्त्रिभुवनप्रथितं वनस्य । १८ ।

यस्मादित्यादि । यस्मात्कारणात् । तस्मिन् वने । जिनेन जिनेश्वरेण । एः मन्मथस्य “हृकार उच्यते कामो लक्ष्मीरीकार उच्यते” इत्येकाक्षरनिघंटौ । नियमेन नियन्त्रयेन । लवनं माशनं । बभूव भवतिस्म भु सप्तायां लिट् । तस्मात्कारणात् । तदादि तदादि यस्मिन् कर्मणि

तत्ततः प्रभृतिः । पुरतः अग्रे । पुष्पधन्वधुनतः पुष्पमेव धन्वा यस्यासौ पुष्पधन्वा तं धुना-
तीति पुष्पधन्वधुनत् तस्य मन्मथनाशकस्य । “धनुश्चापौ धन्वशरासनकोदंडकार्मुकम्” इत्यमरः ।
तस्य नीलवनस्य । नीलवनाभिधानं नीलवनमित्यभिधानं नीलवनमितिनामधेयं विनि-
यमेन परमन्मथस्य लवनं छेदनं यस्मिन् तत् नीलवनमिति व्युत्पत्तेः । त्रिभुवनप्रथितं त्रिभुवनस्य
प्रथितं तथोक्तं लोकात्रयप्रतीतं । अमवत्किल अभूत्किल । भू सत्तायां लङ् ॥१८॥

भा० अ०—इस वन में जिनेश्वर भगवान के द्वारा कामदेव का नाश हुआ है क्योंकि
'नी' का अर्थ काम तथा 'ली' का लय होना है । काम का नाश जिस वन में हुआ इसी
कारण से इस कामदेव-नाशक वनका नाम जगत्प्रसिद्ध नीली वन पड़ा । १८ ।

पश्चाज्जिनालकभरं मणिभाजनस्थं रक्तोत्पलस्थमिव भृंगकदंबमिद्रः ॥

चिक्षेप दुग्धजलधौ जयघोषघूर्णद्वंभाप्रणादबधिरीकृतसर्वलोकात् ॥१९॥

पश्चादित्यादि । पश्चात् पुनः । इंद्रः देवराजः । रक्तोत्पलस्थं रक्तं च तत् उत्पलं
च रक्तोत्पलं तस्मिन् तिष्ठतीति रक्तोत्पलस्थं धरुणारविंदस्थं । भृंगकदंबं
भृंगाणां कदंबं तथोक्तं भ्रमगवृंदमिव । मणिभाजनस्थं मणिभिर्निर्मितं भाजनं तस्मिन्
तिष्ठतीति तथोक्तं रत्नमयपात्रस्थं । जिनालकभरं जिनस्वालका जिनालकास्तेषां
भरस्तं जिनेश्वरकुंतलनिचयं । जयघोषघूर्णद्वंभाप्रणादबधिरीकृतसर्वलोकात् जय इति
घोषः जयघोषस्तेन घूर्णन्तः जयघोषघूर्णन्तः वंभानां शंखानां प्रणादाः वंभप्रणादाः
जयघोषघूर्णतश्च ते वंभाप्रणादाश्च तथोक्ताः सर्वं च तं लोकाश्च सर्वलोकाः प्रागबधिराः
इदानीं बधिराः कियंत इति बधिरीकृताः जयघोषघूर्णद्वंभाप्रणादैः बधिरीकृताः सर्वलोकाः
यस्मिन्कर्मणि तत् तथोक्तं जयघोषेण प्रवर्धमानं शंखध्वनिभिः बधिरीकृतसकलभुवनं यथा
भवति तथा । दुग्धजलधौ दुग्धानां जलधिस्तथोक्तस्तस्मिन् क्षीरसमुद्रे । चिक्षेप निक्षेप ।
क्षिप प्रेरणे लिट् उत्प्रेक्षा ॥ १९ ॥

भा० अ०—इन्द्र ने रक्त कमल पर बैठे हुए भ्रमर-समूह के समान दीखता हुआ
मुनिमुव्रत स्वामी का मणिमय पात्रस्थ बाल जयघोष से परिवर्द्धित शंखध्वनि के द्वारा-
सारे संसार को बधिर बनाते हुए दुग्ध-समुद्र में परिष्ठावित किया । १९ ।

यो यत्र यत्र जिनकुंतलकर्बुरोऽभृशौवालमंजरितवत्स हि तत्र तत्र ॥

क्षीरांबुधिस्त्रिदशलोकमनांसि कर्षन्त्रातावघूर्णितघनावृतवह्वभासे ॥२०॥

यः इत्यादि । यः समुद्रः । यत्र यत्र यस्मिन् यत्र प्रदेशे । “वीप्सायाम्” इति द्विः । शोवाल-
मंजरितवत् शोवालेन मंजरित इष तथोक्तः शोवालेन स्तम्भकित इव । जिनकुंतलकबुरः

जिनस्य कुंतलास्तेः कर्धुरस्तथोकः जिनेश्वरालकमिध्रः । अभूत् भजनिष्ट । भू सत्तायां लुङ् । तत्र तत्र प्रदेशे । सः क्षीगंबुधिः क्षोरसमृद्धः । त्रिदशलोकमनांसि त्रिदशाश्च ते लोकाश्च त्रिदशलोकाः तेषां मनांसि तथोक्तानि देवानां चित्तानि । हि स्फुटं । कर्षन् कर्षतीति कर्षन् स्वीकुर्वन् । वातावधूर्णितघनावृतवत् वातेन अवधूर्णितो वाता-वधूर्णितः स चासी घनश्च तथोकः वातावधूर्णितघनेनावृतः तथोक्तस्त इव तथोक्तः घायुना चलितमेघेनावृत इव । बभासे बभौ । भासृङ् दीप्तौ लिट् । घना जलादानाय समुद्रमाश्रयतीति प्रसिद्धिरुत्प्रेक्ष्यते ॥ २० ॥

भा० अ०-- जो समुद्र जहां जहां शैवाल-मंजरी के समान जिन-कुगुल-मिश्रित हुआ वहाँ वहाँ वह क्षोर-समुद्र देवताओं के चित्त को आकर्षित करता हुआ वायु-संचालित मेघ के ऐसा समुद्रमामित होने लगा । २० ।

तं पारणां वृषभसेन इति प्रतीतो राजाऽथ राजगृहनामनि राजधान्याम् ॥

श्रद्धादिसप्तगुणवान्नवभेदभिन्नैः पुण्यैरकारयदुपस्थितपूर्वपुण्यः ॥ २१ ॥

तमित्यादि । अथ दीक्षोपासनान्तरे । राजगृहनामनि राजगृह इति नाम यस्यास्मा तथोक्ता तस्यां । राजधान्यां प्रधाननगरे । वृषभसेन इति नाम्नेतिशेषः । प्रतीतः प्रसिद्धः । “प्रतीते प्रथितव्याद्विचित्त्रिज्ञानविश्रुताः” इत्यमरः । राजा भूपतिः । उपस्थितपूर्वपुण्यः पूर्वस्मिन् जन्मन्युपार्जितं पुण्यं उपस्थितं पूर्वपुण्यं यस्य सः फलदानपरिणतपूर्व-सुकृतः । श्रद्धादिसप्तगुणवान् श्रद्धा आदिर्योगं ते तथोक्ताः श्रद्धादिसप्तगुणास्संत्यस्येति तथोक्तः श्रद्धादिसप्तगुणयुक्तः । नवभेदभिन्नैः नव च ते भेदाश्च नवभेदास्तेभिन्नानि तैः नव-प्रकारभिन्नैः । पुण्यैः । तं जिनेश्वरं । पारणां । अकारयत् व्यधापयत् । डुकृञ् करणे णिञांता-लुङ् । “श्रद्धा शक्तिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता दया क्षातिः । यस्यैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसति । स्थापनमुच्चैःस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामश्च । वाक्कायहृदयशुद्धिरेषणशुद्धिश्च नवविधं पुण्यं” ॥ २१ ॥

भा० अ०— दीक्षा के बाद राजगृह नामक राजधानी के प्रसिद्ध वृषभसेन नामक राजा ने पूर्वोपार्जित पुण्यवान् होकर श्रद्धादि सप्त गुणों से युक्त नवधाम्नि के द्वारा मुनिसुव्रत स्वामी को पारण कराया । २१ ।

आश्रयपंचकमभृदथरत्नवृष्टिगच्छादितांबरतला च लतांतवृष्टिः ।

व्यासश्रुतीविबुधदुंदुभिनिस्वनाहोदानस्वनौ सुरभिशीतलमंदवायुः ॥ २२ ॥

भाश्चर्येत्यादि । अथ पारणान्तरे । रत्नवृष्टिः रत्नानां वृष्टिस्तथोक्ता । आच्छादितां-बरतला अंबरस्य तलमंबरतलं आच्छादितमंबरतलं यथा सा तथोक्ता पिहितकाश-

प्रदेशा । लतांतवृष्टिः लतांतानां वृष्टिस्तथोक्ता पुष्पवृष्टिः । “पुष्पं सुमनसः फुल्लं लतांतं प्रसधो-
द्रमम्” इति धनंजयः । व्यासश्रुती व्यासाः श्र तयो याभ्यां तौ तथोक्तौ व्यासजगज्जनश्रोत्रौ ।
विषुधदुंदुभिनिस्वनाहोदानस्वनौ दुंदुमीनां निस्वनः दुंदुभिनिस्वनः अहोदानमितिस्वनः
अहोदानस्वनः दुंदुभिनिस्वनश्च अहोदानस्वनश्च दुंदुभिनिस्वनाहोदानस्वनौ विषुधानां
दुंदुभिनिःस्वनाहोदानस्वनौ तथोक्तौ देवदुंदुभिध्वनिः आश्चर्यरूपं दानमिति उपलक्षणाद-
द्भुतरूपपात्रमित्यादि प्रशंसाध्वनिः । सुरमिशीतलमंदवायुः मन्वश्चासौ वायुश्च मन्ववायुः शी
तलश्चासौ मंदवायुश्च तथोक्तौ सुरमिश्चासौ शीतलमंदवायुश्चेति पुनः कसः ।
शैत्यसौरभ्यमांघगुणसहितमारुतः । इत्याश्चर्यपंचकं आश्चर्याणां पंचकं तथोक्तं अभूत्
अभवत् भू सत्तायां लुङ् ॥२२॥

भा० अ० — पारण के अनन्तर रत्नवृष्टि, आकाश को आच्छन्न करने वाली पुष्पवृष्टि
चारो तरफ गूँजने वाली देवदुन्दुभि ध्वनि “ हा कैसा दान है ” ऐसी आश्चर्य सूचक
ध्वनि तथा शीतल मन्द सुगन्ध वायु का प्रवाहित होना ये पाँच आश्चर्य-मयी घटनाये
हुई । २२ ।

मुनिपरिवृढो निर्वर्त्यैवं तनुस्थितिमुत्तमां मृदुमधुरया वाचाशास्यं विधाय यथोचितं ।
मुनिसमुद्रयैर्गन्निव्रतैश्च पौरनृणांमनुव्रजितचरमः पुरायारण्यं गजेन्द्रगतिर्ययौ २३

मुनीत्यादि । मुनिपरिवृढः मुनीनां परिवृढस्तथोक्तः मुनिनाथः “प्रभुःपरिवृढोऽ
धिपः” इत्यमरः । उत्तमाम् योग्यां । तनुस्थितिं तनोः स्थितिस्तनुस्थितिः तं कायस्थितिं ।
उपचरितत्वादाहारमित्यर्थः । एवं इति । निर्वर्त्य निर्वर्तनं पूर्वं कृत्वा । मृदुमधुरया
मृद्वी चासौ मधुरा च मृदुमधुरा तथा मृदुमनोहररूपया । वाचा वचनेन । यथोचितं उचित-
मनतिक्रम्य यथोचितं यथायोग्यं । आशास्यं आशास्तु योग्यं आशास्यं आशीर्वादं ।
विधाय कृत्वा । मुनिसमुद्रयैः मुनीनां समुद्रयास्तथोक्तास्ते । मुनिसमूहैः । पौरनृणां
पुरे भवाः पौराः पौराश्च ते नरश्च पौरनरास्तेषां पुरजनानां । अक्षिव्रतैः अक्षणां व्राना
अक्षिव्रतास्तेः । अनुव्रजितचरमः अनुव्रज्यतेऽस्म अनुव्रजितः अनुव्रजितश्चरमो यस्य सः
अनुयातपश्चाद्भागः । गजेन्द्रगतिः गजानां इंद्रस्तथोक्तः गजेन्द्रस्येव गतिर्यस्य सः मंद-
गमन इत्यर्थः । पुण्यारण्यं पुण्यं च तत् अरण्यं च पुण्यारण्यं तरोनिलयत्वात्पवित्रं
नीलवनं । ययौ जगाम । यां प्रापणे लिट् ॥ २३ ॥

भा० अ० मुनिसुवतस्वामी ने यों अपनी शरीर-स्थिति के हेतु उत्कृष्ट आहार सम्पन्न
कर तथा सुमधुरवाणी से यथोचित आशीर्वाद देकर मुनिगण और पुरवासियों के नेत्र-
समूह से अनुगत होते हुए गजेन्द्र गति से तपोवन का प्रस्थान किया । २३ ।

इत्यर्हद्वासकृतेः काव्यरत्नस्य टीकायां सुखबोधिन्यां भगवत्परिनिष्क्रमणवर्णनो
नामाष्टमः सर्गः

इति अष्टमः सर्गः समाप्तः ।



॥ अथ नवमः सर्गः ॥

आलोक्य देवमथापटितपंचबाणां प्रायेण नश्यति सधौ मधुरास्त्रबंधौ ॥

वेलामुपेत्य किल विस्फुरितप्रतापः मघोऽग्रहीदधिपदं विपिनं निदाघः । १ ।

आलोकेत्यादि । अथ अनंतरे । पाटितपंचबाणां पंच बाणा यस्य सः पंचबाणः
पाठ्यते स्म पाटितः पाटितः पंचबाणो येन सः तथोक्तं विनाशितमन्मथं । देवं अर्हन्ना-
थं । आलोक्य वीक्ष्य । मधुरास्त्रबंधौ मधुरमस्त्रं यस्य सः मधुरास्त्रः इक्षुचाप इत्यर्थः
“रसवत्स्वादनप्रियभेदशतपुष्पेषु मधुरम्” इति नानार्थरत्नकोशे मधुरास्त्रस्य बंधुस्तथोक्त-
स्तस्मिन् मन्मथराजमित्रे । “मर्धो वसति । श्लोश्शौद्रमवरकमद्यदैत्यचैत्रवसंतेषु मधुरः” इति
नानार्थरत्नकोशे । प्रायेण प्राचुर्येण । “प्रायोभूर्म्यंतगमनम्” इत्यभिधानात् नादय्ययोर्दंतः
शब्दः । नश्यति नश्यतीति नश्यन् तस्मिन् पलायमाने सति । विस्फुरितप्रतापः
विस्फुरति स्म विस्फुरितः स च प्रतापः यस्य सः तथोक्तः प्रवृद्धातपयुक्तः प्रकृष्टनेजा वा ।
निदाघः प्रोष्मकालः । वेलं समयं । उपेत्य उपयन् पूर्व० प्राप्य । अरिपदं अरेः पदं तथोक्तं
शत्रुस्थानं । प्राग्वसंताश्रितमिति यावत् । विपिनं काननं । सद्यः तस्मिन् सद्यः तत्क्षणे ।
अग्रहीत्किल उपायात्किल अग्री उपादाने लुङ् ॥ १ ॥

भा० अ०—कामनाशक श्री अर्हद्देव को देखकर कामदेव के अन्तरंग मित्र वसंत के
नौ दो ग्यारह होने पर प्रवृत्तेजस्वी ब्राह्म ऋतु समय पाकर शीघ्र उस वन में आ पहुँची । १।

वाताश्रववेगजरजःपिहिताभ्रभागमागत्य सर्वमपहाय मघोर्द्रुतस्य ॥

श्रीधमस्तुतोद् पिकभृंगबलान्यधाज्जीत केलीवनानि रुजतिस्म च पुगडरीकम् । २ ।

वातेत्यादि । ग्रीष्मः निदाघः । वाताश्ववेगजरजःपिहितान्नभागं वातश्च अश्वाश्च वाताश्वस्तेषां वेगो वानाश्ववेगस्तस्माज्जायतेस्म वाताश्ववेगजं तच्च तत् रजश्च वाताश्ववेगजरजः तेन पिहितस्तथोक्तः अभस्य भागोऽभूभागः वाताश्ववेगजरजसा पिहिताभूभागो यस्मिन् कर्मणि तत् वातवेगोत्थवाजिवेगजनितधूल्याच्छादितगगनप्रदेशं यथा तथा । आगत्य पत्य । सर्वं सकलं । अपहाय अपहानं पूर्व० परित्यज्य । द्रुतस्य द्रवतिस्म द्रुतस्तस्य विनष्टस्य । “विलीनशीघ्रविद्राघणेषु द्रुतं” इति नानार्थरत्नकोशे । मधोः वसंतस्य । पिकभृंगबलानि पिकाश्च भृंगाश्च पिकभृंगास्त एव बलानि तथोक्तानि कोकिलभ्रमरसैन्यानि । तुतोद् व्यथयतिस्म । तुदि व्यथने लिट् । केलिचनानि केल्या वनानि तथोक्तानि क्रीडावनानि । अधाक्षोत् ददतिस्म दह भस्मीकरणे लुङ् । पुण्डरीकं सितांबुजं श्वेतच्छत्रं च “पुण्डरीकं सितांबोजमथ रक्तसरोरुहे” इत्यमरः । रजतिस्म भभंज रजो भंगे “स्मे च लट्” इति भूतेऽर्थे स्मयोगाल्लट् ॥ २ ॥

भा० अ०—इस ग्रीष्म ऋतु ने और सर्षो के हवा तथा घोड़ों के वेग से उड़ी हुई धूलि से आम्रवन के अप्रभागों को अच्छादित करने हुई आकर नष्ट हुए वसन्त की कायल भ्रमर तथा वनरूपिणी सेना को पण्डित किया, क्रीडावन को जलाया तथा कमलों को भी ताड़ मरोड़ दिया । २ ।

तद्भाविदुःखमिव वीक्षितुमक्षमत्वात् क्षिप्रं मधो व्रजति तीव्रनिदाघयोगात् ॥

संतप्यमानमखिलं तरुवह्निजातं तापज्वरीव ददृशे मधुविप्रयोगात् ॥३॥

तदित्यादि । तद्भाविदुःखं भविष्यतीति भावि भाघि च तत् दुःखं च भाविदुःखं तस्य भाविदुःखं तथोक्तम् भाविष्यद्दुःखं । वीक्षितुं वीक्षणाय वीक्षितुं द्रष्टुं । अक्षमत्वादिव अक्षमस्य भावोऽक्षमत्वं तस्मात् असमर्थत्वादिव । मधो वसंतं । क्षिप्रं शीघ्रं । व्रजति सति व्रजतीति व्रजन् तस्मिन् गच्छति सति । तीव्रनिदाघयोगात् तीव्रश्चासौ निदाघश्च तीव्रनिदाघस्तस्य योगस्तीव्रनिदाघयोगस्तस्मात् निष्ठुरग्रीष्मसंबंधात् । संतप्यमानं । अखिलं समस्तं । तरुवह्निजातं तरुश्च वल्लयश्च तद्वल्लयस्तासां जातं वृक्षलतावृद्धं “जात्योद्यजन्मधु जातम्” इति नानार्थरत्नकोशे । मधुविप्रयोगात् मधोर्विप्रयोगस्तथोक्तस्तस्मात् वसंतवियोगात् । तापज्वरीव तापेन युक्तो ज्वरस्तापज्वरः सोऽस्याऽस्तीति तथोक्तः स इति वा । ददृशे दृश्यतेस्म दृष्ट प्रेक्षणे कर्मणि लिट् ॥ ३ ॥

भा० अ०—प्रचण्ड ग्रीष्म के योग से भावी दुःख को देखने में असमर्थ होने के कारण वसन्त के भट घले जाने पर सभी पेड़ पौधे सन्तप्त होते हुए मानो वसन्त के वियोग से उबर-प्रस्त से क्षीयने लगे । ३ ।

ग्रीष्मे विदीर्णवनभूमिविशालदर्यो रेजुः कनत्कनकशेवधिदीप्रगर्भाः ॥
मान्याभिरुग्रकरपादहतेः प्रवेष्टुं क्लृप्तानि कुण्डशतवद् वनदेवताभिः ॥४॥

ग्रीष्मे इत्यादि । ग्रीष्मे निदाघे । कनत्कनकशेवधिदीप्रगर्भाः कनतीति कनन्ति तानि कनकानि येषु ते कनत्कनकास्ते च ते शेवधयश्च तथोक्ता दीप्यत इत्येवं शीलो दीप्रः कनत्कनकशेवधिमिर्दोषो गर्भो यासां तास्त्वथोक्ताः उवलत्सुवर्णयुक्तनिधिमिः प्रकाश्यदंत-र्भागाः । विदीर्णवनभूमिविशालदर्यः वनस्य भूमिर्वनभूमिः विशालाश्च ता दर्यश्च विशाल-दर्यः विदीर्णा चासौ वनभूमिश्च तथोक्ता तस्या विशालदर्यस्तथोक्ताः विभिन्ना-रण्यावनिविशालरेखाः । मान्याभिः मानितुं योग्या मान्यास्ताभिः पूज्याभिः । वनदेवताभिः वनस्य देवता वनदेवताः ताभिः व्यंतरदेवताभिः । उग्रकरपादहतेः कराश्च पादाश्च करपादाः उग्राश्च ते करपादाश्च तथोक्ताः पक्षे उग्राः कराः यस्य सः उग्रकरः सूर्यस्तस्य पादाः रश्मयस्तेषां हतिः उग्रकरपादहतिस्तस्याः निष्ठुरहस्तपादघातात् रविकरणोपहते-र्भा । “बलिहस्तांशवः कराः । पादारश्म्यंघ्रितुर्यांशाः” इति उभयत्राप्यमरः । प्रवेष्टुं निपतितुं । क्लृप्तोऽग्निकुण्डशतवत् अग्नेः कुंडानि अग्निकुंडानि क्लृप्तानि च तान्यग्निकुंडानि च तथोक्तानि क्लृप्ताग्निकुंडानां शयानि तथोक्तानि तानि च विरचितानलकुंडानेकवत् । रेजुः वधुः । राज्ञो दीर्घालिङ् उत्प्रेक्षा ॥ ४ ॥

भा० अ०—ग्रीष्म ऋतु में चमकती हुई सुवर्ण-निधियों से समुद्भासित गर्भवाली विदीर्ण वनभूमिकी विशाल कन्दारयों मानो सूर्य के पादाघात अथवा किरणों के आक्रमण से अग्निकुण्डवत् नीचे की ओर प्रवेश करने के समान सोमने लगी । ४ ।

मिथ्यात्वकर्मकृतयाशुभयेव दृष्ट्या जंतुवजाः परमतत्त्वधियाप्यतत्त्वं ॥

प्रेष्या तृषा मृगगणा मृगतृष्णिकांभः सेदुर्नदीरयधिया बत धावमानाः ॥५॥

मिथ्यात्वेत्यादि । जंतुवजाः जंतूनां वजास्तथोक्ताः जीवसमूहाः । प्रेष्या ग्रीष्मे भवा प्रेष्यो तथा निदाघजातया । तृषा पिपासया “उदन्या तु पिपासा तृप्” इत्यमरः । मृग-तृष्णिकांभः मृगाणां तृष्णा तथोक्ता मृगतृष्णैव मृगतृष्णिकैति स्वार्थे कः मृगतृष्णिकैवांभः मरीचिकाजलं तथोक्तम् । मिथ्यात्वकर्मकृतया मिथ्याभावो मिथ्यात्वं तच्च तत् कर्म च मिथ्यात्वकर्मणा कृता तथा द्रव्यमिथ्यात्वविहितया । अशुभया अप्रशस्तरूपया । दृष्ट्या श्रद्धया भावमिथ्यात्वेनेत्यर्थः । अतस्त्वमपि न तत्त्वमतस्त्वमपि तत्त्वाभासमपि । परमतस्त्व-धिया परमं च तत् तत्त्वं च परमतत्त्वं परमतस्त्वमितिधीस्तथोक्ता तथा सद्भूतवस्त्विति बुद्ध्या । धावमानाः धावन्त इति धावमानाः पलायमानाः । सेदुरिव यथा दुःकार्यतिस्म ।

तथा मृगगणाः मृगगणां गणास्तथोक्ताः मृगसमूहाः । नदीरयधिया नद्या रयो नदीरयः
नदीरय इति धीः नदीरयधीस्तथा सरित्प्रवाह इति बुद्ध्या । धावमानाः पलायमानाः संतः ।
सेतुः दुःखार्थंतेस्म षट्क विशरणगत्यत्रसादनेषु लिट् । यत हंन ॥ ५ ॥

भा० अ०—जिस प्रकार सभी जीवगण द्रव्य-मित्थ्यात्व से किये गये भाव-मित्थ्यात्व
के कारण अतत्त्व को भी परमतत्त्व के विचार से अपनाते हैं, उसी प्रकार
हरिण-समूह प्रोषम की तृषा से प्यासे होकर मृगतृष्णा के जल की ओर नदी को धारा
समझ कर झौड़ कर दुःखित होते हैं । ५ ।

तृष्णातुरः स्वयमपिद्युमणिर्बभूव संतापवांश्च समयेऽत्र न चेत्कराग्रैः ॥

पंकाविलान्यपि जलान्यपि वृत्तिकर्मथं प्रालेयशैलतटमध्युषितश्च कस्मात् ॥ ६ ॥

तृष्णातुर इत्यादि । अत्र समये अस्मिन्निदाये । द्युमणिः सूर्यः । स्वयमपि । तृष्णा-
तुरः तृष्णया आतुरस्तथोक्तः तृष्णापीडितः । संतापवांश्च संतापोऽस्यास्तीति संताप-
वान् च समुच्चयार्थः संतापयुक्तः । बभूव भवतिस्म । भू सत्तायां लिट् । न चेत् न भवति ।
कराग्रैः करस्याग्राणि कराग्राणि तेः किरणाग्रैः हस्ताग्रैः । पंकाविलानि पंकेनाविलानि
कर्दमकलुषाणि । जलान्यपि ललिलान्यपि । किमर्थं कस्मै इद् किमर्थं । अपि वत् अपात् । अशो-
षयति याचत् । पा पाने लुङ् । प्रालेयशैलतटं प्रालेयसहितशैलः प्रालेयशैलस्तस्य तटं
तथोक्तं हिमाचलसानुं । कस्मात् कारणात् । अध्युषितः अधिवसतिस्मेति तथोक्तः
अधिष्ठितः उत्तरायणगत इत्याशयः । “वसेऽनूपाध्याङ्” इत्याधारे द्वितीया । उत्प्रेक्षा ॥ ६ ॥

भा० अ०—इस प्रोषम ऋतु में स्वयं सूर्य भी तृपातुर तथा सन्तापदग्ध हो गये, नहीं
तो अपनी किरणों से ये गदले जलों को क्यों पीते अर्थात् सुखाते तथा हिमालय पर्वत के
शिखरारूढ़ क्यों होते । ६ ।

शंकामयं जनितवान् जगतो वनांतः किं पाटलाः कुमुमिताः द्रवपावकाः किं ॥

किं मल्लिकाः स्तिमितभृंगगणाः किमेते शांतोल्मुका विशदभस्मचया इतीत्यं ॥ ७ ॥

शंकामित्यादि । कुमुमिताः कुसुमानि संजातान्येवामिति तथोक्ताः संजात-
पुष्पयुताः । पाटलाः पाटलवृक्षाः । किं किन्नु । द्रवपावकाः द्वाश्च ते पावकाश्च तथोक्ताः
द्विधाग्नयः । किं किंवा । स्तिमितभृंगगणाः भृंगानां गणा भृंगगणाः स्तिमितौ भृंग-
गणो वासु तास्तथोक्ताः निश्चलभृंगकुलमिलिताः । “स्तिमित्तावार्द्रनिश्चलौ” इति वैजयंती ।
मल्लिकाः मल्लिकानामपुष्पाणि । “मल्लिकाः बहुलं श्लक्ष्णपुष्पमाले” इति बहुल-प्रत्ययस्य
श्लक् मल्लिकापुष्पाणि किंवा । एते इमे । शांतोल्मुकाः शांतमुल्मुकं पत्रां ते तथोक्ताः

शांतांगाराः । “अलातमुल्मुकम्” इत्यमरः । विशद्भस्मचयाः विशदानि च तानि भस्मानि च विशद्भस्मानि तेषां चयाः शुभ्रभूतिसमूहाः किंवा । इत्थं अनेन प्रकारेण इत्थं । अयं पषः । वनांतः वनस्यांतर्बनांतः वनमध्ये अच्ययं । अयं ग्रीष्मः । जगतः लोकस्य । शंकां वितर्कं । “शंका त्रासे वितर्कं च” इति विश्वः । जनितवान् जनयतिस्म जनितवान् । जनैश्च प्रादुर्भावे णिञांतात् क्वतु प्रत्ययः । संशयालंकारः ॥ ७ ॥

भा० अ०—वन के बीच में खिले हुए गुलाब क्या वनाग्नि है, निश्चल भ्रमर-समूह वाले मल्लिका पुष्प शान्त अंगार वाले भस्म-समूह है क्या ! इत्यादि शंकाएं इस ग्रीष्म ऋतु ने लोगों के मन में उत्पन्न करहीं । ७ ।

संतप्रेरणानिकरं कृपयेव वाता निन्युः सुशीतलजलां द्युनदीं निदाये ॥

एकांततप्तवसुधास्थितिभीतभीता द्रागद्रवन्निव तदा मृगतृष्णिकौघाः ॥८॥

संतप्रेत्यादि । निदाये ग्रीष्मे । वाताः वायवः । संतप्रेरणानिकरं संतप्यंतेस्म संतप्तास्ते च ते रेणवश्च संतप्रेरणवस्तेषां निकरस्तथोक्तस्तं सम्यक्तप्तधूलिसमूहं । कृपयेव अनुकंपयेव । शीतलजलां शीतलं जलं यस्यां तां । द्युनदीं दिवो नदी द्युनदी तां सुरगंगां । निन्युः प्रापयंतिस्म । णीञ् प्रापणे लिट् । तदा तन्मये । मृगतृष्णिकौघः मृगतृष्णिकानां ओघस्तथोक्तः । “ओघो वृद्धेऽभसां रघे” इत्यमरः मरोचिकाप्रवाहः । एकांततप्तवसुधास्थितिभीतभीताः एकांतं तप्ता एकांततप्ता सा चासौ वसुधा च एकांततप्तवसुधा तस्यां स्थितिः तथोक्ता भृशं भीताः भीतभीताः एकांततप्तवसुधास्थित्याः भीतभीतास्तथोक्ताः अत्यंततप्तभूमिस्थित्याः त्रस्तत्रस्ताः भृशार्थे द्विः । अद्रवन् शीघ्रं अद्रवन् अधावन् । द्यु गतौ लङ् ॥ ८ ॥

भा० अ०—मानो कृपा करके हवाओं ने ग्रीष्म ऋतु में सन्तप्त धूलियों को अत्यन्त शीतल जलवाली गंगा के पास पहुँचा दिया । उसी समय अतिशय तपी हुई पृथ्वी पर रहने से मानों बहुत डर कर मृगतृष्णाएँ भ्रष्ट भीगी हुई सी ज्ञात हुईं । ८ ।

हा हंत तृड्भरविदीर्णगला मृगालिः पंकाविलोष्णमलिलं वनपल्वलानां ॥

अल्पं कथंचिदपिवत्कृपयावगम्य केनाप्युपाहृतमित्रोद्धकपायतोयं ॥ ९ ॥

हेत्यादि । तृड्भरविदीर्णगला तृपो भरस्तथोक्तः विदरतिस्म विदीर्णः तृड्-भरेण विदीर्णो गलो यस्यास्सा तथोक्ता तृपातिशयेन स्फुटितकंठाः । मृगालिः मृगाणामालिस्तथोक्ता मृगसमूहः । वनपल्वलानां वनस्य पल्वलानि वनपल्वनानि तेषां अरण्याल्पसरसां “पल्वलं चाल्पसरः” इत्यमरः । अल्पं स्तोत्रं । पंकाविलोष्णमलिलं

पंकेनाविलं पंकाविलं पंकाविलं च तदुष्णं च तथोक्तम् तत्सलिलं च पंकाविलोष्णसलिलं च
कर्दमेनानच्छोष्णजलं । केनापि येन केनापि सत्पुरुषेण । अवगम्य अवगमनं पूर्वञ्ज्ञात्वा ।
कृपया दयया । उपाहृतं उपाह्रियतेस्म उपाहृतं । उद्धकषायतोयं उद्धञ्चासौ कषायश्च
उद्धकषायस्तस्य तोयमिव । कथञ्चित् केनचित्प्रकारेण । अपिवत् अयात् पा पाने लङ् ॥६॥

भा० अ०—प्यास की अधिकता से स्फुटित करठवाले मृग-समूह ने वनकी बाबडी के
गर्म जल को कृपा करके किसी सज्जन से दिये गये गर्म कडुप काढ़े के समान किसी
तरह पिया । ६ ।

धात्रीदरीमुखगतैर्विपिनस्थलीनां व्यादीर्णवेणुगलिनैर्मणिभिर्विरेजे ॥

मा लोकमित्र शिखिनो मम पीडयेति दीनं प्रकाशितदेव दिनाधिपाय ॥ १० ॥

धात्रीत्यादि । धात्री वसुधा । उपमाता वा । “धात्री स्यादुपमातापि क्षितिरप्यामल-
कवपि” इत्यमरः । व्यादीर्णवेणुगलिनैः व्यादीर्णभैस्म व्यादीर्णभैस्ते च ते वेणवश्च
तथोक्तास्तेभ्यः गलितास्नैः स्फुटितवशातः पतिताः । विपिनस्थलीनां विपिनस्य
स्थल्यस्तथोक्तास्तासां विपिनस्थलीनां अप्यप्रदेशानां । दरीमुखगतैः दर्या मुखं दरीमुखं
तद्गच्छतिस्म दरीमुखगतारतैः दरीविवरप्रान्तैः । मौक्तिकैः मणिभिः । लोकमित्रं
लोकस्य मित्रं तथोक्तं तस्य संबोधनं हे लोकबंधो भाना । मम मे । शिखिनः शिखास्त्येषां
इति शिखिनस्तान् पुत्रान् वृक्षान्वा “शिखी पुत्रो बलीवर्हं शरं केतुग्रहे कुम्भे” इति विश्वः ।
मा पीडयेति मा बाधयेति । पीड गहनं लोट् । दिनाधिपाय दिनः अधिपस्तथोक्तस्तस्मै
सूर्याय । दीनं सदैव यथा तथा । प्रकाशितदेव प्रकाशिता रदा स्यात्सुता तथोक्ता
प्रकटितदंतैव । विरेजे चकाशे । गजृ दीप्तां लिट् ॥ उत्पश्ना १० ।

भा० अ०—वसुधा (अथवा उपमाता) फटे हुए थॉस से गिरे हुए तथा दरार के किनारे
पर पड़े हुए मोतियों के कारण — हे सूर्य ! मेरे बच्चों (अथवा वृक्षों का) मत पीड़ित करे
एतदर्थ मानों सूर्य को प्रार्थना-सूत्रों दंत दिखलाती कोसी ज्ञान हुई । १० ।

संतापिताः स्वरिपुराहमहारुषेव चंडांशुना महेशगहुकुलाः फणीन्द्राः ॥

शंके गतान्दशरणाप्यल्लुप्तदीये पादाग्र एव कृतवत्पुटप्रमोकाः ॥ ११ ॥

संतापिता इत्यादि । चंडांशुना चंडाः अंशवो यस्य सः तथोक्तस्तेन भास्करेण ।
स्वरिपुराहमहारुषेव स्वस्य रिपुः स्वरिपुः स चासौ गह्वश्च स्वरिपुराहः महती चासौ-
कट् च महारुट् स्वरिपुराहो जनिता महारुट् तथा गिज्जश्चुराहृत्यमहाक्रोधेन । संतापिताः

सन्ताप्यन्तेस्म सन्तापिताः सम्बाधिताः । सद्गुराराहुकुलाः राहोः कुलं राहुकुलं
 राहुकुलेन सद्गुरां कुलं येषां ते तथोक्ताः राहुकुलसमवंशाः । गतान्यशरणाः अन्यच्च तत्
 शरणं च अन्यशरणं गतं अन्यशरणं येषां ते तथोक्ताः अप्राप्तापररक्षकाः ।
 “शरणं गृहरक्षिभ्योः” इत्यमरः । कृतवत्क्रपुटप्रमोकाः क्रियतेस्म कृताः वत्क्रस्य पुटं
 तस्य प्रमोको वत्क्रपुटप्रमोकः कृता वत्क्रपुटप्रमोको यैस्ते विहितवदनपुटचिकसनाः ।
 फणीन्द्राः फणीनामिन्द्रास्तथोक्ताः महासर्पाः । तदीये तस्येदं तदीयं तस्मिन् तदीये “दोषकः”
 इति छः सूर्यसंबन्धिनि । पादाग्रमेव पादानां किरणानामग्रं तस्मिन् चरणकिरणग्रे एव ।
 व्यलुठन् लुठंतिस्म लुठ प्रतिघाते लड् ॥११॥

भा० अ०— ग्राष्म सम्बन्धो प्रखर धूप में अनन्य-गतिक होकर सर्प-समूह मुंह खोले
 लोटते हुए मानो शत्रुभूत राहु जन्य क्रोध से सूर्य के द्वारा सन्तापित किये जाकर राहु
 कुल के समान प्रतीत होते थे । ११ ।

इत्येष तीव्रतरभावनिपीड्यमाननिःशेषजीवनिवहोऽपि निदाघकालः ॥

निन्येऽत्र जीवनिवहैः सुखमात्तयोगः पुण्ये जगद्गुरुर्वास्थित यत्र शैले ॥१२॥

इतीत्यादि । पुण्ये पुण्यहेतुत्वादेव पुण्यं तस्मिन् पवित्रे । यत्र यस्मिन्यत्र । शैले
 कस्मिंश्चित् पर्वते । आत्तयोगः आधीयतेस्म आत्तः आत्तो योगो येन सः स्वीकृतध्यानः ।
 “योगः सन्नहनोपायध्यानसंगतियुक्तिपु” इत्यमरः । जगद्गुरुः जगतां गुरुः तथोक्तः लोक-
 गुरुः । अवास्थित तिष्ठतिस्म ष्टा गतिनिवृत्तौ लुङ् । “संविप्रवात्” इति तड् । अत्र अस्मिन् गिरौ ।
 जीवनिवहैः जीवानां निवहा जीवनिवहास्तैः प्राणिसमूहैः । इति एवं प्रकारेण । तीव्रतरभाव-
 निपीड्यमाननिःशेषजीवनिवहोऽपि प्रकृष्टस्तीव्रस्तीव्रतरः स चासौ भावश्च तीव्रतरभावः निपी-
 ड्यत इति निर्पाड्यमानः तीव्रतरभावेन निपीड्यमानस्तथोक्तः जीवानां निवहो जीवनिवहः
 निःशेषश्चासौ जीवनिवहश्च निःशेषजीवनिवहः तीव्रतरभावनिपीड्यमानो निःशेषजीवनि-
 वहो यस्य सः निष्टुरस्वभावेन बाध्यमानस्यावरजंगमप्राणिसमूहयुक्तोऽपि । एषः अयं ।
 निदाघकालः निदाघश्चासौ कालश्च निदाघकालः ग्राष्मकालः । सुखं यथा तथा । निन्ये
 नीयतेस्म । णीञ् प्रापणे लिट् ॥ १२ ॥

भा० अ०—जिस पवित्र पर्वत पर ध्यानमग्न जगद्गुरु मुनिगण रहते थे सभी जीवों
 को दूसरी जगह निष्टुर भाव से मन्तस किये हुई इस भीषण ऋतु को भी उस पर्वत पर
 णिषर्ण सुखपूर्वक विताते थे । १२ ।

गंभीरगर्जितभरादथ कंपमानचक्रांगबालविरहिव्रजमब्दकालः ॥

छिद्राविशत्फणिसनृत्यमयूरयूथमुन्मीलदोष्टपुटचातकमुद्गभूव ॥ १३ ॥

गंभीरेत्यादि । अथ निदाघकालावसानानन्तरं । अब्दकालः अपो ददातीत्यब्दः स चासौ कालश्च तथोक्तः वर्षाकालः । गंभीरगर्जितभरात् गंभीरं च तन् गर्जितं च गंभीरगर्जितं तस्य भरो गंभीरगर्जितभरस्तस्मात् गंभीरस्तनिताशयात् । कंपमानचक्रांगबालविरहिव्रजं चक्रांगानां बालाः चक्रांगशालाः विरहोऽस्त्येषामिति विरहिणः चक्रांगबालाश्च विरहिणश्च चक्रांगबालविरहिणस्तेषां व्रजस्तथोक्तः कंपत इति कंपमानः कंपमानश्चक्रांगबालविरहिव्रजो यस्मिन् कर्मणि तत् तथोक्तं भयविचलद्दं सपोतविरहिव्रजनसमूहसहितं यथा भवति तथा । छिद्राविशत्फणिसनृत्यमयूरयूथं आविशंतीत्याविशंतः फणास्त्येषामिति फणिनः छिद्रमाविशंतश्छिद्राविशतस्ते च ते फणिनश्च छिद्राविशत्फणिनः नृत्येन सह वर्तंत इति सनृत्यास्ते च ते मयूराश्च सनृत्यमयूराः छिद्राविशत्फणिनश्च सनृत्यमयूराश्च तथोक्ताः छिद्राविशत्फणिसनृत्यमयूराणां यूथं यस्मिन् कर्मणि तथोक्तं रंघप्रविशत्सुनृत्यमयूरनिवहं यथा यथा । उन्मीलदोष्टपुटचातकं उन्मीलत इत्युन्मीलंतौ ओष्ठयोः पुटावोष्ठपुटौ उन्मीलंतावोष्ठपुटौ येषां ते तथोक्ताः उन्मीलदोष्टपुटाश्चातका यस्मिन्कर्मणि तत् तथोक्तं शिथिलीभवदोष्टचातकं पक्षे विशेषयुक्तं यथा तथा । उद्गभूव उदैतिस्मभूस्तथायां लिट् ॥ १३ ॥

भा० अ० — इसके बाद गंभीर गर्जन से हंस-शावकों को तथा वियोगी जनों को कम्पित, विधुर सर्पों को बिल में धुसने के लिये बाधय, मयूर समूह को नृत्य-मग्न तथा चातकों के अधर पुट को उन्मीलित करती हुई वर्षा ऋतु का प्रादुर्भाव हुआ । १३ ।

प्राजीजनत् प्रसृतसर्वसमुद्रदेशाः शक्रेण सिंधुजलमग्ननगग्रहाय ॥

क्षिसोरुजालधिषणां पुनरुत्पतन्तः खं नीयमाननगशेमुषिकां नवाब्दाः । १४ ।

प्राजीजनदित्यादि । प्रसृतसर्वसमुद्रदेशाः प्रस्रियंतेस्म प्रसृताः समुद्रस्य देशाः समुद्रदेशाः सर्वे च ते समुद्रदेशाश्च सर्वसमुद्रदेशाः प्रसृताः सर्वसमुद्रदेशा यैस्ते तथोक्ताः व्याप्तसमस्तसागरप्रदेशसहिताः । नवाब्दाः नव च ते अब्दाश्च नवाब्दाः नूतनमेघाः । शक्रेण निर्जरवरेण । सिंधुजलमग्ननगग्रहाय सिंधोर्जलं सिंधुजलं मज्जतिस्म मग्नाः सिंधुजले मग्नास्तथोक्ताः सिंधुजलमग्नाश्च ते नगाश्च तथोक्तास्तेषां ग्रहः सिंधुजलमग्ननगग्रहस्तस्मै समुद्रसलिलमग्नपर्वतप्रहणाय । क्षिसोरुजालधिषणां क्षिप्यतेस्म क्षिप्तं उरु च तत् जालं च उरुजालं क्षिप्तं च तत् उरुजालं च क्षिसोरुजालं तदिति धिषणा क्षिसो-

रुजालघिषणा तां निश्चिन्मपुथुलनायबुद्धिं । प्राजीजनन् प्राजनयन् जनैड् प्रादुर्भावे
 जिञ्जंताल्लुङ् । पुनः भूयः । उत्पतंतः उत्पतंतोत्पुत्पतंतः उपर्यागच्छंतः । नवाब्दाः प्रत्य-
 ग्रान्बुदाः । खं व्योम । नीयमाननगशेमुपिकां नीर्यंत इति नीयमानास्ते च ते नगाश्च नीयमान-
 नगाः त इति शेमुपिका नीय यश्चनगशेमुपिकां तां आकृष्यमाणपर्वतबुद्धिं । प्राजीजनन्
 प्राग्भावयतिस्म ॥ १४ ॥

भा० अ० —माती सभी चालुद्रिक प्रदेशों में उमड़े हुए नूतन मेघों ने समुद्र जल में
 मग्न पर्वतों को निकालने के लिये इन्द्र के द्वारा फेंके गये मन्नाशाल की तथा ऊपर की ओर
 उठे हुए मेघों ने आकाश की ओर पर्वत को खिंचने की प्रवीणता का प्रकटित किया । १४।

नो विद्य साधु इरास्कुनिधेयान्ती विद्युत्वतां किमु ततिर्बडवानलार्ता ॥

वार्दतिसंततिः । धुनदीक्षार्थं व्यारूढपाशिवनिता मकरीततिर्वा ॥१५॥

नो इत्यादि । अयश्चासांबुनिधेश्च तथोक्तस्मत् पश्चिमयादः-
 पतेः सकाशात् । अभ्रं सुगवतम् । अर्धं नो अर्धं वात्यर्धं नो गच्छंती । सा दृश्यमाना । विद्युत्वतां
 विद्युदस्त्येषामित विद्युत्वंस्तेषां विद्युत्वतां अत्र मतवर्थ इति जस्तवाभावः । ततिः राजिः ।
 किमु स्याद्वा । बडवानलार्ता बडवानलैतानां बडवाग्निशिविता । वार्दतिसंततिः वारि
 विद्यमाना दंतितो वार्दक्षिणस्तेषां संततिः दन्तो वशांभिनो जलगजसमूहः । उत भवेत्किं । धुन-
 दीक्षणार्थं दिवो नदी धुनदी तस्या ईशं धुनदीक्षणं धुनदीक्षणाय तथा कं गंगानदीदर्शनाय ।
 व्यारूढपाशिवनिताः व्यारूढ्यनेस्य व्यारूढाः पारीऽस्यास्तंति पारी तस्य वनिता पाशि-
 वनिताः व्यारूढाः पाशिवनिताः यस्यास्या तथोक्ता वाहनत्वाद्गारूढवरुणस्त्रीसमेता ।
 मकरीततिः मकरीणां ततिस्तयोक्ता मकरस्त्रीभिकरो वेति । नोविद्य न जानीमः । विद्-
 ज्ञाने लङ् । “विदो लटो वा” इति मसो मादेशः । संशयालंकारः ॥ १५ ॥

भा० अ० —मैं नहीं समझता कि पश्चिम समुद्र में आकाश तक चकर लगाती हुई
 विद्युत्पंक्तियाँ हैं ? अथवा पाड़वाग्नि से पीड़ित हस्तिजन्तूह हैं ? या आकाश गंगा को
 देखने के लिये वरुण की स्त्रियों से सवारों की गयी मगरों की स्त्रियों का झुंड तो
 नहीं है ॥ १५ ॥

नीरंध्रमभ्रपटलं पिहिताखिलद्यु संजतगं विधृतदीर्घितगंबुधारं ॥

देव्याः क्षितरुपरि लंबितदीर्घमुक्तामालं विशालमिव धातृकृतं वितानं ॥१६॥

नीरंध्रमित्यादि । पिहिताखिलद्यु अपिधीयतंस्म पिहिता “धाञ्” इति ह्यादेशः ।

“धात्रोह्यपेः” इत्यपेरकारलोपः अखिला चासौ द्यौश्च अखिलद्यौः पिदिता अखिलद्यौर्येन तत् तथोक्तं “नपो ऽस्यो ह्रस्वः” इति ह्रस्वः आच्छादितसमस्ताकाशं । विधृतदीर्घतरांबुधारां प्रकृष्टा दीर्घा दीर्घतरा अंबुनो धारा अंबुधारा दीर्घतरा चासाचंबुधारा च तथोक्ता विध्रियतेस्म विधृता विधृता दीर्घतरांबुधारा येन तथोक्तं भृशाधिकायतजलधारं । नीरंध्रं रंध्रास्मिर्गतं नीरंध्रं निच्छिद्रं । अभ्रपटलं अभ्राणां पटलं तथोक्तं मेघसमूहः । क्षितेः भूम्याः । दैव्याः देवतायाः भूरेव्याः । उपरि अग्रे । धातृकृतं धात्रा कृतं ब्रह्मनिर्मितं । लंबितदीर्घमुक्तामालं लंबयतेस्म लंबिता मुक्तानां माला मुक्तामाला दीर्घा नाम्नी मुक्तामाला च दीर्घमुक्तामाला लंबिता दीर्घमुक्तामाला यस्य तत् । विशालं विस्तीर्णं । वितानमिष चंद्रोपमानमिष । भ्रे जेतरां प्रकृष्टं भ्रे जे भ्रे जेतरां भ्राजि वर्चिदासौ लिट् । “द्वयोर्विभज्ये च नरप्” इति तरप् प्रत्ययः । अण्यैर्द्वित्यादिनामप्रत्ययः उत्प्रेक्षा ॥ १६ ॥

भा० अ०—समस्त नभो-मण्डल को आच्छन्न किये हुआ, बड़ी प्रखर जल-धारा को धारण किये हुआ, भगवती पृथ्वी के ऊपर लटकी हुई बड़ी २ मुक्ता माला वाला ब्रह्मा के द्वारा फंलाये गये विशाल छिद्ररहित तम्बू के समान मेघ-मण्डल मालूम पड़ता था ॥ १६ ॥

रेजुः प्रसृत्य जलधिं परितोऽप्यशेषं मेघा मुहुर्मुहुर्भिप्रसृताभ्रभागाः ॥

आदानवर्षणमिषात्पयसां पयोधिं व्योमापि मान्त इव संशयिताशयेन ॥ १७ ॥

रेजुरित्यादि । अशेषं न शेषं अशेषं त सकलं । जलधिं जलानि धीयतेस्म जलधिस्तं समुद्रं । परितः सर्वतः । प्रसृत्य प्रसरणं पूर्वं ० व्याप्य । मुहुर्मुहुः भूयो भूयः । अभिप्रसृताभ्रभागाः अमितः प्रसृताः अभ्रस्य भागाः अभ्रभागाः अमिप्रसृता अभ्रभागा येस्ते तथोक्ताः अमिष्या-सगगनप्रदेशयुक्ताः । मेघाः जलधराः । पयसां जलानां । आदानवर्षणमिषात् आदानं च वर्षणं च तथोक्ते आदानवर्षणे पत्र मिषं आदानवर्षणमिषं तस्मात् स्वीकरणवर्षण-व्याजात् । संशयिताशयेन संशेतेस्म संशयितः स चासात्राशयश्च संशयिताशयस्तेन शंकि-ताभिप्रायेण । पयोधिं जलधिं । व्योमापि दिवर्माप । मांत इव मांतीति मांतस्त इव माङ्माने शत्र्तः प्रमितिं कुर्वति इव । रेजुः बभुः । राजृ दोसौ लिट् उत्प्रेक्षा ॥ १७ ॥

भा० अ०—सारे समुद्र के चारो तरफ बार बार फेंक कर आकाश-मण्डल को घेरे हुए मेघ जलों को लेने और वर्षण करने के बहाने से संदिग्ध चित्त हो मानो समुद्र और आकाश को नापते हैं ॥ १७ ॥

कांतारभूमिषु विदीर्णादरीविधानदेदीप्यमानमगिराशिमुपोपविष्टाः ॥

धंगारपुंजमनसा किल सेवमानाः शाखामृगाः शुशुभिरे नववृष्टिशीर्णाः ॥ १८ ॥

कांतारेत्यादि । कांतारभूमिषु कांताराणां भूमयः कांतारभूमयः तासु अरण्यभूमिषु । नववृष्टिशीर्णाः नवा चासौ वृष्टिश्च नववृष्टिस्तया शीर्णाः नूननवर्षेण कदत्थिताः । विदीर्ण-
द्वीनिधानदेदीप्यमानमणिराशिं विदीर्णाश्च ता दर्यश्च विदीर्णदर्यः देदीप्यंत इति देदीप्य-
मानास्ते च ते मणयश्च तथोक्ता विदीर्णद्वीषु विद्यमाना देदीप्यमानमणयस्तेषां राशिस्तं
प्राग्निदाघभरस्फुटितसुदगीषु भाभास्यमानरत्नराशिं । उपोपविष्टाः उपोपविशंतिस्म
तथोक्ताः समीपस्थिताः । प्रोपोत्संपादपूरणे द्विः । अंगारपुंजमनसा अंगाराणां पुंजस्तथोक्तः
अंगारपुंज इति मनस्तेन अंगारराशिबुद्ध्या । सेवमानाः सेवंत इति सेवमानाः । शाखा-
मृगाः कपयः । शुभुभिरे किल चकाशिरे किल । शुभ दीप्तौ लिट् । भ्रान्तिमानलंकारः ॥१८॥

भा० अ०—वन-भूमियों में विदीर्ण कन्दराओं में विद्यमान रत्नपुंज के निकट नई वृष्टि
से आर्त्ता हो अंगारपुंज के ख्याल से बैठे हुए बन्दर सोभते थे ॥ १८ ॥

नीलोपलोर्ध्वनिलयैर्मणितोरणाग्रैरंतर्बहिःपरिमुहुर्विचरद्वधूकैः ॥

किर्मोरिता जलधरासुरचापरम्या विद्यद्यता विविदिरे नगरेषु वर्षैः ॥ १९ ॥

नीलोपलेत्यादि । नगरेषु पत्तनेषु । अंतः मध्ये । बहिः बाह्ये । परि परितः । मुहुः पुनः
पुनः । विचरद्वधूकैः विचरंतीति विचरंत्यः विचरंत्यां वध्वो येषां ते विचरद्वधूकास्तैः
संवरद्वनितायुतैः । मणितोरणाग्रैः मणिनिर्मितास्तेरणास्तथोक्ताः मणितोरणा अग्रे
येषां ते मणितोरणास्तैः अग्रभागे रत्नतोरणयुक्तैः । नीलोपलोर्ध्वनिलयैः नीलश्चासौ
उपलश्च नीलोपलस्तेन निर्मिता ऊर्ध्वनिलयाः नीलोपलोर्ध्वनिलयास्तैः इन्द्रनीलरत्नरचित-
स्तीघैः । किर्मोरिताः मिथ्याः । सुरचापरम्याः सुरचापेतरम्याः इन्द्रधनुषा मनोहराः । विद्यु-
द्युताः विद्युता युतास्तथोक्ताः तडिद्युक्ताः । जलधराः जलानि धरंतीति जलधराः
मेघाः । वर्षैः वृष्टिभिः । विविदिरे रेजिरे । विद्वद्भाने लिट् । अत्रोपमानोपमेयपदानां चिंबप्रति-
चिंबभावेन पररूपरोपमा ॥ १९ ॥

भा० अ०—बाहर, भीतर तथा चारों तरफ जहाँ बार २ युवतियाँ विचरण कर रही हैं
ऐसी मणिमय तोरण वाली नीलम-जड़ित अट्टालिकाओं से स्पृष्ट और इन्द्र धनुष तथा
चंचला-युक्त मेघ शहरों में वृष्टि द्वारा ही जाने जाते थे अर्थात् आकाश-पर्शिनी इन्द्रमणि-
खचित अटारियों से समुद्रासित स्वच्छाकाश के भी नील बने रहने की वजह से प्रकृत
जलद वृष्टि होने पर ही प्रतीत होता था । १९ ।

उन्मार्गत्रत्यपि जगज्जनमान्यवृत्तिरुल्लासभासुरकुजोप्युरुवाष्पसीतः ॥

अभोमुच्चापमशमयत्प्रचयो रजांसि प्रत्याहतामलदिगंबरदर्शनोऽपि ॥ २० ॥

उन्मार्गैत्यादि । उन्मार्गवर्त्यपि उद्गतो मार्गस्तस्मिन् वर्तते इत्येवं शीला उन्मार्गवर्ती
 दुर्मार्गवर्त्यपि पक्षे व्योममार्गवर्त्यपि । जगज्जनमान्यवृत्तिरपि जगतो जनाः जगज्जगाः
 मानितुं योग्याः मान्याः जगज्जनैर्मान्या तथोक्ता जगज्जनमान्या वृत्तिर्यस्य सः लोक-
 जनपूज्यवर्तनायुक्तः । दुर्मार्गवर्तिना जगज्जनमान्यवृत्तित्वविरोधः आकाशमार्गवर्तीति
 परिहारः । उल्लासभासुरकुजेऽपि उल्लसनमुल्लासस्तेन भासंत इत्येवं शीला उल्लासभा-
 सुरा कौ जायंत इति कुजाः उल्लासभासुराः कुजाः यस्य सः हर्षेणभासनशीलसीतायुतः ।
 पक्षे उल्लासभासुराः पल्लवपलाशप्रसूनादिभिर्भासमानाः कुजाः वृक्षा यस्य सः तथोक्त-
 स्तोपि । उरुबाष्पसितः उरु बाष्पं यस्यास्सा तथोक्ता उरुबाष्पा सीता यस्य सः महद्भूयु-
 कसीतादेवीसहितः पक्षे ऊष्मायमाणलांगलपद्धतिसहितः । “वाप्यो नेत्रजलोष्मणोः । सीता-
 रामकलत्रे स्यात्तया लांगलपद्धता” इत्युभयत्रापि विश्वः । उल्लासभासुरसीतावतः उरुबाष्पं
 सीतावत्त्वं विरोधः । किन्तु उल्लसनभासनशीलवृक्षवत्त्वं तत्रवृष्टिवशादुष्मायमाणलांगलत्व-
 पद्धतिवत्त्वमिति परिहारः । प्रत्याहतामर्लाद्गंबरदर्शनाऽपि प्रत्याहन्यतस्म प्रत्याहतं न
 विद्यते मलं यस्य तद्मलं दिश एवावरं येषां ते दिग्बराः तेषां दर्शनं तथाक्तं प्रत्याहतं अमलं
 दिग्बरदर्शनं येन सः तथोक्तस्तोऽपि निराकृतनिर्मलजिनमतवानपि पक्षे दिशश्च
 अंबरं च दिग्बराणि तेषां दर्शनं प्रत्याहतं अमलं दिग्बरदर्शनं येन सः इत्यत्रापि बहुपदो बसः ।
 प्रक्षिप्तविशदद्गाकाशवाक्षणवानपि । “दर्शनं नयनस्वप्रबुद्धिधर्मोपलक्षिषु । शास्त्रदर्पणयो-
 श्चापि” इति विश्वः । अंभामुचां अंभांसि मुञ्चत्यम्भोमुचस्तेषां मेवानां । प्रचयः प्रकरः ।
 रजांसि पापानि रेणुत्वा । अशमयत् अदमयत् । शमू दमू उपशमने लङ् । निराकृतजिनमतस्य
 पापशमनत्वं विरोधः । प्रतिज्ञतनिर्मलद्गाकाशप्रक्षणस्याब्दकालस्य धूलिशमनत्वमिति-
 परिहारः । विरोधभासालंकारः ॥ २० ॥

भा० अ०—विषय गामा (आकाश पयचारा) हांते हुए भा सांसारिक लोगों से मान्य
 वृत्ति होकर, हर्ष से प्रकाशन—शाल साता (वृक्ष) युक्त हांते हुए भा अत्यन्त वाष्प सम्पन्न
 लांगल (साता देवा) सहित तथा स्वच्छ दिशावलाकन (पवित्र जिनमन दर्शन) को अरु-
 रुद्ध किए हुए भा मेघ—मंडल ने रजस्समूह (रजेगुण) को शान्त किया । २० ।

किं कंतकी कुसुमिता किमयं तडित्वान् संबाधतो जलमुचां पतितः पृथिव्यां ॥

किं वा धृतेदुशकलस्तमसां समूहः किं शाकिनी शितरदा तरुणादनाय ॥ २१ ॥

किमित्यादि । कुसुमिता कुसुमानि संजातान्यस्यामिति तथोक्ता संजातकुसुम-
 युक्ता । केतका वृक्षः । किं भवेत् किंतु । अयं एवः । जलमुचां जलं मुंचंतीति जलमुचस्तेषां ।
 संबाधतः संबाधनं संबाधस्तस्मात् तथोक्तं परस्परसंमदंनतः । पृथिव्यां भूम्यां । पतितः

पततिस्म पतितः च्युतः । तडित्वान् तडिदस्यास्तीति तडित्वान् “स्तं मत्वर्थे” इति जस्त्वाभावः
 वियुद्युक्तमेघः । किंस्यादुत । धृतं दुशकलः ध्रोयतेस्म धृतं इदोः शकलमिंदुशकलं धृतमिंदु-
 शकलं येन सः धृतचंद्रभागः । “भित्तं शकलखंडे वा” इत्यमरः । तमसां तिमिराणां । समूहः
 निवहः । किं वा भवेद्वा । तरुणाननाय तरुणानामदनं तरुणादनं तस्मै कामोद्दीपनहेतु-
 त्वाद्युवजनभक्षणार्थमित्यर्थः । शितरदा शिता रदा यस्यास्ता तथोक्ता निशितरदना
 “शितं शातं च निशिते कृशे शान्तञ्च कर्मणि” इति विश्वः । शाकिनां शाकिनी नाम देवी ।
 किं भवति किं । संशयालंकारः ॥२१॥

भा० अ०—क्या यह विकसित केतकी की गाछ है या परस्पर मेघ के संघर्षण से
 जमीन पर गिरी हुई बिजली है अथवा चन्द्रमा का टुकड़ा लिये हुआ अन्धकार-समूह है
 या युवकों का भक्षण करने के लिए कटिबद्ध उजले दाँत वाली राक्षसी तो नहीं है । २१ ।

गोत्रारिगोपकरका व्यरुचन्धरायां मेघागमेन दयितेन कृतांकपाल्याः ॥

व्योमश्रियः स्तनतट्टुटितोरुहारस्रस्तावकीर्णनवविद्रुममौक्तिकाभाः ॥२२॥

गोत्रारीत्यादि । मेघागमनेन आगमनमागमः मेघस्यागमो यस्मिन् तेन प्रावृट्कालेन
 दयितेन प्राणनायकेन । कृतांकपाल्याः क्रियतेस्म कृता कृता अंकपालिर्यस्यास्ता तथोक्ता
 तस्याः विहितालिंगनायाः । “कोड्धात्रिकापरिरंभेष्वंकपालिः” इति नानार्थकोशे । व्योमश्रियः
 व्योमः श्रोः व्योमैव वा श्रास्तस्याः गगनलक्ष्म्याः । स्तनतट्टुटितोरुहारस्रस्तावकीर्ण-
 नवविद्रुममौक्तिकाभाः स्तनयोस्तटं स्तनतटं तस्मात् टुटितः तथोक्तः उरुश्चासौ हारश्च
 तथोक्तः स्तनतट्टुटितश्चासौ उरुहारश्च स्तनतट्टुटितोरुहारः स्रस्ताश्च ते अवकीर्णाश्च
 स्रस्तावकीर्णाः स्तनतट्टुटिनोरुहारात् स्रस्तावकीर्णाः विद्रुमाश्च मौक्तिकाश्च विद्रुम-
 मौक्तिकाः नवाश्च ते विद्रुममौक्तिकाश्च नवविद्रुममौक्तिकाः स्तनतट्टुटिनोरुहारस्रस्ता-
 वकीर्णाश्च ते नवविद्रुममौक्तिकाश्च तथोक्ताः तेषामाभाः कुचप्रदेशवृत्तपृथुहाराच्छिथि-
 लितविकीर्णनूतनप्रवालमुक्ताफलसदृशाः । गोत्रारिगोपकरका गोत्रारिगोपाश्च करकाश्च
 तथोक्ताः इंद्रगोपकिमिश्रयोपलाः । धरायां भूमौ । व्यरुचन् विशेषेण रेजुः । रुचि अभिप्रीत्यां च
 लुङ् “द्युद्वयोलुङ्” परस्मैपदम् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥२२॥

भा० अ०—बर्षा-काल-रूपी बल्लभ से आलिंगित आकाश-लक्ष्मी के स्तन-प्रदेश से टूटी
 हुई माला के गिरे हुए नये मोती और मूंगे की सी आभा वाले इन्द्र कीट तथा ओले पृथ्वी
 पर चमकने लगे । २२ ।

आलप्य खल्वतितरां चतुरैरमुष्मिन्नारूढधन्वनि सतामवमानहेतौ ॥

काले हि राजविकले कलुषात्मनीति कामं पिकोऽभवदुरीकृतमूकभावः ॥२३॥

आलप्येत्यादि । पिकः कोकिलः । आरूढधन्वनि आरूढ्यतेस्म आरूढं आरूढं धन्व
यस्मिन् तस्मिन् आरूढधनुष्मति कलहन्त्पर इत्यर्थः पक्षे प्ररूढेन्द्रायुधवति । सतां सत्पुरु-
षाणां पक्षे नक्षत्राणां । “सत्प्रशस्ते विद्यमाने त्रिषु ख्रीसत्यतारयोः” इति शाश्वतः । अवमानहेतौ
अवमानस्य हेतुस्तथोक्तः तस्मिन् तिरस्कारकारणे । राजविकले राज्ञा विकलस्तथोक्त-
स्तस्मिन् उत्तमक्षत्रियहाने पक्षे चंद्रप्रभारहिते “राजा चंद्रमहीपत्योः” इति धनंजयः । कलुषात्मनि
कलुष आत्मा यस्य तस्मिन् पापात्मनि पक्षे मल्लिमसस्वभावे । अमुष्मिन् काले पक्षे एत-
द्वर्षाकाले । चतुरैः पंडितमनोरंजननिपुणैः पक्षे पंचमध्वनिनिपुणैः । अतितरां अत्यंतं ।
आलप्य आलपनं पूर्व० उक्त्वा । खलु “निपेधेऽलं खलौ त्वक्केति” क्त्वा प्रत्ययः । “त्वक्कोऽनघःप्यः”
इति प्यादेशः । “निपेधवाक्यालंकारजिज्ञासानुनये खलु” इत्यमरः । एवमाशयेन । दूरीकृतमूक-
भावः दूरीक्रियतेस्म दूरीकृतः मूकस्य भावो मूकभावः दूरीकृता मूकभावां यंन सः अर्गाकृत-
मौननियमः । कामं पर्याप्तं । “कामं प्रकामं पर्याप्तम्” इत्यमरः । अभवत् भू सत्तार्यां लङ् ॥ २३ ॥

भा० अ०—कलह-तत्पर अथवा इन्द्र-चाप-युक्त, सज्जनों अथवा नक्षत्रों के अपमान
के कारण उत्तम राजहीन अथवा चन्द्र-प्रकाश से रहित पापात्मा अथवा कृष्णता-युक्त
इस वर्षाअनु में कोकिलने पंचम राग से मनमाना कूजन कर अब एकदम चुप्पा साधली । २३ ।

प्रत्युन्मिषन्नवकदंबरजोभिरुच्चैश्चित्रं दिग्बरहृदप्यनुरक्तमाशु ॥

चित्तान्यरंजयत रागिजनस्य तस्यत्याश्रयं सत् किमु पश्चिमगंधवाहः ॥ २४ ॥

प्रत्युन्मिषाम्रित्यादि । अत्र प्रावृषि । पश्चिमगंधवाहः पश्चिमध्वासौ गंधवाहश्च तथाक्तः
पश्चिमवायुः । प्रत्युन्मिषन्नवकदंबरजाभिः प्रत्युन्मिषन्तां प्रत्युन्मिषन्न नवध्वासौ
कदंबश्च नवकदंबः प्रत्युन्मिषन्ध्वासौ नवकदंबश्च तथाक्तः प्रत्युन्मिषन्नवकदंबस्य रजां-
सि तैः विकसत्कुसुमनूतननीपवृक्षस्य रजोभिः । दिग्बरहृदोप दिश एवांबरं एषां तै दिग्-
बरास्तेषां हत् चित्तं तदपि पक्षे दिशश्च अंबराणि च दिग्बराणि तेषां हृदंतर्भागो मुनीन्द्र-
हृदयमपि पक्षे दिगाकाशमध्यमपि । उच्चः अधिकं । आशु शाश्वं । अनुरक्तं अनुरज्यतेस्मानुरक्तं
प्रीणति पक्षे अरुणितं । चक्रे विद्धे । तस्य प्रसिद्धस्य । रागिजनस्य रागोऽस्यास्तांति रागी
स चासौ जनश्च रागिजनस्तस्य कामुकजनस्य । चित्तानि मनांसि । अरंजयत अप्रीणयत् । इति
एवं तत् । आश्चर्यं किमु अद्भुतं किं चित्रं न भवति इति यावत् ॥ २४ ॥

भा० अ०—जब पश्चिमी वायु ने विकसित नूतन कदम्ब-पुष्प के परागों से आकाश
के मध्यभाग अथवा दिग्बर मुनियों के चित्त को बहुत शोघ्र अधिक अनुरक्त कर लिया
तब भला वह कामी जनों के हृदय को अनुरंजित करे तो क्या आश्चर्य है । २४ ।

इत्यंबुवाहसमयोऽपि विजृंभमाणा वज्रानलं जनपदेषु ससर्ज नेषत् ॥

चक्रेऽतिवृष्टिमितरां न च दुर्दिनानि तस्य द्रुमूलगतलोकपतेः प्रभावात् ॥ २५ ॥

इत्येत्यादि । इति एवं प्रकारेण । विजृंभमाणः प्रवर्धमानः । अंबुवाहसमयोऽपि अंबु वहतीत्यंबुवाहः स चासौ समयश्च तथोक्तः वर्षाकालोऽपि । द्रुमूलगतलोकपतेः द्रोमूलं द्रुमूलं तद्गच्छतिस्म द्रुमूलगतः लोकस्य पनिर्लोकपतिः द्रुमूलगतश्चासौ लोकपतिश्च द्रुमूलगतलोकपतिस्तस्य वृक्षमूलस्थितजिनेश्वरस्य । प्रभावात् सामर्थ्यात् । जनपदेषु देशेषु । ईपत् स्तोत्रं च । वज्रानलं वज्रस्यानलो वज्रानलस्तं वज्राग्निः । “वज्रं हीरकदंभोलिबालकामलकेषु च” इति विश्वः । न ससर्ज न चकार । सृज विसर्गे लिट् । अतिवृष्टिं अधिकवृष्टिं । इतरां अनावृष्टिं । दुर्दिनानि च मेघछन्नदिनानि च । न चक्रं न विदधे ॥ २५ ॥

भा० अ०—यों बहुत बड़े चढ़े हुए भी वर्षा-काल ने वृक्ष के नीचे स्थित भ्रांजिनेन्द्र देव के प्रभाव हा से देशों में सभा जगह वज्रगत, अतिवृष्टि, अनावृष्टि तथा दुर्दिन आदि बाधायें संघटित नहीं कीं । २५ ।

सुश्लिष्टकांतमथ सीत्कृतगर्भकंठं निस्स्वेददीर्घसुरतं स्वदमानवह्नि ॥

कर्पूरखंडविकलक्रमुकोपभोगं कश्चिद्भव विषयः समयो जनानां ॥ २६ ॥

सुश्लिष्टेत्यादि । अथ प्रावृष्टकालानंतरं । कश्चित् कोऽपि समयोऽपि । कालः हिमकाल इत्यर्थः । सुश्लिष्टकांतं कांता च कांतश्च कांतौ एकशेषः सुश्लिष्येतेस्म सुश्लिष्टौ कांतौ यस्मिन् कर्मणि तत् गाढालिङ्गितदंपति यथा तथा । सात्कृतगर्भकंठं सात्कृतमेव गर्भं यस्य सः तथोक्तः सात्कृतगर्भः कंठो यस्मिन् कर्मणि तत् सात्कारानसहितगलयुक्तं यथा तथा । “सात्कृतं भणितं कामे” इति धनंजयः अनुकरणध्वनिः । निःस्वेददार्घसुरतं स्वेदाग्निर्गतं निःस्वेदं दीर्घं च तत् सुरतं च तथोक्तं निःस्वेदं दार्घसुरतं यस्मिन्कर्मणि तत् घर्मरहिनायनतिधुवनं यथा तथा । स्वदमानवह्नि स्वदते इति स्वदमानः स्वदमानो वह्निर्यस्मिन् कर्मणि तत् अंगकृताग्नियुक्तं यथा तथा । कर्पूरखंडविकलक्रमुकोपभोगं कर्पूरस्य खंडं तथोक्तं कर्पूरखंडेन विकलः कर्पूरखंडविकलः क्रमुकोपभोगः क्रमुकोपभोगः कर्पूरखंडविकलः क्रमुकोपभोगो यस्मिन् कर्मणि तत् शीतहेतुत्वेन घनसारखंडरहितक्रमुकोपभोगयुक्तं यथा तथा । जनानां लोकानां । विषयः गोचरः । “विषयः स्याद्विद्रियार्थं देशे जनपदेऽपि च । गोचरे च प्रबन्धाद्यो यस्य ज्ञातस्तु तत्र च” इति विश्वः । भूभव भवतिस्म भू सत्तायां लिट् । रूपकः ॥ २६ ॥

भा० अ०—वर्षा-काल के बाद परस्पर दम्पती को आलिङ्गन कराती हुई, अत्यन्त ठंडक सूचित करने वाला सात्कार (सी सीसी ऐसी ध्वनि) गलेसे निकलवाती हुई, और अधिक

देर तक संभोग होते रहने पर भी खेद (पसीना) का अभाव दिखलानी हुई कर्पूर रहित सुपारी के म्बेवनोपयुक्त हेमन्त ऋतु लोगों की दृष्टि-गोचर हुई । २६ ।

उच्चाटनाय शरदः सितमर्षपौघो निर्दग्धुमब्जनिलयानिलयं तुषाग्निः ॥

आलंभचूर्णमसहायजनस्य कामं प्रालेयसीकरमिषेण कुतोऽप्यपतत् ॥ २७ ॥

उच्चाटनायेत्यादि । शरदः शरत्कालस्य । उच्चाटनाय उच्चाटनकर्मनिमित्तं । सित-सर्षपौघः सिताश्च ते सर्षपाश्च सितसर्षपास्तेषामोघस्तथोक्तः सिद्धार्थसमूहः । अब्जनिलया-निलयं अब्जमेव निलयो यस्यास्सा तथोक्ता अब्जनिलयाया निलयस्तथोक्तः स्तं लक्ष्मीनिवासं कमलमित्यर्थः । रूपकः । निर्दग्धुं निःशेषं दहनाय । तुषाग्निः तुषस्याग्निस्तथोक्तः पलालाग्निः । असहायजनस्य न विद्यते सहायो यस्य सः असहायः स चासौ जनश्च असहायजनस्तस्य अस-हायजनस्य वियोगिजनस्य । आलंभचूर्णं आलंभार्थं चूर्णं तथोक्तं मारणचूर्णं । “आलंभपि-जविशरघ्रातोन्माथवधा अपि” इत्यमरः । प्रालेयसीकरमिषेण प्रालेयस्य सीकरास्तथोक्ताः प्रालेयसीकरा इति मिषं प्रालेयसीकरमिषं तेन हिमकणव्याजेन । “मिषं गजनिमीलनम्” इत्य-भिधानात् । कुतोऽपि कस्मादपि । अपतत् अपतत् । पत्तृ गतौ लुङ् । “शर्तिशास्ति” इत्या-दिना अज् प्रत्ययः । “श्वयत्यश्वचप्रनेऽङ्यथ गुप्पम्” इति पमागमः ॥ २७ ॥

भा० अ०—शरत्काल के उच्चाटन के लिए उजले सरसो, कमल को जलाने के लिए तुषाराग्नि और जनो के लिए मृत्युचूर्ण ओस-के बिन्दू के वहाने न मालूम कहां से आ जुटे । २७ ।

रेजुःप्रभातसमयेषु लतावनद्धाः क्षौराःरुद्रस्तुहिनवारिकणैर्विकीर्णैः ॥

आलिङ्गितस्तवकचारुकुचा रतांतप्रादुर्भवद्भिरिव घर्मलवैर्युवानः ॥ २८ ॥

रेजुरित्यादि । प्रभातसमयेषु प्रभानान्येव समयाः प्रभातसमयास्तेषु विभातकालेषु । लतावनद्धाः अवनह्यतेस्म अवनद्धाः लताभिरवनद्धास्तथोक्ताः बहुरीसंबद्धाः । आलिङ्गित-स्तवकचारुकुचा चारु च तौ कुचौ च चारुकुचौ स्तवका एव चारुकुचौ आलिङ्ग्येतेस्म आलिङ्गितौ स्तवकचारुकुचौ यैस्ते तथोक्ताः परिभगुच्छकमनोरमस्तनाः “स्याद् गुच्छक-स्तु स्तवकः” इत्यमरः । क्षोणीरुद्रः क्षोण्यां भूम्यां रुहंतीति विवंतो हकारांताः वृक्षाः । विकी-र्णैः विप्रकीर्णैः । तुहिनवारिकणैः वारिणां कणाः वारिकणाः तुहिनस्य वारिकणाः तैः हिमजलशीकरैः । रतांतप्रादुर्भवद्भिः रतस्यांतं रतांतं प्रादुर्भवन्तीति प्रादुर्भवन्तः रतांति प्रादुर्भवन्तः तथोक्तास्तैः निधुवनावसानाविर्भवद्भिः । घर्मलवैः घमस्य लवा घर्मलवास्तैः स्वेद-बिंदुभिः । युवान इव तरुणा इव । रेजुः बभुः । राज् दीप्तौ लिट् ॥ २८ ॥

भा० अ०—प्रातःकाल में लताओं से लिपटे हुए तथा गुच्छरूपी सुन्दर कुर्चों का आलिंगन किए हुए वृक्ष विंगरे हुए ओस के बिन्दुओं से संभोगान्त में निकले हुए पसीने के कणों से युवक गण के समान सोमने लगे । २८ ।

कालेऽत्र तीव्रहिमभाजि न वासरेंद्रसांद्रांशुकोऽपि सहतेऽस्मि हिमाद्रिवासाम् ॥

दूरस्थमप्यथ ययौ मलयाचलेंद्रं गोशीर्षकोटरफणिश्वमितैः कवोष्णम् ॥ २६ ॥

काल इत्यादि । तीव्रहिमभाजि तीव्रं च तत् हिमं च तथोक्तं तीव्रहिमं भजतिस्म तीव्र-
हिमभाग् तस्मिन् तीव्रहिमभाजि निष्पृग्हिमसहिते । अत्र अस्मिन् । काले समये । सांद्रां-
शुकोऽपि सांद्रमंशुकं यस्य सोऽपि दृढवस्त्रवानपि पक्षे सांद्रोऽशुर्कस्य स तथोक्तः घनकि-
रणोऽपि । वासरेंद्रः वासरस्येंद्रस्तथोक्तः सूर्यः । हिमाद्रिवासं हिमेन युक्तोऽद्रिर्हिमाद्रिः
हिमाद्रिवासस्तथोक्तः तं हिमवत्पर्वनस्थितिं । न सहतेऽस्मि न मर्षतिस्म । पर्व मर्षणे “स्मे च लिट्”
इति भूतार्थे लट् । अथ अनंतरे । दूरस्थमपि विप्रकृष्टदेशस्थितमपि । गोशीर्षकोटरफणिश्व-
सितैः गोशीर्षस्य कोटरं तथोक्तं गोशीर्षकोटरे स्थिताः फणिनः गोशीर्षकोटरफणिनस्तेषां
श्वसिनास्तथोक्तास्नैः श्रीगंधर्वश्वकोटरस्थितसर्पनिश्रवासैः । कवोष्णं ईषदुष्णं कवोष्णं तथा
“काकवौचोष्णे” इति कोः कवादेशः । मलयाचलेंद्रं मलयाश्च ते अचलाश्च मलयाचलास्तेषा-
मिंद्रो मलयाचलेंद्रस्तं यद्वा अचलानामिंद्रस्तथोक्तः स चासाविंद्रश्च मलयाचलेंद्रस्तं । ययौ
प्राप । या प्रापणे लिट् ॥ २६ ॥

भा० अ०—इस मध्य-कालीन निष्पृग् हेमन्त ऋतु में अत्यन्त सघन किरण-रूप वस्त्र
युक्त होते हुए भी सूर्य हिमाचल पर्वतर नहीं रह सके, पृत्युत अत्याधिक दूरस्थ होत हुए
भी चन्द्रन वृक्ष के खोखले में बैठे हुए साँपों के फुंकारों से कुछ कुछ उष्ण मलयाचल पर्वत
को चल दिये । २६ ।

लौघ्रेणा सौरभसनद्रितदिङ्मुखेन रेणोत्करेण पिहितानि वनानि रेजुः ॥

लोकातिदुःमहमहस्यभयादिवात्तपत्रांगचारुनगभूरिनिशारकाणि ॥ ३० ॥

लौघ्रेणेत्यादि । सौरभसनद्रितदिङ्मुखेन सौरभेण सनद्रितं सौरभसनद्रितं दिशां
मुखं दिङ्मुखं सौरभसनद्रितं दिङ्मुखं यस्य सः सौरभसनद्रितदिङ्मुखस्तेन परिमलव्याप्त-
दिविवरेण । लौघ्रेण लोघ्रस्याथ लौघ्रस्तेन लौघ्रसंबन्धिना । “गालवः शाबरो लोघ्रस्तिरीट-
स्तिव्वमार्जनौ” इत्यमरः । रेणोत्करेण रेणूनामुत्करो रेणूत्करस्तेन । पिहितानि अपिध्रीयं-
तेस्म पिहितानि आच्छादितानि । वनानि अरण्यानि । लोकातिदुःसहसहस्यभयात् अनि-
दुःखेन महता कष्टेन सन्नत इति दुःसहस्तथोक्तः लोकर्कतिदुःसहस्तथोक्तः स चासौ सहस्र
लोकातिदुःसहसहस्तस्य भयं तस्मात् “पौषे तैषसहस्यौ द्वौ” इत्यमरः । जनातिदुःसहसहिष्णुहिम-

कालस्य भीतिः । आप्तपत्रांगचारुतरभूरिनिशारकाणीव आदीयन्तेस्म आस्ताः निशार एव निशार-
रकाः भूरथश्च ते निशारकाश्च भूरिनिशारकाः प्रकृष्टाश्चारुश्चास्तदाः पत्रांगेण चारुतराः पत्रा-
गचारुतराः आस्ताः पत्रांगचारुतराः भूरिनिशारका यैस्तानि तथोक्तानीव “निशारः स्यात्प्रा-
वरणे हिमानिलनिवारणे” इत्यमरः । स्वोक्ततरागविशेषा मनोहरबहुलाच्छादनवक्रवत्य
इव । रेजुः बभुः । राज् दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ ३० ॥

भा० अ०—सुगन्ध से सभी दिशाओं को व्याप्त किए हुए ऐसे लोध के परम-पुंज से
आच्छादित वन लोगों के लिए अत्यन्त दुस्सह हेमन्त ऋतु के भय से मानों विविध रंग के
वेष्टनों से आवेष्टित से सोभने लगे । ३० ।

संतापिता रतिपतेस्त्रिजगज्जयार्थं नाराचिका सुनिशिता इव निर्विचारम् ॥

कातर्यमंबुजदृशो दिदिशुर्जनानां काश्मीरेणु कलितांगलता हिमती ॥ ३१ ॥

संतापिता इत्यादि । हिमतीं हिमश्चासौ ऋतुश्च हिमर्तुस्तस्मिन् हेमंतकाले । काश्मीर-
रेणुकलितांगलताः काश्मीरस्य रेणुः तेन कलिता अंगमेव लता तथोक्ता काश्मीरेणु-
कलिता अंगलता यासां तास्तथोक्ता कुंकुमपरागोद्भूतितद्देहयष्टयः । अंबुजदृशः अंबुजमिव
दृशौ यासां तास्तथोक्ताः सरोजाक्षयः । रतिपतेः रत्याः पतिः रतिपतिः तस्य कामस्य । त्रिजग-
ज्जयार्थं त्रीणि च तानि जगंति च त्रिजगंति तेषां जयस्तथोक्तस्त्रिजगज्जयाय त्रिजगज्जयार्थं
लोकत्रयजयनिमित्तं । संतापिताः संताप्यन्तेस्म संतापिताः । सुनिशिताः अधिकतदक्षणाः ।
नाराचिका इव अयोनाराचा इव । जनानां लोकानां । निर्विचारं विचाररहितं । कातर्यं कात-
रस्य भावः कातर्यं अधीरत्वं । दिदिशुः दधतिस्म । दिश अतिसज्जं लिट् ॥ ३१ ॥

भा० अ०—हेमन्त ऋतु में केसर की धूला से परिलिप्त अंगलतिका वाली और कमल
कीसी आंख वाली युवतियां त्रिभुवन को जातने के लिये कामदेव के अत्यन्त ताक्ष्ण तथा
सन्तप्त लोहे के अस्त्र के समान त्रिवार रहित होकर लोगों को अधार करने लगा । ३१ ।

कांतावियोगदहनेन नितांतदग्धाः पांथास्तुषारपतनेन विशीर्यदंगाः ॥

ऊष्मायमाणवदनाः श्रसितैरशंकं चूर्णोपलास्समभवन्सलिलोपसिक्ताः ॥ ३२ ॥

कांतेत्यादि । कांतावियोगदहनेन कांतायाः वियोगः कांतावियोगः स एव दहनः
कांतावियोगदहनस्तेन वनितावियोगाग्निना । रूपकः । नितांतदग्धाः दह्यन्तेस्म दग्धाः
नितांतं दग्धास्तथोक्ताः अत्यंतं दग्धाः । तुषारपतनेन तुषारस्य पतनं तेन हिमस्य पतनेन ।
विशीर्यदंगाः विशीर्यन्तीति विशीर्यन् विशीर्यदंगं येषां ते तथोक्ताः बाध्यमानावयवाः । श्रसितैः
उच्छ्वासैः । ऊष्मायमाणवदनाः, ऊष्माणमुद्भमतीत्युष्मायते ऊष्मायते इति ऊष्मावमाणं

वदनं येषां ते तथोक्ताः ऊष्णोद्दमदाननाः “वाष्पोष्मफेनादुद्दमि” इति त्यङ् प्रत्ययः । पांथाः पंथानं नित्यं यांताः पांथाः “नित्यं णः पंथश्च” इति ण प्रत्ययः पंथादेशश्च पथिकजनाः । सलिलो-पसिकाः सलिलेनोपसिकाः तथोक्ताः जलेनोपसिकताः । चूर्णोपलाः चूर्णस्योपलाः चूर्णोपलाः सुधाश्रमानः । “चूर्णं क्षोदे क्षारभेदे चूर्णा निवासयुक्तिषु” इति विश्वः । अशंकं न विद्यते शंका यस्मिन्कर्मणि तत् निस्संदेहं यथा तथा । समभवन् समभूवन् । भू सत्तायां लङ् । मन्मथाकुलिताः बभूवुरितिभावः ॥ ३२ ॥

भा० अ०—पथिकगण अपनी कान्ता के विरह से अत्यन्त दग्ध होते हुए ठंडक पड़ने-से जड़ी भूत (विशोर्ण) अंगवाले हो नत्पश्चात् आह भरने से सवाष्प मुख होते हुए जल-से सींचे गये चूने के पत्थर के समान होगये । ३२ ।

सत्यं तुषारपटलैः शमिनो न रुद्धाः सिद्धेः पुनः परिचयाय हिमर्तुलक्ष्म्या ॥

छन्ना दुकूलवसनैर्नु पटीरपंकैर्लिप्ता नु मौक्तिकगुणैर्यदि भूषिता नु ॥ ३३ ॥

सत्यमित्यादि । शमिनः शममस्त्येपामिति शमिनः यतयः कायोत्सर्गस्थिता इति शेषः । तुषारपटलैः तुषाराणां पटलानि तुषारपटलानि तैः हिमसमुदायैः “समूहे पटलं न ना” इत्यमरः । रुद्धाः रुध्यतेस्म रुद्धाः आवृताः । न भवन्ति । सत्यं तथ्यमेव । पुनः पश्चा-त्किमिति चेत् । सिद्धेः मोक्षलक्ष्म्याः । परिचयाय संगनिमित्तं । हिमर्तुलक्ष्म्या हिमश्चासौ ऋतुश्च हिमर्तुः स एव लक्ष्मास्तथोक्ता तथा हेमर्तुस्त्रिया । दुकूलवसनैः दुकूलानि च तानि वसनानि च तैः क्षामवस्त्रैः । छन्नाः छाद्यतेस्म छन्नाः संवृताः । नु किमु । पटीरपंकैः पटीरस्य पंकाः पटीरपंकाः तैः श्रागंधकदर्पैः । लिप्ताः लिप्यन्ते स्म लिप्ताः उपाद्रग्धाः । नु किमु । यदि चेत् । मौक्तिकगुणैः मौक्तिकानां गुणा मौक्तिकगुणास्तैः मुक्तामालाभिः । “मौर्व्याप्रधानपारदेन्द्रियसूत्रसत्त्वादिसंज्ञादिहरितादिषु” इति नानार्थरत्नकोशः । भूषिताः भूष्यतेस्म भूषिताः अलंकृताः । नु किमिति संशयः “नु पृच्छ्यां वितर्के च” इत्यमरः ॥ ३३ ॥

भा० अ०—खड्गासन-पूर्वक स्थित यनिगण हिमसमूह से आच्छन्न है ? या मोक्षलक्ष्मी का साथ करने के लिये हेमन्त-श्री के द्वारा महीन कपड़े से ढके गये तो नहीं है या श्रीचन्दन से उपलिप्त तो नहीं है अथवा मुक्ता-माला से तो भूषित नहीं हैं ? अर्थात् कायोत्सर्ग से खड़े हुए मुनिगणों की देह पर शीतकाल में तुषारपात होने से कवि उत्प्रेक्षा कर-ते हैं कि चन्दन-लिप्त, मणिहार-भूषित अथवा समुज्ज्वल दुकूलाच्छन्न तो ये मुनिगण नहीं हैं । ३३ ।

इत्थं सुदुस्सहतुषारतुषावपातैर्निर्दग्धनीरजकुले समयेऽपि तस्मिन् ॥

मलालानि नैव कमलानि महानुभावो यस्याः स्थितः स भगवान् सरितः प्रतीरे ॥३४॥

इत्थमित्यादि । इत्थं अनेन प्रकारेण “कथमित्थमुः” इति साधुः । सुदुस्सहतुषार-
तुषावपातैः सुष्ठु दुःखेन महता कष्टेन सुसह्यत इति सुदुस्सहः स चासौ तुषारश्च तथोक्तः
सुदुःसहतुषारस्य तुषास्तयोक्तास्तेषामवपातास्तैः मोदुमशक्यहिमदेशपतनैः । निर्दग्ध-
नीरजकुले निर्दह्यतेस्म निर्दग्धं नीरे जायंत इति नीरजानि तेषां कुलां निर्दग्धनीरजकुलां
यस्मिन्तस्मिन् निःशेषमस्मीकृतकमलयूथयुक्ते । तस्मिन् समये हिमकाले । यस्याः कस्याश्चि-
त् । सरितः सरोवरस्य । प्रतीरे तटे “कुलां रोधश्च तीरं च प्रतीरं च तटं त्रिषु” इत्यमरः । महानुभावः
महाननुभावो यस्य सः तथोक्तः उत्कृष्टसामर्थ्यसहितः । सः भगवान् ज्ञानवैराग्यसंपन्नः ।
स्थितः निष्ठितस्म स्थितः । यत्र कमलानि सरोजानि । मलालानि “कलयोः” इत्यादिना कवस्य नः
हर्षरहितानि । नैव नैवाभवन् ॥ ३४ ॥

भा० अ० — यो असह्य तथा जोरों की ठंडक पड़ने से सभी कमलों को इलाने वाले
भा० इस शीतकाल में महा प्रनापशाली यह श्रीमुनिसुवत नाथ स्वामी जिस नदी के तीर पर
पधार ते थे वहां के कमल कर्मा म्लान नहीं होते थे । ३४ ।

कायक्लेशाभिधाने तपमि जिनपातनिष्ठितो वृषिकम् ।

बाह्यान्तर्विग्रहद्वादशविधतपसां मध्यमेऽप्यग्र इत्थम् ॥

दीक्षाकल्याणमादौ ममभवदभवद्यत्र तत्रैव भूयो ।

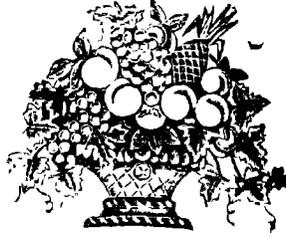
नीलाग्राये शरग्राये भवचक्रितधियामान्तपुग्राये वरग्राये ॥३५॥

कायेत्यादि । जिनपतिः मुनिसुवतार्हदीश्वरः । बाह्यान्तर्विग्रहद्वादशविधतपसां बाह्यं
च अन्तरं च बाह्यान्तरे ते एव विग्रहो येषां द्वाभ्यामधिका दश द्वादशविधा येषां तानि द्वादश-
विधानि तानि च तानितपांसि च तथोक्तानि बाह्यान्तर्विग्रहाणि च तानि द्वादशविधा तपांसि च
बाह्यान्तर्विग्रहद्वादशविधतपांसि तेषां बहिरंगान्तरंगद्वादशभेदतपसां । मध्यमेऽपि मध्ये भवं
मध्यमं तस्मिन् “मध्यान्मः” इति म प्रत्ययः मध्येगतेऽपि । अग्रे उत्तमे उपरि गते च । “अग्र-
मालंबने व्राने परिमाणे पलस्य च । प्रांते पुरस्तादधिको प्रधाने प्रथमोऽध्वयोः इति” विश्वः काय-
क्लेशाभिधाने कायस्य क्लेशस्तथोक्तः कायक्लेश इत्यभिधानं यस्य तत्तस्मिन् कायक्लेशनाम-
श्रेये । तपमि तपश्चरणे । इत्थं अनेन प्रकारेण इत्थं । एकं वर्षं एकवर्षपर्यन्तं “यात्याध्वनोर्व्या-
सौ” इति द्वितीया । निष्ठितः निस्तिष्ठतिस्म निष्ठितः निष्पन्नः । यत्र यस्मिन्वने । आदौ पूर्वस्मिन् ।

दीक्षाकल्याणं दीक्षायाः कल्याणं तथोक्तं परिनिष्क्रमणकल्याणं । समभवत् समजायत ।
तत्रैव तस्मिन्नेव । भवचकितधियां भवे भवाद्वा चकिताधीर्येषां तेषां संसारभीतबुद्धिनां ।
शरण्ये रक्षणभूते । “शरणं गृहरक्षित्रोः” इत्यमरः । आसपुण्ये आदीयतेस्म आसत् पुण्यं
यस्मिन् भव्योपार्जितसुकृते । वरेण्ये उभयकल्याणनिलयत्वादुत्कृष्टे । “मुख्यवर्यवरेण्याश्च”
इत्यमरः । नीलारण्ये नीलं च तत् अरण्यं च नीलारण्यं तस्मिन् नीलवने । भूयः पूर्वव-
त्पुनश्च । इत्थं वक्ष्यमाणरीत्या । अभवत् भूसत्तायां लङ् ॥ ३५ ॥

भा० अ०—मुनिसुव्रतनाथ स्वामी बाह्य तथा आभ्यन्तर बारह प्रकार की तपस्या के
मध्य होते हुए भी सर्वोत्तम कायकेश नामक तपश्चरण में यों एक वर्ष तक सज्ज थे तदन-
न्तर पहले जहां इनका दीक्षाकल्याणक हुआ संसार से त्रस्त जीवों के शरणद तथा सुकृ-
तिलभ्य श्रेष्ठ उसी नीलवन में बह रहे । ३५ ।

इत्यर्हदासकृतेः काव्यरत्नस्य टीकायां सुखबोधिन्यां भगवत्तपोवर्णनो नाम नवमः सर्गः



अथ दशमः सर्गः ।

श्रीमंतमेनमखिलार्चितमात्मधाम प्राप्तं स्वयं सपदि तद्वनभृजषण्डम् ॥

शाखाकरेषु धृतपुष्पफलप्रदानमामीदिवार्चयितुमुद्यतमादरेण ॥१॥

श्रीमंतमित्यादि । आत्मधाम आत्मनो धाम आत्मधाम पुनस्तत् परमात्मभावं “गृह-
देहत्विट्प्रभावा धामानि” इत्यमरः । स्वयं आत्मनैव । प्राप्तं प्राप्तोक्तिस्म प्राप्तं कर्तरि क्तः । श्रीमंतं
श्रीरस्यास्तीति श्रीमान् तं उभयलक्ष्मीनायकं । अखिलार्चितं अखिलैरर्चितंस्तं समस्त-
नृसुरार्चितं । एतं मुनीशं मुनिसुव्रततीर्थाधिनाथं । तद्वनभृजषण्डं तच्च तत् वनं च तद्वनं
भुवि जायंत इति भूजाः तद्वनस्य भूजाः तद्वनभूजाः तेषां षण्डं पुनस्तत् नीलवनवृक्षकदंबं । आद-
रेण भक्त्या । अर्चयितुं अर्चनाय अर्चयितुं पूजयितुं । उद्यतमिव उद्युक्तमिव । सपदि शीघ्रेण ।
शाखाकरेषु शाखा एव कराः तेषु शाखाहस्तेषु । रूपकः । धृतपुष्पफलप्रदानं पुष्पाणि च फ-
लानि च पुष्पफलानि तेषां प्रदानं तथोक्तं धृतं पुष्पफलप्रदानं येन तत्तथोक्तं आस्तकुसुम-
फलनिचयं । आसीत् अभवत् अस भुवि लङ् । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ १ ॥

भा० अ०—सबों से पूजित तथा परमात्म-भाव को प्राप्त श्रीमुनिसुव्रत नाथ को मानो
आदर के साथ अर्चना करने के लिये ही उस नील वनके सभी वृक्ष-समूह शाखारूपी हाथों
में पुष्प और फल लिये हुए स्वयम् उद्यत थे । १ ।

तस्यैव कीलकलनाः किमु पल्लवानि तस्य स्फुलिंगनिकरो ननु कुड्मलानि ॥

तस्यैव धूमविततिरेव पुनर्द्विरेफा गत्वा वने यमनलं मदनो निमग्नः ॥ २ ॥

तस्येत्यादि । वने नीलवने । मदनः रतिपतिः । यं अनलं यद्दधानाग्निं । गत्वा मोहा-
दुपेत्य । निमग्नः निपतितः । तस्य ध्यानाग्नेः । कीलकलना एव कीलानां कलनाः कल इति
धातुः कवीनां कामधेनुः ज्वालाफलापा एव । पल्लवानि किसलयानि । किमु किं वा । तस्य यद्दधाना-
नानलस्य । स्फुलिंगनिकरः स्फुलिंगानां निकरस्तथोक्तः अग्निकणगणः । कुड्मलानि मुकुला-
नि । ननु किंवा । पुनः तस्य ध्यानाग्नेः । धूमविततिरेव धूमानां विततिर्धूमविततिस्तथोक्ता
धूमराजिरेव । द्विरेफाः भ्रमराः । न भवन्ति । अपह्नु त्यलंकारः ॥ २ ॥

भा० अ०—उस नीलारण्य में जिस मुनिसुव्रत नाथ की ध्यानाग्नि में गिर कर मदन-
स्वयं भस्मी भूत हो गये उसी की अग्नि-ज्वाला तो ये पत्तियाँ नहीं हैं ? उसकी चिनगारी-
शायद ये कलियाँ हों और उसके धूमसमूह ही संभवतः ये भ्रमर हैं । २ ।

अरिमन्नमूनि न पलाशदलान्यधारेरुद्वेलशांतरससागरविद्रुमा नु ॥

वान्ता मृगैश्चिरविरोधलवा मिथो नु वन्यैरुततार्चनमणिप्रकरानुरेजुः ॥३॥

अस्मिन्नित्यादि । अस्मिन् एतस्मिन्वने । अमूनि इमानि । पलाशदलानि पलाशानां दलानि तथोक्तानि किंशुकपुष्पदलानि । न न भवति । अघारेः अघानां अरिस्तथोक्तस्त्वस्य पापारिजि-
नेशस्य । उद्वेलशांतरससागरविद्रुमाः शांतस्य रसस्तथोक्तः शांतरस एव सागरः शांतरस-
सागरः वेलासुद्रत उद्वलेस्म चासौ शांतरससागरश्च उद्वेलशांतरससागरः तस्य
विद्रुमाः तथोक्ताः । नु “नु प्रश्नं च वितर्कं च” इत्यमरः । मृगैः । वान्ताः वाम्यनेस्म वान्ताः
मुनीन्द्रसन्निधिवशात् उद्गीर्णाः । मिथः अन्योन्यं । चिरविरोधलवाः विरोधानां लवाः
तथोक्ताः चिरं स्थिताः विरोधलवास्तथोक्ताः बहुलस्थितविरोधवणाः । नु किमु ।
वन्यैः वने भवाः वन्यास्तैः वनवासिभिः । ततार्चनमणिप्रकराः तन्यनेस्म तताः अर्चनाय
योग्या मणयस्तथोक्तास्तेषां प्रकराः अर्चनमणिप्रकराः तताश्च ते अर्चनमणिप्रकराश्च
तथोक्ताः विस्तृतपूजायोग्यरत्नविशराः । किमु नु रेजुः बभुः । गज्ज् दीप्तौ लिट् । संशया-
लंकारः ॥ ३ ॥

भा० अ०— इस नील वन में ये पलाश पुष्प नहीं हैं बल्कि अघ-विनाशक श्रीजिनेन्द्र-
भगवान के उद्वेलित शान्तरसमहोदधि के मूगे हैं ? अथवा हरिणों से उद्गीर्ण किये हुए
चिरसञ्चित पारस्परिक विरोधांश तो नहीं हैं ? या वनवासियों से विखराये गये अर्च-
नार्थ मणिसमूह तो नहीं सोभ रहे हैं । ३ ।

अध्याम्य चंपकतरंगस्तलमात्तषष्ठो धर्म्याणि बिभ्रदवलंबितशुभ्रलेश्यः ॥

शुद्धात्मतत्त्वमिव जातविवर्तमीशो ध्यानं दधे दुरितदूननचुंचु शुक्लं ॥४॥

अध्यास्येत्यादि । चंपकतरंगः चंपकश्चासौ तरुश्च चंपकतरुः तस्य हेमपुष्पवृक्षस्य ।
तलं मूलं “शाङ्ख्यामोऽधेगाधारे” इति द्वितीया । अध्याम्य अध्यासनं पूर्वं पञ्चान्० स्थित्वा
आत्तषष्ठः आदीयतेस्म आत्तः आत्तः षष्ठो येनासौ तथोक्तः स्वीकृतषष्ठोपवामः । धर्म्याणि धर्मा-
दनपेतानि तथोक्तानि आह्वाविचयादिधर्मध्यानानि । बिभ्रन् बिभर्तीति बिभ्रन् स्वीकुर्वन् ।
अवलंबितशुभ्रलेश्यः अवलंब्यतेस्म अवलंबिता शुभ्रा चासौ लेश्या च शुभ्रलेश्या अवलं-
बिता शुभ्रलेश्या येन सः स्वीकृतशुक्ललेश्यः । ईशः त्रिलोकस्वामी । शुद्धात्मतत्त्वमिव तस्य
भावः तत्त्वं आत्मनस्तत्त्वं वात्मैव तत्त्वमात्मतत्त्वं शुद्धञ्च तदात्मतत्त्वं च शुद्धात्मतत्त्वं
पुनस्तत्त्वदिव निर्मलात्मस्वरूपवत् । जातविवर्तं जातं विवर्तं यस्मिन् तन् उत्पन्नपर्यायं ।
दुरितदूननचुंचु दुरितस्य दूननं तथोक्तं दुरितदूननेन विसं दुरितदूननचुंचु “तेन विसोचं

चुचणौ” इति चुंचु प्रत्ययः पापनाशप्रतीतं । शुक्लध्यानं शुक्लनामैकामचिन्तां । दधे धरतिस्म ।
दुधाञ् धारणे लिट् ॥४॥

भा० अ०—चम्पक वृक्ष के तल में स्थित हो धर्म-ध्यान करते हुए छठवें उपवास का नियम लिये हुए शुक्ल लेश्या वाले मुनिसुव्रत नाथ ने शुद्धात्मस्वरूप के ऐसा उत्पन्नपर्याय वाला पापनाशक शुक्लध्यान लगाया । ४ ।

स्त्यानत्रयं जिनपतिः क्रमशो रजामिनास्मिन् त्रयोदश पुग हतसप्तमोहः ॥

मोहैकविंशतिमपि क्षपयन्ददाहं क्षीणोऽथ षोडशचिदीक्षणरोधविघ्नान् ॥५॥

स्त्यानत्रयमित्यादि । पुरा तृतीयभवे । हतसप्तमोहः सप्त च ते मोहाश्च सप्तमोहाः हता-
स्सप्तमोहा येन सः तथोक्तः विनष्टसप्तप्रकृतिः । जिनपतिः जिनानां पतिस्तथोक्तः जिने-
श्वरः । क्रमशः क्रमान् क्रमशः “बहवत्यार्थात्कारकाच्छसानिष्टानिष्टे” इति शस् प्रत्ययः । क्षपक-
श्रेणिक्रमात् । अथ आन्तशुक्लध्यानधारणानंतरं । स्त्यानत्रयं स्त्यानानां त्रयं निद्वानिद्रा
प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धित्रयं । नाम्नि नामकर्मणि । त्रयोदश त्रिभिरधिका दश तथोक्ता ।
“द्वाष्टात्रयोऽनशितौ प्राकलतादबहुर्वाहौ” इत्यनेन त्रयादेशः । रजामिनास्मिन् कर्माणि । मोहैकविंशति-
मपि एकेनाधिका विंशतिस्तथोक्ता मोहानामेकविंशतिर्मोहैकविंशतिस्तां अष्टाविंशतिमोहनायेषु
सप्तप्रकृतानां तृतीयभवे विनष्टवान् शेषाणोत्तर्यः । क्षपयन् क्षपयन्तानि क्षपयन् अनिवृत्तिकर-
णसूक्ष्मसांपरायगुणस्थानद्वयं नाशयन्नित्यर्थः । क्षीणं क्षीणकषायगुणस्थाने । चिदीक्षणरोध-
विघ्नान् चिच्च ईक्षणं च चिदीक्षणे तयोः रोधाः चिदीक्षणरोधाः ते च विघ्नाश्च चिदीक्ष-
णरोधविघ्नास्तान् ज्ञानावरणायदर्शनावरणायानरायान् । षोडश षड्भिरधिका दश
तथोक्तास्तान् “एकादश षोडशषोडन्षोढा षड्ढा” इत्यनेन साधुः । ज्ञानावरणीयपंचकं
दर्शनावरणीयप्रकृतिषु स्त्यानगृद्धित्रयस्य प्रागस्तत्त्रात्तेषु षट्कं अंतरायपंचकं चेति षोडश-
प्रकृतयः । ददाह दहतस्म दह भस्मीकरणे लिट् ॥५॥

भा० अ०—पहले ही तृतीय भय में अनन्तानुबन्धी क्रोधमान-माया लोभादि सप्त
मोह को विनष्ट किये हुए जिनेन्द्र भगवान् ने क्रमशः निद्वानिद्रा आदि स्त्यान-त्रय को,
तेरह नामकर्मों तथा शेष इक्कीस मोहनीय कर्म प्रकृतियों को नष्ट करते हुए क्षीण कषाय
गुणस्थान में ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय आदि सोलह अन्तराय कर्म-प्रकृतियों को
भस्मी भूत किया । ५ ।

घातीन्यपि प्रबलशक्त्यतिगर्वितानि देवस्य योगकरवालदितान्यभूवन् ॥

वर्त्मात्मनः किमिति चिंतनयेव दग्धरज्जूपमं सममघातिबलं बभूव ॥६॥

घातीत्यादि । प्रबलशक्त्यतिगर्वितानि प्रबला चासौ शक्तिश्च प्रबलशक्तिः अत्यन्त-
गर्वितान्यतिगर्वितानि प्रबलशक्त्यतिगर्वितानि तथोक्तानि प्रबलसामर्थ्येनाहंकारि-
तानि । घातीन्यपि घानयंत्येवं शीलानि घातीनि आत्मस्वरूपतिरोधकानि कर्माण्यपि
अपिशब्देन अघातिषु त्रिषष्टिपरिमितदुरितान्यपीत्यर्थः । देवस्य जिनेश्वरस्य । योगक-
रवालदितानि योग एव करवालो योगकरवालः तेन दितानि खंडितानि तथोक्तानि
शुक्लध्यानखड्गेन छिन्नानि । अभूवन् आसन् । भू सत्तायां लुङ् । आत्मनः स्वस्य । वर्त्म
मार्गः । किं इति को वेति । चिंतनयेव चिंतनेन एव । अघातिबलं अघातिनां बलं तथोक्तं
अघातिकर्मसेनासमं सहघातिक्षयसमं एव इत्यर्थः । दग्धरज्जूपमं दह्यतेस्म दग्धा
सा चासौ रज्जुश्च दग्धरज्जुस्नस्यास्समं निःशक्तिकमिति यावत् । बभूव भवतिस्म भू स-
त्तायां । लिट् ॥६॥

भा० अ०—जिनेन्द्र मुनिसुव्रत भगवान् के शुक्लध्यान रूपी खड्ग से अत्यन्त शक्तिमत्ता-
से सगर्व घातिया कर्म भी छिन्न भिन्न हो गये । तदनन्तर अपना कौन सा मार्ग रहा इस
चिन्तन से ही जली हुई रस्सों के समान अघातिया कर्म भी शक्ति-हीन हो गया । ६ ।

इत्यस्तपापरिपुगप महैव लब्धि वैशाखकृष्णदशमीश्रवणोऽपराहने ॥

सन्नायिकीर्णवदशातिशयास्पदं च प्राप्तोदयं नभसि पंचसहस्रदंडैः ॥७॥

इत्यस्तेत्यादि । इति उक्तप्रकारेण । अस्तपापरिपुः पापमेव रिपुः पापरिपुः अस्तः
पापरिपुः येन सः तथोक्तः नष्टकर्मशत्रुः । सः नीर्थकरपरमदेवः । वैशाखकृष्णदशमीश्रवणे
वैशाख्यां पौर्णमास्यां युक्तो मासः वैशाखः “सास्यपौर्णमासी” इत्यण् वैशाखस्य कृष्णस्तथो-
क्तः वैशाखकृष्णस्य दशमी तथोक्ता वैशाखकृष्णदशम्यां श्रवणस्तथोक्तस्तस्मिन् वैशाख-
मासस्य कृष्णपक्षस्य दशमीतिथौ श्रवणे । अपराह्णे अह्नोऽपरः अपराह्णस्तस्मिन् “संख्याव्य-
यसर्वांशात्” इत्यट् अह्नादेशश्च सायाह्ने । क्षायिककर्मक्षयेन जाता नवलब्धिः सम्यक्स्व-
चारिभ्रज्जानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणीनि नवकेवललब्धिः दशातिशयान्
दश च ते अतिशयाश्च दशातिशयास्तान् घातिक्षयजगव्यूतिशतचतुष्टयसुमिक्षादि-
दशातिशयान् । नभसि आकाशे । पंचसहस्रदंडैः पंच च तानि सहस्राणि च पंचसहस्राणि
पंचसहस्रैः प्रमिताः दंडाः तथोक्ताः तैः अथवा पंचवारान् सहस्राणि पंचसहस्राः “सुज्वा-
र्ये” इत्यादिना समासः पंचसहस्राश्च ते दंडाश्च तथोक्तास्तैः पंचसहस्रवापैः । प्राप्तोदयं

प्राप्यते स्म प्राप्तः प्राप्तं उदयं यस्य तत् प्राप्नोदयं पुनस्तत् लब्धोन्नतिकं । पदं स्थानं ।
सहैव युगपदेव । आप प्राप्नोतिस्म । आप्लु व्याप्तौ लिट् ॥ ७ ॥

भा० अ०—यों कर्म-रूपी शत्रु को नष्ट क्रिये हुए उन तीर्थङ्कर देव ने वैशाख कृष्ण
दशमी को श्रवण नक्षत्र के अश्राह में कर्म क्षयते उत्पन्न हुए सम्यक् चारित्र, ज्ञान, दर्शन,
दान लाभादि नव केवल लब्धियों को घाति-क्षयज चार सौ कोश तक सुभिक्षादि दस
अतिशयो तथा आकाश में पंचसहस्र चाप-प्रमित उन्नत स्थान को साथ ही साथ प्राप्त
किया ॥ ७ ॥

अत्रांतरे सकललोकपतेरमुष्य शक्राज्ञया रचितवान्वनदः सभां ताम् ॥

यस्याः प्रमाणमुदितं मुनिभिः पुराणैरध्यर्धयोजनयुगं बहुरत्नमथ्याः ॥८॥

अत्रेत्यादि । यस्याः सभायाः । बहुरत्नमथ्याः बहूनि च तानि रत्नानि च बहुरत्नानि
तेषां विकारो बहुरत्नमथा तस्याः नानारत्ननिर्मितायाः । प्रमाणं मानं । पुराणैः पूर्वकाल-
भवैः । “पुराणम्” इति साधुः । मुनिभिः गणधरादिभिः । अद्यर्धयोजनयुगं योजनयोर्युगं योज-
नयुगं अधिकमर्थं यस्य तत् अद्यर्धं तच्च तत् योजनयुगं च तथोक्तं साधिकार्धयोजनद्वयं ।
उदितं उक्तं । तां सभां समवशरणभूमिं । सकललोकपतेः सकलाश्च ते लोकाश्च तथो-
क्ताः तेषां पतिस्तस्य समस्तजगत्स्वामिनः । अमुष्य एतस्य जिनपतेः । शक्राज्ञया
शक्रस्याज्ञा तथोक्ता तथा देवेंद्राज्ञया । धनदः धनं ददानोति धनदः कुबेरः । अत्र
अस्मिन् । अंतरे आकाशे । रचितवान् निर्मितवान् ॥ ८ ॥

भा० अ०—प्राचीन गणधरादि आचार्यों ने इस जगत्स्वामी जितेन्द्र भगवान की जिस
बहुरत्न-जड़ित समवशरण का उच्चता ढाई योजन की बतलाई है उसी की रचना इन्द्र
की आज्ञा से कुबेर ने आकाश में का ॥ ८ ॥

रेजेतरां दिवि जराजट्टप्रतिष्ठा संसन्मही विनयसंकुचिताखिलांगा ॥

व्योमस्थलीव भुवि यः समवाप्य सेव्यः सोऽयं स्वयं गुणनिधिः समगच्छतेति ॥९॥

रेजेतरामित्यादि । यः देवः । भुवि भूमौ । समवाप्य समवापनं पूर्वं प० समेत्य । सेव्यः
सेवितुं योग्यः सेव्यः आराध्यः । सोऽयं सः एषः । गुणनिधिः गुणानां निधिस्तथोक्तः अनंत-
ज्ञानादिनिलयः । स्वयं आत्मैव । समगच्छतेति समेयादिति । “समोऽर्तिस्वरतिश्रुदृश्चिद्र-
प्रच्छृच्छः” इति तद् गम्लु गतौ लङ् । विनयसंकुचिताखिलांगा विनयेन संकुचितानि विनय-
संकुचितानि अखिलानि च तान्यंगानि च अखिलांगानि विनयसंकुचितानि अखिलां-
गानि यस्यास्सा तथोक्ता भक्त्या संहृतसकलावयवा । व्योमस्थलीव व्योमः स्थली व्योम-

खली आकाशप्रदेशः सेव । दिविजराजद्वयप्रतिष्ठा दिविज्ञानां राजा दिविजराजस्तस्य
दृषत् तस्याः प्रतिष्ठा यस्यास्सा तथोक्ता इद्वीलाधिष्ठातयुक्ता । संसन्महो संसदो मही
तथोक्ता सत्रवराणभूमिः । रेजेउपं अधिकं बभौ । राज् दीप्तौ लिट् ॥ ६ ॥

भा० अ० —जो जिनेन्द्र भगवान् भूतल पर अवतीर्ण होकर अत्यन्त आराधनीय होते हैं
वे ही गुणनिधि जिनेन्द्र स्वयं आ मिले मानो इसी कारण से व्योमलक्ष्मी के समान तथा भक्ति
से संकुचिन अन्तरंगवाली इन्द्रनाल जड़ित समवसरण भूमि अत्यन्त सुशोभित हुई । ६ ।

प्रासादचैत्यपरिखालतिकाद्रुमक्षमा जाता ध्वजद्युकुजहर्म्यगणक्षमाश्च
पीठानि चेति हरसंख्यभुवस्तदंतरेकांतकेलिसदनं जिनबोधलक्ष्म्याः ॥ १० ॥

प्रासादेत्यादि । प्रासादचैत्यपरिखालतिकाद्रुमक्षमाः प्रासादैर्युक्तं चैत्यं तथोक्तं
प्रासादचैत्यं च परिखा च लतिका च द्रुमश्च प्रासादचैत्यपरिखालतिकाद्रुमास्तेषां क्षमाः
तथोक्ताः चैत्यप्रासादभूमिः खानिकाभूमिः वल्लिकाभूमिः वनभूमिश्च । ध्वजद्युकुजहर्म्यगण-
क्षमाश्च ध्वजश्च दिवः कुजो द्युकुजो द्युकुजश्च हर्म्यं च गणश्च ध्वजद्युकुजहर्म्यगणा-
स्तेषां क्षमाः तथोक्ताः ध्वजभूमिः कल्पवृक्षभूमिः हर्म्यभूमिः गणभूमिश्च । पीठा-
नि चेति त्रिपीठानि चेति । हरसंख्यभुवः हराणां रुद्राणां संख्या यासां तास्तथोक्ताः
हरसंख्याश्च ताः भुवश्च तथोक्ताः एकादश भूमयः । जाताः जायतेऽस्म जाताः । तदंतः
तासामंतस्तदंतः भूमीनां मध्ये । जिनबोधलक्ष्म्याः बोध एव लक्ष्मीस्तथोक्ता
जिनस्य बोधलक्ष्मीः तस्याः जिनेश्वरकैवल्यज्ञानश्रियः । एकांतकेलिसदनं केल्याः सदनं
केलिसदनं एकांतां च तत्केलिसदनं च तथोक्तां गंधकुटीत्यर्थः ॥ १० ॥

भा० अ० —प्रासाद चैत्य, खानिका, वल्लिका, वन, ध्वज, कल्पवृक्ष हर्म्य और गण
भूमि तथा त्रिपीठ आदि ग्यारह भूमियां थीं । इन्हीं के बीच में जिनेन्द्र भगवान् की
मुक्ति-लक्ष्मी की एक मात्र क्रीड़ा-खली अर्थात् गन्धकुटी थी ॥ १० ॥

प्रासादचैत्यनिकरः परिखा व्रतत्यो वृक्षा ध्वजाः सुरकुजाः क्रमशाऽष्टभूपु ॥

आसन् गृहाणि च गणाल्लिपु विष्टरेषु श्रीधर्मचक्रविविधध्वजभंगलानि ॥ ११ ॥

प्रासादेत्यादि । अष्टभूपु अष्ट च ता भुवश्च अष्टभुवस्तसु अष्टपृथिवीषु । क्रमशः क्रमात्
क्रमशः परिपाठ्या । प्रासादचैत्यनिकरः प्रासादश्च चैत्यानि च प्रासादचैत्यानि तेषां
निकरस्तथोक्तः प्रथमभूमौ प्रासादचैत्यसमूहः । परिखा द्वितीयाभूमौ खानिका । ततः
वृक्षाः तृतीयाभूमौ लताः । वृक्षाः तुर्यभूमौ वृक्षाः । ध्वजाः पंचमभूमौ पताकाः । सुरकुजाः
सप्तमभूमौ कौ भूमौ जयंत इति कुजाः सुराणां कुजास्तथोक्ताः । अष्टभूमौ कल्पवृक्षः । गृहाणि सप्तमभूमौ

हर्म्याणि । गणाः अष्टमभूमौ द्वादशगणाः । त्रिषु त्रिष्टरेषु त्रिमखलापीठेषु प्रथमे श्रोत्रर्म-
चक्राणि श्रिया उपलक्षिणीनि धर्मचक्राणि द्वितीये अष्टमहाध्वजाः तृतीये अष्टमंगलानि ।
आसने भ्रमधने । असं भ्रवि लङ् ॥ ११ ॥

भा० अ०—आठौ भूमियो में क्रमशः प्रथम में प्रासादचैत्यालय-समूह, द्वितीय में
परिखा, तृतीय में खानिका वल्हो, चतुर्थ में लनावृक्ष, पञ्चम में वृक्षध्वज, षष्ठ में पताका
कल्पवृक्ष, सप्तम में हर्म्य, अष्टम में द्वादश गण और प्रथम पीठ में धर्म चक्र, द्वितीय में अष्ट
महाध्वज तथा तृतीय में अष्ट मंगल थे । ११ ।

सालैश्चतुर्भिरपि पंचभिरप्युदाग्वेदीभिरुन्नतिर्वापि चतुर्गुणैव ॥

लोकान्नतादपि जिनाधिपतेर्मुष्माञ्जनप्रदक्षिणकृतेः फलमीदृशं हि ॥ १२ ॥

सालैर्गिन्यादि । चतुर्भिरपि । सालैः प्राकारैः । पंचभिरपि । उदाग्वेदीभिः उदाराश्च नाः
वेद्यश्च उदाग्वेद्यस्नाभिः महावेदिकाभिः । लोकोन्नतादपि लोकादुन्नतो लोकोन्नतो लोक-
स्योन्नतो वा लोकोन्नतमन्दस्पादपि जगदुत्कृष्टाच्च । अमुष्मान् पतन्मुनिसुव्रततीर्थकरात् ।
जिनपतेः जिनश्वासी पतिश्च जिनानां पतिर्वा तस्पात् जिननाथात् । चतुर्गुणैव चत्वा-
ने गुणा यस्यान्सा तथोक्ता चतुर्भिर्गुणैस्मदितैव । उन्नतिः उत्सर्धं श्रेष्ठत्वं च अशीति-
चापिन्निर्गणित्यर्थः । अथापि अवाप्यत आप्लव्यामौ कर्मणि लुङ् । तथा हि जेनप्रदक्षिणकृतेः
प्रदक्षिणस्य कृतिः प्रदक्षिणकृतिः जिनस्यैव जेनो सा चासौ प्रदक्षिणकृतिश्च जेनप्रदक्षिण-
कृतिस्मस्याः । फलं निष्पत्तिः । ईदृशं इदमिच दृश्यत इति ईदृशं एतादृशं । हि ।
अर्थान्तरन्यासः ॥ १२ ॥

भा० अ०—चार बहार दिवालियों तथा पांच वेदियों के द्वारा इस समवसरण भूमि ने
संसार में सभी से समुन्नत श्रीमुनिसुव्रत स्वामी से भी चौगुनी उन्नति (उंचाई) प्राप्त
की थी । ठीक है जिनैस् भगवान् की प्रदक्षिणा का यही फल होता है । १२ ।

पानैश्च संसदवनीतलवारिवाहं प्रारभ्यमाणसुकृतामृतपूरवर्षम् ॥

सालेन सर्वमाणाचूर्णमयेन तेन तेनावितानमुरकामुकसपुटश्रीः ॥ १३ ॥

आवेष्टयेत्यादि । प्रारभ्यमाणसुकृतामृतपूरवर्षं प्रारभ्यमाणं सुकृतमेवामृतं सुकृतामृतं
तस्य पूरस्तथोक्तः सुकृतामृतपूरस्य वर्षं तथोक्तं प्रारभ्यमाणं सुकृतामृतपूरवर्षं येन सः
हं उपक्रम्यमाणपुण्यकर्मामृतप्रवाहवर्षसंयुक्तं । संसदवनीतलवारिवाहं अवन्यास्तल-
वर्षनीतलं संसदोऽवनीतलं तथोक्तं वारिहतीति वारिवाहः संसदोऽवनितलमेव वारिवाह-
तलस्योक्तं समवेशरणमृतलमर्थं रूपकं आवेष्ट्य विधत्वा । सर्वमणिपूर्णमयेन सर्वं च ते

मणयश्च सर्वमणयस्तेषां चूर्णः सर्वमणिचूर्णः तस्य विकारः सर्वमणिचूर्णमयस्तेन सकल-
रत्नधूलीकृतेन तेन । सालेन प्राकारेण । अवितानसुरकार्मुकसंपुटश्रीः न विताने अविताने
पृथुले “क्रतुविस्तारयोरस्त्री वितानं त्रिषु तुच्छके” इत्यमरः सुरस्य कार्मुके सुरकार्मुके
अविताने च सुरकार्मुके च अवितानसुरकार्मुके तयोस्संपुटनं तथोक्तं तस्य श्रीस्तथोक्ता
रुद्रं द्रुचापयुग्मसंपर्कशोभा तेने विस्तार्यतेस्म तनूङ् विस्तारे ॥१३॥

भा० अ०—पुण्यरूपी अमृत-प्रवाह की वृष्टि प्रारंभ किये हुए भूतल पर समवसरण-
रूपी मेघ को घेर कर उसी सर्व मणिमय चूर्णवाली चहार दिवाली ने रुद्र तथा इन्द्र के
विशाल धनुष की शोभा फैलायी । १३ ।

लोकेषु कूटग्रहितेषु महामहिम्नो देवस्य तस्य निकटेऽपि कृताधिवासः ॥
प्रासादचैत्यनिलयाः प्रथयांबभूवुः कूटान्दिगंबरपथप्रतिरोधिनो धिक् ॥ १४ ॥

लोकेष्वित्यादि । देवस्य स्वामिनः । महामहिम्ना महाश्चासौ महिमा च महामहिमा तेन
महाप्रभावेण । लोकेषु जनेषु । कूटग्रहितेषु कूटेन रहितास्तथोक्तास्तेषु कपटग्रहितेषु शृंगहीनेषु ।
“मायानिश्चलधंत्रे पु कैनवान्तराशिषु । अयोघने शैलशृंगे सीरांगे कूटमस्त्रियाम्” इत्यमरः ।
तस्य जिनस्य । निकटे समीपे । कृताधिवासा अपि कृतः अधिवासो दौस्ते तथोक्ता विहि-
तस्थिनयोऽपि । प्रासादचैत्यनिलयाः चैत्यानां निलयास्तथोक्ताः प्रासादाश्च चैत्यनिलयाश्च
तथोक्ताः प्रासादचैत्यावासाः । दिगंबरपथप्रतिरोधिनः दिगोवांबरं येषां ते दिगंबरास्तेषां पंथाः
दिगंबरपथः अथवा दिशश्च अंबराणि च दिगंबराणि तेषां पंथास्तथोक्ताः तं रुंधन्त्येवं-
शीलास्तथोक्तास्तान् मुनिमार्गविरोधिनः दिगाकाशमार्गानिरोधकांश्च । कूटान् शिखराणि
कपटान् । प्रथयांबभूवुः प्रकटयामासुः । प्रथि प्रख्याने लिट् । धिक् निंदायां “कुधिङ्निर्भर्त्सन
निंदयोः” इत्यमरः । विरोधालंकारः ॥१४॥

भा० अ०—श्रीमुनिसुव्रत नाथ के समुज्ज्वल प्रभाव से लोगों के कपट-रहित अथवा
शिखर-हीन होने पर उस भगवान के निकट वास किये हुए भी प्रासाद जिन-चैत्यालयों ने
आकाश-मार्ग (दिगम्बर मुनिमार्ग) को रोके हुए शिखरों (कपटों) को प्रकटित किया
अतः उन्हें धिक्कार है । १४ ।

मार्गेष्वपि त्रिषु चिभ्रमणेन भिन्ना भिन्ना पुरैव भवलालनया द्युसिंधुः ॥

शंके जिनेन्द्रचरणां शरणां प्रवेष्टुं संप्राप संप्रति सभां जलखातिक्रान्ता ॥ १५ ॥

मार्गेष्वित्यादि । पुरैव पूर्वमेव । भवलालनया भवस्य संसारस्य ईश्वरस्य लालना भव-
लालना तथा संसारस्य रुद्रस्य वा तात्पर्येण । “जन्मश्रेयःशंकरेषु भवः” । इति नानार्थरत्नको-

वे । भिन्ना विदीर्णा । त्रिषु मार्गेष्वपि त्रिषु पथिष्वपि । चिरभ्रमणेन चिरं भ्रमणं चिरभ्रमणं
तेन चिरपर्यटनेन । भिन्ना किलन्ना । द्युसिंधुः सुरगंगा । “सिंधुर्ना सरिति स्त्रियाम्” इत्यमरः ।
जिनेन्द्रचरणं जिनानां इंद्रो जिनेन्द्र-तस्य चरणं तथोक्तं जिनेश्वरपादशरणं प्ररक्षणं । प्रवेष्टुं
प्रवेशाय प्रवेष्टुं । संप्रति इदानीं । जलखातिकात्मा जलस्य खानिका जलखातिका सैव
• आत्मा स्वरूपं यस्यास्सा स्वीकृतजलपरिखास्वरूपा । सभां समवसरणं । संप्राप
संययौ । आप्ल व्याप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ १५ ॥

भा० अ०- पहले ही संसार अथवा शंकर से लालित पालित होकर पीछे मार्गों में
बहुत देर तक भटकती रहने से खिन्न होती हुई देव-गंगा ने श्रीभगवान के चरणों की
शरणीभूत होने के लिये ही मानों जल-खानि-स्वरूप से समवसरण को प्राप्त किया ॥ १५ ॥

वल्लिञ्चितौ सुमनसो रतिवल्लभस्य भल्लक्रियागतजगल्लयपातकानि ॥

संलप्य भृंगरगितेन विशुद्धिहेतोः किं लोकनाथमभजन्सुमनोनिषेव्यम् ॥ १६ ॥

वल्लिञ्चिनावित्यादि । वल्लिञ्चितौ वल्ल्याः क्षितिर्वल्लिञ्चितिस्तस्यां । सुमनसः पुष्पाणि को-
विदाश्च । रतिवल्लभस्य रत्या वल्लभस्तथोक्तस्तस्य कामस्य । भल्लक्रियागतजगल्लयपातकानि
भल्लस्य क्रिया भल्लक्रिया तथा गतः जगतं तयो जगल्लयः भल्लक्रियागतश्च जगल्लयश्चासौ
भल्लक्रियागतजगल्लयस्तेन जातानि पातकानि तथोक्तानि पुनस्तानि वाणस्पृशारेण गत-
जगल्लयजातपापानि । भृंगरगितेन भृंगानां रगितं भृंगरगितं तेन भ्रमरध्वजिताः संलप्य संल-
पनं पूर्व० आलोच्य । विशुद्धिहेतोः विशुद्धे हेतुस्तथोक्तस्य प्रायश्चित्तनिमित्तं । सुम-
नोनिषेव्यं शोभनं मनो येषां ते सुमनसः निषेवितुं योग्यः निषेव्यः । सुमनोभिनिषेव्यस्तं
विबुधजनैराराध्यं “कुमुमकोविदामरेषु सुमनः” इति नानार्थगतकोशे । लोकनाथं लोकस्य
नाथस्तथोक्तस्तं त्रैलोक्यस्वामिनं । अभजत् असेवत् । भज सेवायां लङ् । किं किमुत् ।
उत्प्रेक्षालंकारः ॥ १६ ॥

भा० अ०- वल्लोमयी भूमि पर पुष्पों ने कामदेव के पुष्पमय वाण से संसार का जो
नाश किया है उस पातक को भृंगों के गुंजार के द्वारा कह कर मानों प्रायश्चित्त के निमित्त
ही देवताओं से सेव्य जगत्पति श्री मुनिसुब्रतनाथ की सेवा की ॥ १६ ॥

कंकेलिसप्तदलचंपकचूतषंडाः कामारिसन्निधिवशादिव शांतकामाः ॥

पुष्पाणि वामचरणाहतिचाटुवादच्छायाकटाक्षनिरपेक्षमधुर्वधूनाम् ॥ १७ ॥

कंकेलीन्यादि । कंकेलिसप्तच्छदचंपकचूतषंडाः कंकेलयश्च सप्त च्छदा येषां ते तथो-
क्ताः सप्तच्छदाश्च चंपकाश्च चूताश्च कंकेलिसप्तच्छदचंपकचूतास्तेषां षंडाः

अशोकत्रिषमच्छदकचूतपंडाः द्रुसमूहाः । कामारिसन्निधिवशात् कामस्या-
रिः कामारिः कामारेस्सन्निधिः कामारिसन्निधिस्तस्य वशस्तस्मात् मन्मथचैरिजिनेश्वरस्य
सन्निधानाधीनान् । शान्तकामा इव शान्तः कामो येषां ते तथोक्ताः निःकामा इव । वधूनां
नारीणां । वामचरणाहनिचाटुवादच्छायाकटाक्षनिरपेक्षं वामश्चासौ चरणश्च तथोक्तः
नस्याहनिस्तथोक्ता चाटुश्चासौ वादश्च चाटुवादः वामचरणाहनिश्च चाटुवादश्च
च्छाया च कटाक्षश्च तथोक्ताः वामचरणाहनिचाटुवादच्छायाकटाक्षाणां निरपेक्षं यस्मिन्क-
र्मणि नत् वामपादताडनमनोहरवचनच्छायोपांगदर्शनापेक्षारहितं यथा तथा अशोका-
दीनां यथाक्रमं वामचरणाहत्यादिनिरपेक्षत्वमित्यर्थः । पुष्पाणि कुसुमानि । अधुः अध्वर
डुधाङ् धारणे लुङ् । यथासंख्यालंकारः ॥ १७ ॥

भा० अ०—काम-नाशक श्रीजिनेन्द्र भगवान् के निकटस्थ होने के कारण मान्ने शान्त
हुए कैसे अशोक, समच्छद, चम्पक तथा आम्र-समूह अंगनाओं के वाम-चरण-प्रहार, सुमिष्ट
वचन, छायापात और कटाक्ष-निक्षेप की अपेक्षा बिना किये ही पुष्पित हो गये ।
अर्थात् कवियों के सिद्धान्तानुसार अशोक स्त्रियों के वारों के प्रहार करने से तथा समच्छद
स्त्रियों के सुमिष्ट भाषण से, चम्पक स्त्रियों के छायापात से तथा आम्रवृक्ष स्त्रियों
के कटाक्ष मात्र से पुष्पित होते हैं सो जिनेन्द्र भगवान् के वहाँ रहने से ये वृक्ष उल्लिखित
उपचार हुए बिना ही कुसुमित हो गये ॥ १७ ॥

अर्चा जिनस्य वनचैत्यमहीरुहागामच्छिन्नधारमकरन्दमुचां तलेषु ॥

चक्रनिर्गत्ययतपात्यययोगनिष्ठा निष्कंपगावजिनयोगिनगमिशंकां ॥ १८ ॥

अर्चत्यादि । अर्च्छिन्नधारमकरन्दमुचां न च्छिन्नधारा यस्य स अर्च्छिन्नधारश्चासौ
मकरदश्च तथोक्तः तं मुचंतीति अर्च्छिन्नधारमकरन्दमुचस्तेषां अविच्छिन्नप्रवाहसुक्त-
पुष्परसदृहां । वनचैत्यमहीरुहाणां चैत्यैर्युक्ता महीरुहाश्चैत्यमहीरुहाः वनस्य चैत्य-
महीरुहास्तेषां वनभूमिस्थितचैत्यवृक्षाणां । तलेषु मूलेषु । जिनस्य जिनेश्वरस्य । अर्चाः प्रति-
कृतयः । निरत्ययतपात्यययोगनिष्ठा निष्कंपगावजिनयोगिगरामिशंकां, तपात्ययस्य यो-
स्तथोक्तः निरत्ययश्चासौ तपात्यययोगश्च तथोक्तः निरत्ययतपात्यययोगस्य निष्ठा
तथोक्ता योगोऽस्त्येषामितियोगिनः जिनाश्च ते योगिनश्च जिनयोगिनः तेषां वरास्तथोक्ताः
कंपाधिर्गतं निष्कंपं निरत्ययतपात्यययोगनिष्ठया निष्कंपं गात्रं येषां ते तथोक्ताः निरत्य-
यतपात्यययोगनिष्ठाः निष्कंपगावश्च ते जिनवराश्च तथोक्ता निरत्ययतपात्यययोगनिष्ठाः
निष्कंपगाजिनयोगिवराश्च तथोक्ताः तेषाममिशंका तथोक्ता कां निरतिव्यारवर्षाकालयो-

स्तिप्रत्या निश्चलशरीरजिनमुनिवरेण्यसंशयं । - चक्रुः विदधुः डुकृञ् करणे क्ति ।
उत्प्रेक्षा ॥ १८ ॥

भा० अ०—अविच्छिन्न रूप से मकरन्दधारा प्रवाहित करते हुए वनभूमिस्थ चैत्य वृक्षा के नाचे त्रिराजमान जिनेंद्र भगवान् का प्रतिमाओं ने मानों अतिचार-रहित वर्षा-काल योग का सिद्धि से निश्चल शरीर वाले जिन मुनिवर का सन्देह धारण किया ॥ १८ ॥

ज्ञानोदये जिनपतेः स्थिरभावमाप्ते लोकस्वयं च तडितः स्थिरभावमाप्ता ॥

प्रायः प्रलंबितघनास्तमुपासतेस्म प्रखत्पताककनकध्वजदंडदंभात् ॥ १९ ॥

ज्ञानोदय इत्यादि । लोके भुवने । जिनपतेः जिनानां पतिस्तथोक्तस्तस्य जिनेशस्य । ज्ञानोदये ज्ञान-योदयस्तथोक्तस्तस्मिन् केवलज्ञानोत्पत्तौ । स्थिरभावं स्थिरस्य भावस्तथो-
क्तस्त्वं स्थिरत्वं । अत्रे आप्रोतिस्म आप्रत्तास्मिन् याते सति । प्रलंबितघनाः प्रलंबितौ
घनी याभिस्तथोक्ताः संश्लिष्टमेघाः । तडितः विद्युतः । स्वयं च । प्रखत्पताककनक-
ध्वजदंडदंभान् प्रखंतानि प्रखंत्यः प्रखंत्यः पताका येषां ते प्रखत्पताकाः ध्वजानां दंडाः
द्वजदंडाः कनकेन निर्मिता ध्वजदंडास्तथोक्ताः प्रखत्पताकाश्च ते कनकध्वजदंडाश्च
तथोक्ताः प्रखत्पताककनकध्वजदंडा इति दंभस्तथोक्तस्तस्मात् चलद्भजसहितसुवर्ण-
दंडव्याजान् । स्थिरभावं स्थिरस्य भावस्तथोक्तस्त्वं स्थित्वं । संशयव्युदासेन नत्वेपु निश्चल-
चित्तत्वं । च आपाः प्रयुताः सत्यः । प्रायः भृता । तं तार्थनायकं । उपासतेस्म सेवतेस्म ।
आसि उपवेशने लट् ॥ १९ ॥

भा० अ०—श्राजिनेन्द्र भगवान् के केवल ज्ञान उदय होने पर मानों उमड़ हुए मेघ-
बन्धा विश्रुति कार्य फड़कड़ाना हुई पताका के सुवर्ण-ध्वज-दण्ड के बहाने से स्वयं
स्थिरता को प्राप्त होता हुई काला जिनेंद्र भगवान् का सेवा करने लगीं ॥ १९ ॥

भव्यावले दशविधामरभूजकृत्यं वाञ्छितं त्रिनैव त्रिदधात्ययमक एव ॥

यत्तेतदेनमभितोऽप्यभजन् जिनेंद्र रंदा गुणैर्हि गुणिनः समुपाश्रयंतं ॥ २० ॥

भव्यावले इत्यादि । यत् यस्मात् कारणात् । अयं एषः जिनः । भव्यावलेः भव्यानामावलिर्भ-
व्यावलिस्तस्याः त्रिनैव जन्तसमुद्देश्य । दशविधामरभूजकृत्यं दशविधा येषां ते तथोक्तं
अमराणां भूजा अमरभूजाः दशविधाश्च ते अमरभूजाश्च दशविधामरभूजास्तेषां कृत्यं हि
तथोक्तं पुनस्तत् दशप्रकारकल्पवृक्षकार्यं । वाञ्छितं अभिलाषं त्रिनैव अंतरेणैव । विदधाति कुर्या-
ति । डुकृञ् करणे लट् । तत् तस्मात्कारणात् । ते कल्पवृक्षाः । एतं जिनेंद्रं जिनातामिदो जिनै-
र्द्वस्तं । अभितोऽपि प्रसितोऽपि । अभजन् असेवंतं । भज सेवायां लङ् । तथा हि गुणिनः गुणाः

संत्येषामिति तथोक्ताः गुणवंतः गुणैः औदार्यादिभिः । रुद्रान् महतः । समुपाश्रयन्ते
सेवन्ते हि शिञ्ज् सेवायां लङ् । अर्थांतरन्यासः ॥ २० ॥

भा० अ०—यह जिनेन्द्र स्वामी इकले विना इच्छा के भी भविकों के दस प्रकार के
कल्प वृक्ष के कार्य करते हैं । इसी से उन कल्पवृक्षों ने इनकी सब प्रकार से सेवा की ।
यह समुचित भी है क्योंकि गुणो लोग गुण-द्वारा ही बड़ों का आश्रय करते हैं ॥ २० ॥

आकीर्णकेतुचमरीरुहतालवृतकालाचिकाब्दकलशातपवारणादिः ॥

हर्म्यावनिर्जिनजितधृतपुष्पकेतौ सेनानिवेश इव चेलकुटांचितोऽभात् ॥ २१ ॥

आकीर्णेत्यादि । आकीर्णकेतुचमरीरुहतालवृतकालाचिकाब्दकलशातपवारणादिः आकी
र्यतेस्म आकीर्णानि केतुश्च चमरीरुहं च तालवृतं च कालाचिका च अब्दं च कलशश्च आतप-
वारणं च केतुचमरीरुहतालवृतकालाचिकाब्दकलशातपवारणानि आकीर्णानि तान्यादीनि
यस्यां सा तथोक्ता संपूर्णध्वजचामरव्यजनपतद्ग्रहदर्पणकलशछत्रादिसहिता । हर्म्यावनिः
हर्म्याणामवनिस्तथोक्ता प्रासादभूमिः । जिनजितधृतपुष्पकेतोः जीयतेस्म जिजः जिनेन
जितस्तथाक्तः धरतिस्म धृतः धृतश्चासौ पुष्पकेतुश्च तथोक्तः जिनजितश्चासौ धृत-
पुष्पकेतुश्च तथाक्तस्तस्य जिनेश्वरेण पराजितपलायितुकामस्य । चेलकुटांचितः चेलेन
चिरचिताः कुट्यः चेलकुट्यस्तासु चितः तथाक्तः वस्त्रकुटाविकीर्णः । सेनानिवेश इव सेना-
या निवेशस्तथाक्तस्स इव शिबिरगत इव । अभात् व्यराजत् । भा दीप्तौ लङ् उत्प्रेक्षा ॥ २१ ॥

भा० अ०—ध्वजा, चामर, दर्पण, कलश और छत्रादि अष्टमंगल द्रव्य से युक्त प्रासाद-
भूमि जिनेन्द्र भगवान् से विजित तथा पलायित कामदेव का वस्त्रमयी कुटो से रचित
सेना की छावना कांसा सोमने लगे ॥ २१ ॥

देवेंद्रनेत्रकुमुदात्सवचंद्रिकाया देदीप्यमानमणिवैकृतगंधकुट्याः ॥

उच्चैर्ऋतोरिव विदिक्षु भृशं विरेजुः कांशाः प्रकीर्णकवदुज्वलरूपभाजः ॥ २२ ॥

देवेंद्रेत्यादि । ऋतोरिव ऋतुविमानस्येव देवेंद्रनेत्रकुमुदात्सवचंद्रिकायाः देवाना-
मिन्द्रस्तस्य नेत्राणि तथोक्तानि तान्येव कुमुदानि देवेंद्रनेत्रकुमुदानि तेषामुत्सवो देवेंद्रनेत्र-
कुमुदात्सवः तस्य चंद्रिका देवेंद्रनेत्रकुमुदात्सवचंद्रिका तस्याः देवेंद्रनयनकुवलयो-
त्सव कौमुद्याः । उच्चः अधिकं । देदीप्यमानमणिवैकृतगंधकुट्याः देदीप्यत इति देदीप्य-
माना भृशं प्रकाशमाना विक्रियतेस्म विकृता विकृतैव वैकृता मणिभिवैकृता मणिवैकृता
गंधेनयुक्ता कुटांगंधकुटो मणिवैकृता चासौ गंधकुटो च मणिवैकृतगंधकुटो देदीप्यमाना

चासौ मणिवैकृतगंधकुटी च देदीप्यमानमणिवैकृतगंधकुटी तस्याः अत्यंतप्रकाशमानरज्जनिर्मि-
तगंधकुट्याः । चिदिक्षु कोणेषु । प्रकीर्णकवत् प्रकीर्णका इव प्रकीर्णकवत् “सुप इवे” इति
वत्प्रत्ययः प्रकीर्णकविमाना इव । उज्वलरूपभाजः उज्वलं च तत् रूपं च उज्वलरूपं तद्गजं-
तीत्युज्वलरूपभाजः प्रकाशमानरूपयुक्ताः । कोष्ठाः द्वादशकोष्ठाः । भृशं अत्यंतं । रेजुः बभुः ।
राजृ दीप्तौ लिट् ॥ २२ ॥

भा० अ०—ऋतु विमान के समान देवेन्द्रों के नेत्ररूपी कुमुद के लिये चाँदनी कीसी
समुन्नत रत्नमयी समवशरण सभा के चारो तरफ प्रकीर्णक विमान के सदृश समुज्वल
बारह कक्षायें अत्यन्त शोभायमान हुईं । २२ ।

तेषु प्रदक्षिणामनुक्रमतो मुनीन्द्राः कल्पांगनाश्च नृवधूसहितार्यकाश्च ॥

ज्योतिष्कभौमभवनामरिकाश्च भोगीभौमोडुकल्पसुरमर्त्यमृगाश्च तस्थुः ॥ २३ ॥

तेष्वित्यादि । तेषु कोष्ठेषु । प्रदक्षिणं यथा तथा । अनुक्रमतः अनुक्रमादनुक्रमतः परि-
पाट्याः । मुनीन्द्राः मुनीनामिन्द्रास्तथोक्ताः महामुनयः । कल्पांगनाश्च कल्पानामंगना-
स्तथोक्ताः स्वर्गस्त्रियः । च समुच्चयार्थः । नृवधूसहितार्यकाश्च नृणां वधुः नृवधुः तामि-
स्सहितास्तथोक्ताः नृवधूसहिताश्च ताः आर्यकाश्च तथोक्ताः मनुष्यस्त्रीसहितार्यकाः ।
ज्योतिष्कभौमभवनामरिकाश्च ज्योतिरस्त्वेषामिति ज्योतिष्काः भूमौ भवा भौमाः ज्योति-
ष्काश्च भौमाश्च भवतानि च तथोक्तानि तेषां अमरिकाः ज्योतिर्लोकव्यंतरलोकभवत-
लोकस्त्रियश्च । भोगीभौमोडुकल्पसुरमर्त्यमृगाः भोगोऽस्त्वेषामिति भोगिनः भूमौ भवाः
भौमाः कल्पेषु विद्यमानास्तसुराः कल्पसुराः भोगिनश्च भौमाश्च उडवंश्च कल्पसुराश्च
मर्त्याश्च मृगाश्च तथोक्ताः भोग्युपलक्षणाद्भावनामरा उडूपलक्षणान् ज्योतिष्काश्च । तस्थुः
तिष्ठन्तिस्म ॥ २३ ॥

भा० अ०—व्यन्तर, भवन, ज्योतिष्क तथा कल्प-चासी देव तथा चार प्रकार की देवां-
गनाएँ, नर, मुनीन्द्र आर्यिका मनुष्य स्त्री और मृगादि तिर्यच जीव उन बारह कक्षाओं
में प्रदक्षिणा पूर्वक क्रमशः बठे हुए थे । २३ ।

वीथीषु नाथचतुरानननिर्यदुक्तिपीयूषनद्युभयचारुतटानुकाराः ॥

अष्टायत्स्फटिकभित्तय आवितेनुर्वृद्धेशभूतिविनिवेशितयष्टिशं काम् ॥ २४ ॥

वीथीष्वित्यादि । वीथीषु । नाथचतुरानननिर्यदुक्तिपीयूषनद्युभयचारुतटानुकाराः
चत्वारि च तान्याननानि च चतुराननानि नाथस्य चतुराननानि तैर्निर्यतीति तथोक्ता नाथ-
चतुरानननिर्यती चासौ उक्तिश्च तथोक्ता नाथचतुरानननिर्यदुक्तिरेव पीयूषं तथोक्तं

तस्य नदी नाथचतुरानननिर्यदुक्तिपीयूषनदी चारु च तत् तटं च चारुतटं उभयं च तत् चारुतटं च उभयचारुतटं नाथचतुरानननिर्यदुक्तिपीयूषनद्या उभयचारुतटं तथोक्तं तदनु-
कुर्वतीति तथोक्ताः “कर्मणोऽण्”इत्यण् जिनाननचतुष्टयनिर्यद्विव्यध्वनिसुधाद्युभयतीरमनकु-
र्वत्यः । अष्टायतस्फटिकभित्तयः स्फटिकेन निर्मिता भित्तयस्तथोक्ताः आयताश्च ताः
स्फटिकभित्तयश्च तथोक्ताः अष्ट च ता आयतस्फटिकभित्तयश्च तथोक्ताः अप्रदीर्घ-
भित्तयः । वृद्धशभूतिविनिवेशितयष्टिशंकां ईशस्य भूतिरीशभूतिः वृद्धा अतिप्रकृष्टा जरती
वा सा चासौ ईशभूतिश्च तथोक्ता वृद्धशभूत्या विनिवेशिताः तथोक्ताः ताश्च ताः यष्टयश्च
वृद्धशभूतिविनिवेशितयष्टयस्तासां शंका तथोक्ता तां समृद्धजिननाथविभूत्या स्थापित-
हस्तावलम्बनदंडसंदेहं । आवितेनुः तन्वंतिस्म तनूङ् विस्तारे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ २४ ॥

भा० अ०—समवसरण की रथ्याओं में जिनेन्द्र भगवान् के चतुर्मुख से निकली हुई
दिव्य ध्वनिरूपिणी अमृतमयी नदियों के दोनों तटों का अनुकरण करने वाली आठ बड़ी २
स्फटिकमयी भित्तियाँ समृद्ध जिनेन्द्र भगवान् की विभूति से हस्तावलम्बननिमित्त स्थापित
दण्ड का सन्देह सूचित करती थीं । २४ ।

यच्छ्रूयते सुरपथात्सुमनःस्रवंती स्रस्ता तरंगिततनूरिति पुस्तकेषु ॥

तत्त्वात्तदित्यनुमिमे भगवत्सभाया यत्तीर्थपद्धतिचतुष्टयमर्कशिल्पं ॥ २५ ॥

यदीत्यादि । तरंगिततनूः तरंगः संजातोऽस्यामिति तरंगिता तरंगिता तनूर्यस्यास्सा
तथोक्ता संजाततरंगस्वरूपयुक्ता । सुमनःस्रवंती सुमनसां स्रवंतीति तथोक्ता देवगंगा । सुर-
पथात् सुराणां पंथात्सुरपथस्तस्मात् “ऋक्पूःपथ्यपोऽदत्यत्” इत्यनेनात् आकाशमार्गात् ।
स्रस्ता अवकीर्णा । इति पठं । पुस्तकेषु शास्त्रेषु । यद्वचनं । श्रूयते आकर्ष्यते । तद्वचनं ।
भगवत्सभायाः भगवत्सभा भगवत्सभा तस्याः समवसरणभूमेः । अर्कशिल्पं अर्कस्य शिल्पं
यस्य तत् तथोक्तं स्फटिकनिर्मितं ‘अर्कस्फटिकसूर्ययोः’ इत्यमरः । तीर्थपद्धतिचतुष्टयं
तीर्थानां पद्धतयस्तार्थपद्धतयः चत्वारोऽवयवा यस्य चतुष्टयं तीर्थपद्धतीनां चतुष्टयं तथोक्तं
सोपानमार्गचतुष्टयं । यत् एतदिति इदमिति । अनुमिमे अनुमन्ये माङ् । माने लङ् ॥ २५ ॥

भा० अ०—तरंगित देव-गंगा आकाश से गिरी है यह बात शास्त्रों में ही देखी जाती
थी । मैं अनुमान करता हूँ कि, भगवान् की समवसरण सभा की स्फटिकमयी चार सीढियाँ
इस बात को प्रत्यक्ष प्रमाणित कर रही हैं । २५ ।

वाराशितीर्थकरवारणमंख्यरूपा देवाद्विरुद्रनगकज्जलभृधगस्तं ॥

दैर्घ्यरपृहो निखिलदिग्गतहेमरूप्यनीलाश्रमगोपुगनिभादभजंत देवम् ॥ २६ ॥

वाराशीत्यादि । वाराशितीर्थकरवारणसंख्यरूपाः वारां राशिः तथोक्तः वाराशिश्च तीर्थकराश्च वारणाश्च तेषां संख्या तथोक्ता वाराशितीर्थकरवारणसंख्यैव रूपं येषां ते तथोक्ताः चतुश्चतुर्विंशत्यष्टस्वरूपाः । दैर्घ्यस्पृहः दैर्घ्यं स्पृहंतीति तथोक्ताः महोन्नत्य-मिलाषयुक्ताः संतः । देवाद्विरुद्रनगकज्जलभूधराः देवानामद्विर्देवाद्विः रुद्रस्य नगो रुद्र-नगः कज्जलश्चासौ भूधरश्च कज्जलभूधरः देवाद्विश्च रुद्रनगश्च कज्जलभूधरश्च तथोक्ताः महामेरुकैलासांजनपर्वताः । निखिलदिग्गतहेमरूप्यनीलाश्मगोपुरनिभात् निखिलाश्च ताः दिश-श्च निखिलदिशः ता गच्छन्तिस्म निखिलदिग्गतानि हेमं च रूप्यं च नीलाश्मा च हेमरूप्य-नीलाश्मानस्तैर्निर्मितानि गोपुराणि हेमरूप्यनीलाश्मगोपुराणि निखिलदिग्गतानि हेमरूप्य-नीलाश्मगोपुराणि तानीतिनिभंतथोक्तं तस्मात् सकलदिग्व्याप्तसुवर्णरजतनीलगोपुरव्याजात् । तं देवं मुनिसुव्रतस्वामिनं । अभजंत असेवंत । भज सेवायां लङ् । यथासंख्यालंकारः ॥२६॥

भा० अ०—बड़ी भारी उन्नति (ऊंचाई) के इच्छुक चार सुवर्णमय महामेरु पर्वत चौबीस रजतमय कैलाश और आठ नीलमय अंजन पर्वतों ने सभी दिशाओं में व्याप्त हो-कर गोपुर के बहाने से श्रीजिनेन्द्र भगवान् की सेवा की । २६ ।

संप्राप्य चारुगुणरत्ननिधिं जिनेन्द्रं लोकैकमंगलमसुं समपक्षरागात् ॥

शक्तानि मोक्तुमथ नो निधिमंगलानि द्वारेषु तस्थुर्ग्विभेग्विह को वितर्कः ॥२७॥

संप्राप्येत्यादि । चारुगुणरत्ननिधिं चारुश्च गुणाश्च चारुगुणास्त एव रत्नानि चारुगुण-रत्नानि तेषां निधिस्तं मनोहरगुणमणिनिधिं । लोकैकमंगलं मंगं पुण्यं सतां लातीति मं पापं गलयत्यपि मंगलं मंगलार्थञ्चैरन्वर्थेन निरुच्यते एकं च तन् मंगलं च एकमंगलं तथोक्तं लोकानामेकमंगलं तथोक्तं त्रिभुवनमुख्यमंगलं । अमुं इमं । जिनेन्द्रं जिनानामिन्द्रस्तथोक्तस्मं जिनेश्वरं । समपक्षरागात् समश्चासौ पक्षश्च समपक्षस्नस्य इति रागस्तस्मात् समानवर्ग-प्रीत्याः । संप्राप्य संलभ्य । अथ अंतरे । मोक्तुं मोचताय मोक्तुं । नो शक्तानि सामर्थ्यगहि-नानि । निधिमंगलानि निधयश्च मंगलानि च तथोक्तानि नवनिघ्यष्टमंगलानि । अखिलेषु सम-स्नेषु । द्वारेषु गृहनिर्गमनस्थानेषु । तस्थुः तिष्ठन्तिस्म । इह अस्मिन् इह । प्रकृतेऽर्थे विनर्कविचारः । न कोऽपी-त्यर्थः । उत्प्रेक्षालंकारः । घ्रा गतिनिवृत्तौ लिट् ॥ २७ ॥

भा० अ०—सुन्दर गुण-रूपो रत्न के निधि-स्वरूप तथा संसार के एकमात्र मंगल श्रीजिनेन्द्र भगवान् को समान वर्ग से पाकर मानो मुक्त होने में असमर्थ होने से ही नव निधि और अष्ट-मंगल सभी दरवाजों पर विराजमान हुए तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ॥२७॥

ज्योतिष्कयज्ञरुणिक्ल्पसदः क्रमेण तेजस्विनः प्रतिदिशं मणिदंडहस्ताः ॥

द्वारत्रयद्वितययुग्मयुगेषु तेनुर्हार्पालकृत्यमपि जन्मशतैरलभ्यं ॥२८॥

ज्योतिष्केत्यादि । तेजस्विनः तेजोऽस्त्येषामिति तथोक्ताः पराक्रमिणः । मणिदंडहस्ताः मणिभिर्निर्मिता दंडाः मणिदंडाः हस्ते येषां ते तथोक्ताः रत्नखचितदंडपाणयः । “प्रहरणात्सप्तमी” इति पूर्वनिपातः । ज्योतिष्कयक्षफणिकल्पसदः ज्योतिष्काश्च यक्षाश्च फणिनश्च कल्पे सीदंतीति कल्पसदः ते च ज्योतिष्कयक्षफणिकल्पसदः ज्योतिर्भौमोरगकल्प-
वासिनः । प्रतिदिशं दिक्षु दिक्षु । क्रमेण अधूलिशालाद्यनुक्रमेण । द्वारत्रयद्विनियुग्मयुगेषु त्रयोऽवयवा अस्य त्रयं द्वावयवावस्य द्वितयं त्रयं च द्वितयं च युग्मं च युगं च तथोक्तानि द्वाराणां त्रयद्वितययुग्मयुगानि तथोक्तानि तेषु द्वारत्रये द्वारद्वये द्वारयुग्मे द्वारयुगे च । जन्मशतै-
रपि जन्मनां शतानि तैः जन्मानेकैरपि । अलभ्यं लब्धुमशक्यं । द्वारपालकृत्यं द्वारः पालः द्वारपालः तस्य कृत्यं पुनस्तत् द्वारपालस्य कार्यं । तेनः विस्तारयामासुः तनून् विस्तारे लिट् ॥२८॥

भा० अ०—तेजस्वी ज्योतिष्क, यक्ष, उरग तथा कल्पवासी देवों ने हाथों में मणिमय दण्ड लेकर क्रमशः प्रत्येक दिशा में तीन दो, दो तथा दो दरवाजों पर जन्मजन्मान्तर में भी अलभ्य द्वारपाल का काम किया । २८ ।

नुन्नांबरं प्रतिदिशं नवगोपुराणामष्टांतरेषु बहिरादिमगोपुराच्च ॥

नानाविधाभिनवशिल्पमनोभिरामं माणिक्यतोरणशतं पृथगाविरासीत् ॥२९॥

नुन्नांबरमित्यादि । नवगोपुराणां नव च तानि गोपुराणि च नवगोपुराणि तेषां । अष्टांतरेषु । आदिमगोपुरान् आदौ भवमादिमं आदिमं च तत् गोपुरं च आदिमगोपुरं तस्मा-
त् “पश्चादाद्यंताग्रादिम” इति म प्रत्ययः । प्रथमगोपुरान् । बहिश्च बाह्ये च । प्रतिदिशं दिक्षु दिक्षु । नुन्नांबरं नुन्नांबरं येन तत् तथोक्तं चुंबिताकाशं । “नुत्तनुन्नास्तनिष्ठ्यूताविद्धक्षिप्तं रिता-
स्समाः” इत्यमरः । नानाविधाभिनवशिल्पमनोभिरामं नाना विधो यस्य तत् नानाविधं अभिनवं च तत् शिल्पं च अभिनवशिल्पं नानाविधं च तदभिनवशिल्पं च नानाविधाभिन-
वशिल्पं च तन्मनसोऽभिरामं तथोक्तं नानाविधाभिरामशिल्पेनाभिरामं नानाप्रकारकुशलैर्न मनोहरं । पृथक् । प्रत्येकमाणिक्यतोरणशतं माणिक्येन रचितानि तेषां शतं तथोक्तं रत्नतोरणानेकं । आविरासीत् प्रादुरभवत् । अस भुवि लङ् ॥ २९ ॥

भा० अ०—नौ दरवाजों में से आठ के भीतर तथा पहले दरवाजों के बाहर अनेक प्रकार की नूतन कारीगरी से सुन्दर मँकड़ों मणिमय तोरण पृथक् २ शोभित हुए । २९ ।

ग्राद्यंतरे निहतदुर्मतिमानगुंकाः स्तंभाश्चतुर्थ इह राजतनाट्यशालाः ॥

श्लेऽपि नाट्यनिलयाः किल सप्तमेऽस्मिन् स्तूपाश्च तोरणशतांतरिता बभूवुः ॥ ३० ॥

आद्यंतरे इत्यादि । आद्यंतरे आदि च तदंतरे च आद्यंतरं तस्मिन् प्रथमान्तराले ।

निहतदुर्मतिमानगुंफाः निहन्यतेस्म निहतः दुष्टा मतिर्येषां ते दुर्मतयः मानस्य गुंफो मानगुंफः
दुर्मतीनां मानगुंफस्तथोक्तः निहतो दुर्मतिमानगुंफो यैस्ते तथोक्ताः विनष्टमिथ्यादृष्टि-
मानरचनयुक्ताः । स्तंभाः मानस्त्वंभाः । इह अस्मिन् इह । चतुर्थे चतुर्णां पूरणं चतुर्थं तस्मिन्
चतुर्थंवलये । राजतनाट्यशालाः नाट्यस्य शालाः नाट्यशालाः रजतेन निर्मिता राजताः
नाश्च ताः नाट्यशालाश्च तथोक्ताः रूप्यरचितनर्तनशालाः । षष्ठे ऽपि षण्णां पूरणं तथोक्तं
तस्मिन् षष्ठान्तरालेऽपि । नाट्यनिलयाः नाट्यस्य निलयास्तथोक्ताः नृत्यशालाः । “दिग्धत्तेर्वेति”
निरूपसर्गरकारस्यायिगतावित्यस्य योगे लकारादेशः । अस्मिन् एतस्मिन् । सप्तमे सप्तानां
पूरणं सप्तमं तस्मिन् सप्तमवलये । तोरणशतान्तरिताः तोरणानां शतानि तथोक्तानि तोरण-
शतैरन्तरितास्तथोक्ताः शततोरणव्यवहिताः । स्तूपाः नवस्तूपाः । बभूवुः भवतिस्म किल ।
भू सत्तायां लिट् । दशतोरणान्यनीत्य एकस्तूपस्तिष्ठतीति क्रमोक्तानुसंधेयः ॥ ३० ॥

भा० अ०—पहले के भीतर मिथ्या दृष्टियों के मान नष्ट करने वाले मानस्तम्भ, चौथे में रज-
नमयी नाट्यशाला तथा छठे में भी नृत्यशाला, और सातवें में सैंकड़ों तोरण से आच्छन्न
नौ स्तूप थे । ३० ।

दुःखौघसर्जनपट्टंस्त्रिजगत्यजेयान् मात्राच्चिहत्य चतुरंगपि च घानिशत्रून् ॥

स्तंभा जयादय इव प्रभुणा निखाताःस्तंभाःचभुः प्रतिदिशं किल मानपूर्वाः ॥ ३१ ॥

दुःखौघेत्यादि । त्रिजगति त्रयाणां जगतां समाहारस्त्रिजगत् तस्मिन् त्रिभुवनं । दुःखौ-
घसर्जनपट्टं दुःखानामोघो दुःखौघस्तस्य सर्जनं तथाक्तं दुःखौघसर्जने पट्टवस्तान् दुःखपरं-
परासृष्टसमर्थान् । “ओघां वृं दे पयोवेगे द्रुतनृत्योपदेशयोः । ओघः परंपरानां च” इति विश्वः ।
अजेयान् जेतुं शक्या जेयाः न जेयास्तान् अभिभवितुमशक्यान् । चतुरंगेऽपि च चतुःसं-
ख्यानपि । घानिशत्रून् घानिन् एव शत्रवस्तथोक्तास्तान् घानिकर्मिणून् साक्षात् युगपत् ।
निपाल्य निपाननं पूर्व० विहत्य । प्रभुणा स्वामिना । निखाताः निहन्यतेस्म निखाताः
स्थापिताः । जयादयः जय एव आदिर्येषां ते तथोक्ताः जयशब्दादिसहिताः । स्तंभा इव
जयस्त्वंभा इत्यर्थः मानपूर्वाः मान एव पूर्वस्मिन्नेषां ते तथोक्ताः आदौ मानशब्दयुक्ताः
मानस्त्वंभा इति यावत् । प्रतिदिशं दिक्षु दिक्षु । चभुः किल चकाशरे किल । भा दीप्तौ
लिट् । रूपकः ॥ ३१ ॥

भा० अ०—त्रिभुवन में दुःखसमूह के निर्माण करने में विचक्षण तथा अजेय जो चार
घानिया कर्म-रूपी शत्रु हैं उन्हें साध्वान् नष्ट करके ही मानो जिनेन्द्र देव से आरोपित विजय
गये विजय-स्त्वंभा के ऐसे मानस्तंभ प्रत्येक दिशा में शोभायमान होते थे । ३१ ।

संसारदुस्तरमहार्णवमग्नजन्तृत्तारैकनावि सदसीश्वरकर्णधारे ॥

स्तंभश्रियं विदधुर्ज्वलरत्नमानस्तंभाः समीरचलकेतुपटाभिरामाः ॥ ३२ ॥

संसारेत्यादि । संसारदुस्तरमहार्णवमग्नजन्तृत्तारैकनावि चतुर्गतिभ्रमणः संसारः महार्णवासौ अर्णवश्च महार्णवः दुःखेन तीर्यत इति दुस्तरस्स चासौ महार्णवश्च तथोक्तः संसार एव दुस्तरमहार्णवस्तथोक्तः मज्जन्तिस्म मग्नाः मग्नाश्च ते जंतवश्च मग्नजंतवः संसारदुस्तरमहार्णवे मग्नजंतवस्तथोक्तः उत्तरणमुत्तारः संसारदुस्तरमहार्णवमग्नजन्तृता-मुत्तारस्तथोक्तः एका चासौ नौश्च एकनौः संसारदुस्तरमहार्णवमग्नजन्तृत्तारे एकनौस्त-स्यां संसारदुःपुवनमहासमुद्रमग्नाखिलजीवोत्तरणे मुख्यवहित्रे । ईश्वरकर्णधारे ईश्वर एव कर्णधारो यस्य तस्मिन् जिनेन्द्रनाविकयुक्ते । सदसि समवसरणे । समीरचलकेतुपटा-भिरामाः समीरेण चलास्समीरचलाः केतूनां पटाः केतुपटाः समीरचलाश्च ते केतुपटाश्च तथोक्ताः समीरचलकेतुपटैरभिरामाः वायुना चंचलध्वजचस्त्रैर्मनोहराः । उज्वलरत्न-मानस्तंभाः रत्नैर्निर्मिता मानस्तंभौ रत्नमानस्तंभाः उज्वलाश्च ते रत्नमानस्तंभाश्च तथोक्ताः प्रकाशमानमणिमयमानस्तंभाः । स्तंभश्रियं स्तंभस्य श्रीः स्तंभश्रीस्तां नौगुणलक्ष्मीं । विदधुः चक्रुः । डु धाडु धारणे लिट् । रूपकः ॥ ३२ ॥

भा० अ०—संसाररूपो दुस्तर महा-समुद्र में मग्न प्राणियों को पार लगाने में एक मात्र नौका के समान तथा जिनेन्द्र देव-रूपी कर्णधारचाला समवसरण समा में हवा से प्रकम्पित ध्वजपट से मुन्दर और समुज्ज्वल रत्नजडित मानस्तंभों ने नाव को यूप-श्री का शोभा धारण की । ३२ ।

मानाधिकौ कनकगोपुररूप्यशालाव्याजेन मानमवितुं बहुरूपभाजौ ॥

मन्ये मुमेरुविजयार्धनगौ स्म मानस्तंभानुपेत्य भजनश्रुतुंगेऽपि भीन्या ॥ ३३ ॥

मानाधिकादित्यादि । मानाधिकौ मानेन प्रमाणेन गर्वेण वाऽधिकौ प्रवृद्धौ । “चित्तो-न्नतिग्रहगर्भप्रमाणप्रस्थादिषु मानम्” इति नानार्थरत्नकोशे (पे) । बहुरूपभाजौ बहुनि च तानि रूपाणि च बहुरूपाणि तानि भजंत इति तथोक्तानि नानारूपभाजौ । मुमेरुविजयार्ध-नगौ मुमेरुश्च विजयार्धश्च मुमेरुविजयार्धी तौ च तौ नगौ च तथोक्तौ महामेरुविजया-र्धपर्वतौ । मानं गर्वं । अवितुं रक्षितुं । कनकगोपुररूप्यशालाव्याजेन कनकेन निर्मितानि गो-पुराणि तथोक्तानि रूप्येण निर्मिता शाला (शाला) रूप्यशालाः कनकगोपुराणि च रूप्यशा-लाश्च तथोक्ताः कनकगोपुररूप्यशाला इति व्याजस्तस्मान् सुवर्णगोपुररजनप्राकारदंभा-न् । चतुरोऽपि चतुःसंव्याज मानस्तंभान् । भीन्या भयेन । समीपं । उपेत्य यात्वा । भजतः

स्म सेवेतेस्म । भज सेवायां लट् । इति मन्ये जाने । बुधमनिहाने लट् उत्प्रेक्षा ॥३३॥

भा० अ० — गर्व से बड़े चढ़े सुमेरु तथा विजयार्थ पर्वत अनेक रूप धारण करके सुवर्णमय गोपुर तथा रजतमय प्राकार के व्याज से अपने मान की रक्षा के लिये ही मानों डर से चारों मानस्तंभों के पास जाकर उनकी सेवा करने लगे । ३३ ।

मज्जत्पुरंध्रिकुचकुंकुमलालितानि पर्यंतखातमलिलानि वितेनुर्गेषाम् ॥

आलोकनेन सुचिरोपचिताभिमानैर्लोकैर्विवांतदृढमानग्माभिशांकांम् ॥३४॥

मज्जत्पुरंध्रीत्यादि । मज्जत्पुरंध्रिकुचकुंकुमलालितानि मज्जन्तानि मज्जन्त्यः ताश्च ताः पुरंध्रयश्च तथोक्ताः मज्जत्पुरंध्रीणां कुचास्तथोक्तास्तेषां कुंकुमं तथोक्तं मज्जत्पुरंध्रिकुचकुंकुमेन लालितानि मज्जद्वनितास्तनकुंकुमेन रजितानि । पर्यंतखातमलिलानि पर्यंतम्य खाता पर्यंतखाता पर्यंतखातानां सलिलानि तथोक्तानि समीपस्थसरोवरजलानि । एषां मानस्तंभानां । आलोकनेन दर्शनेन । सुचिरोपचिताभिमानैः सुचिरेणोपचिनाम्सुचिरोपचिताः अभिमाना येषां ते सुचिरोपचिताभिमानास्तैः निरकालेन संचिनाभिमानसहितैः । लोकैः जनैः । विवांतदृढमानग्माभिशांकां विवस्यतेस्म विवांतः मानस्य रसः मानरसः दृढश्चासौ मानरसश्च दृढमानरसः विवांतश्चासौ दृढमानरसश्च विवांतदृढमानग्मः स इत्यभिशांका विवांतदृढमानरसाभिशांका तां विशेषेण वांतगाढाहंकारद्वय इति शांकां । वितेनुः विम्नार्यन्तिस्म । तनु विस्तारे लिट् ॥ ३४ ॥

भा० अ० — स्नान करती हुई स्त्रियों के कुच कुंकुमसंरजित नाग तरफ फँटते हुए खानिका के जल ने इन मानस्तंभों के देखने से हा मानों चिरस्ंचित अभिमान वाले लोगों से उद्गर्ण दृढ मानरस की शांका प्रकटित की । ३४ ।

विश्रामसौंदरमृदंगनिनादगर्जा विद्युल्लतायितनिलिंपनटीसनाथाः ॥

नाट्यान्वया विजितशारद्वारिवाहाश्चित्तचित्तौ नवरसान्वश्रुपुर्जनानाम् ॥३५॥

विश्रामेत्यादि । विश्रामसुन्दरमृदंगनिनादगर्जाः विश्रामेण सौंदरं विश्रामसौंदरः मृदंगस्य निनादो मृदंगनिनादः विश्रामसौंदरश्चासौ मृदंगनिनादश्च तथोक्तः विश्रामसौंदरमृदंगनिनाद एव गर्ज एषां ते तथोक्ताः विश्रामेण मनोहरमुरजध्वनिस्तनितयुक्ताः । विद्युल्लतायितनिलिंपनटीसनाथाः विद्युतो लता विद्युल्लतेव आचरन्तीति विद्युल्लतायतेस्म विद्युल्लतायिताः निलिंपानां नट्यो निलिंपनट्यः विद्युल्लतायिताश्च ताः निलिंपनट्यश्च तथोक्ताः विद्युल्लतायितनटीभिस्सनाथाः तटिल्लतानिभदेवनर्तकीसहिताः । विजितशारद्वारिवाहाः शरदि भवः शारदः वारि वहतीति वारिवाहः शारद-

श्रासौ वारिवाहश्च तथोक्तः विजयनेस्म विजितः विजितः शारद्वारिवाहो यैस्ते तथोक्ताः
निरसितशारदमेघसहिताः । नाट्यालयाः नाट्यस्थालयास्तथोक्ताः नर्तनशीलाः । जनानां
प्रेक्षकलोकानां । चित्तक्षिप्तौ चित्तमेव क्षितिः चित्तक्षितिस्तस्यां मनोभूमौ नवरसान्
नव च ते रसाश्च नवरसास्तान् शृंगारादिनवरसान् अभिनवजलानि च । “रसो गंधरसे
खादे चित्तादौ विपरागयोः । शृंगारादौ द्रवे वीर्ये देवधातौ च पारदे” इति विश्वः । वृषुः
सिषिचुः । वृषु सेचने लिट् । रूपकः उपमापि ॥ ३५ ॥

भा० अ० विधाम-समय के मृदंग की सुन्दर ध्वनि है गर्जन जिसके—विद्युल्लुति-
का आचरण करनी हुई देवांगना नर्तिका से युक्त तथा शरत्कालीन मेघ को जीते हुई
नाट्यशालाओं ने लोगों की चित्तभूमि पर नव रस की वृष्टि की । ३५ ।

सौवर्णाधूपघटनिर्गतधूमजालं मौरभ्यशालि दृष्टशे जिनपूजनाय ॥

आयज्जनम्य मुचिरं हृदयारविदगंधादिवासितमिव द्रवदंधकारम् ॥३६॥

सौवर्णेत्यादि । सौरभ्यशालि सुरभिरिव सौरभ्यं तेन शालि तथोक्तं परिमलेन मनोहरं ।
सौवर्णरूपघटनिर्गतधूमजालं सुवर्णं निर्मिताः सौवर्णाः धूपस्य घटाः धूपघटाः सौवर्णाश्च ते
धूपघटाश्च तथोक्ताः निर्गच्छन्तिस्म निर्गतं धूमात् जालं धूमजालं सौवर्णधूपघटनिर्गतं
तथोक्तं सौवर्णधूपघटनिर्गतं च तन् धूमजालं च तथोक्तं हेमनिर्मितधूपसमूहः ।
जिनपूजनाय जिनस्य पूजनं जिनपूजनं तस्मै । आयज्जनम्य एतन्त्यायन् स चासौ जनश्च
तथोक्तस्य आगच्छत्येकस्य । मुचिरं दीर्घकालं । हृदयारविदगंधादिवासितं हृदयमेव अरविदं
हृदयारविदं तस्य गंधस्त्वथोक्तः हृदयारविदगंधेनाधिवासितं तथोक्तं चित्तकमलपरि-
मलेन अभिसंस्कृतं । द्रवदंधकारमिव द्रवञ्च तदंधकारं च तथोक्तं धावदज्ञानांधकार-
मिव । दृष्टशे ईक्षे । दृशिनं प्रेक्षणं कर्मणि लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ ३६ ॥

भा० अ०—सुगन्ध से सोमने वाला सुवर्णमय धूप घट से निकला हुआ धूप-समूह
जिनदेव के पूजन के लिये आये हुए लोगों के हृदय-कमल की गंध से वासित
भागते हुए चिरसञ्चि । अज्ञानांधकार के ऐसा दीख पड़ा । ३६ ।

जैनी सभा जिनपदांबुजसेवयैव संत्म्यंति मंचु नवकेवललब्धयो वः ॥

इत्येवमुत्ततनवांगुलिमंज्ञयोच्चैस्तृपच्छलादुपयतां जिनसेवनार्थम् ॥३७॥

जैनीत्यादि । जैनी जिनस्येयं जैनी जिनेश्वरसंबन्धिनी । सभा संसत् । जिनपदांबुजसे-
वयैव जिनस्य पदे ते एवांबुजे जिनपदांबुजे तयोस्सेवा जिनपदांबुजसेवा तयैव जिनेश्वर-
चरणारविदसेवनेनैव । वः गुण्माकं । “पदाद्वाक्यस्येत्यादिना” षष्ठी वलादेशः । नवकेवललब्धयः

केवलाश्च ताः लब्धयश्च तथोक्ताः नव च ताः केवललब्धयश्च तथोक्ताः सम्यक्त्वा-
दिनवक्षायिकभावाः । मंक्षु शीघ्रं । सेत्स्यन्ति फलिष्यन्तीति । विधु संरादौ लट् । जिनसेव-
नार्थं जिनस्य सेवनं तस्मै इदं जिनाराधननिमित्तं । उपयतां उपयन्तीत्युपयन्तस्तेषां उपयतां
आश्रयतां । उच्चैस्तूपच्छलात् उच्चैश्च ते स्तूपाश्च तथोक्ताः स्तूपा इति च्छलं तस्मात् उद-
ग्रनवस्तूपल्याजान् । उन्नतनवांगुलिसंख्या नव च ताः अंगुलयश्च तथोक्ताः उन्नताश्च ताः
नवांगुलयश्च तथोक्ताः उन्नतनवांगुलीनां संज्ञा तथोक्ता तथा प्रांशुनवांगुलिसूचतया । एवं
प्रकारेण बभौ इत्यध्याहारः । उत्प्रेक्षा ॥ ३७ ॥

भा० अ०—जिनेन्द्र देव के चरण की सेवा करने से ही आप सबों के सम्यक्त्वादि
नवक्षायिक भावों की प्राप्ति शीघ्र होगी इस बात को समवसरण जिनशरणागत भक्तों को
जिनेन्द्र की सेवा के लिये ऊँचे २ नवस्तूपों के बहाने मानो लम्बी २ अंगुलियों से इशारा
करती हुई किसी ज्ञात होती थी । ३७ ।

रेजे विशालगणभूतलवेष्टितस्य पीठत्रयस्य शिरसि द्विपवैरिपीठम् ॥

धर्तुं जिनेश्वरमुपागतभद्रशालरुद्धत्रिसानुकनकाचलचूलिकेव ॥ ३८ ॥

रेज इत्यादि । विशालगणभूतलवेष्टितस्य भुवस्तलं भूतलं गणानां भूतलं गणभूतलं
विशालं च तत् गणभूतलं च तथोक्तं विशालगणभूतलेन वेष्टितं तथोक्तं तस्य । पीठत्रयस्य
त्रयोऽवयवा अस्येति त्रयं पीठानां त्रयं पीठत्रयं तस्य त्रिमेखलापीठस्य । शिरसि अग्रे । द्विप-
वैरिपीठं द्विपानां गणानां गजानां वैरिणो द्विपवैरिणस्तैर्धृतं पीठं सिंहासनं । जिनेश्वरं
जिननाथं । धर्तुं धरणाय धर्तुं । उपागतभद्रशालरुद्धत्रिसानुकनकाचलचूलिकेव उपागच्छतिस्म
उपागतः भद्रशालेन रुद्धो भद्रशालरुद्धः त्रयस्सानवो यस्य सः त्रिसानुः कनकरूपोऽचलः
कनकाचलः त्रिसानुश्चासौ कनकाचलश्च तथोक्तः भद्रशालरुद्धश्चासौ त्रिसानुकनकाचलश्च
तथोक्तः उपागतश्चासौ भद्रशालरुद्धत्रिसानुकनकाचलश्च तथोक्तः उपागतभद्रशाल-
रुद्धत्रिसानुकनकाचलस्य चूलिका तथोक्ता सेव उपायातभद्रशालवेष्टितप्रस्थत्रयसहितमेरुचूलि-
केव । रेजे बभौ । राजृ दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥ ३८ ॥

भा० अ०—विशाल द्वादश गणों की भूमि से परिवेष्टित, तीन पीठिकाओं के ऊपर स्थित
सिंहासन मानो जिनेन्द्र भगवान् को धारण करने के लिये आये हुए भद्रशाल से वेष्टित
तीन तटवाले सुमेरु की चूलिका के समान विराजमान हुआ । ३८ ।

तत्र त्रिकालविषयाखिलवस्तुवृत्तिसाक्षिप्रबोधमहसा सकलं स जानन् ॥

जिज्ञासयोपगतसंघचतुष्टयस्य तज्ज्ञापनोत्सुकतयेव चतुर्मुखोऽस्थात् ॥ ३९ ॥

तत्रेत्यादि । तत्र तस्मिन् सिंहपीठे । त्रिकालविषयाखिलवस्तुवृत्तिसाक्षिप्रबोधमहस्ता
त्रयाणां कालानां समाहारः त्रिकालं तस्य विषयाः अखिलानि च तानि वस्तूनि च
अखिलवस्तूनि त्रिकालविषयाश्च अखिलवस्तूनि च त्रिकालविषयाखिलवस्तूनि तेषां वृत्तिः
उत्पादव्ययद्रव्यलक्षणवृत्तिः तथोक्ता तस्याः साक्षिप्रबोधस्तथोक्तः स एव महः त्रिकाल-
विषयाखिलवस्तुवृत्तिसाक्षिप्रबोधमहस्तेन त्रैकाल्यविषयनिखिलपदार्थसाक्षात्प्रबुध्यमान-
केवलज्ञानतेजसा । सकलं निखिलं । जानन् जानातीति जानन् बुध्यमानः । सः मुनिसुव्रततीर्थ-
करपरमदेवः । जिज्ञासया ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा तथा ज्ञातुमिच्छया । उपगतसंघचतुष्टयस्य
संघानां चतुष्टयं संघचतुष्टयं उपगच्छतिस्म उपगतं तच्च तत् संघचतुष्टयं च तथोक्तं तस्य
आगतचतुस्संग्रहस्य । तज्ज्ञापनोत्सुकतयेव तस्य ज्ञापनं उत्सुकस्य भावः उत्सुकता तज्ज्ञापने
उत्सुकता तज्ज्ञापनोत्सुकता तथा सकलवस्तुज्ञापनोद्युक्ततयैव । चतुर्मुखः चत्वारि
मुखानि यस्य सः चतुर्मुखः चतुर्गुणः सन् । अथात् अतिष्ठत् । एषा गतिनिवृत्तौ लुङ् ।
उपमालंकारः ॥ ३६ ॥

भा० अ०—उस सिंहासन पर त्रिकाल-विषयक सभी पदार्थों का साक्षात् करने वाले
केवल ज्ञान की प्रखरता से सभी वानों को जानते हुए मानो जानने की इच्छा से समुपस्थित
चारों संघ को सूचित करने की उत्कण्ठासे ही चतुर्मुख होकर श्रीमुनिसुव्रतनाथ आसीन
हुए । ३६ ।

भामंडलेन निकटोच्चलचामरेण संवेष्टितो दिवि जिनाधिपतिश्चकाशे ॥

हंसान्वितेन शरदंबुदमंडलेन नीलांबुवाह इव कोऽपि कृतोपवीतिः ॥४०॥

भामंडलेनेत्यादि । दिवि आकाशे । निकटोच्चलचामरेण उच्चलतोत्पुच्छलं तच्च त-
च्चामरं च तथोक्तं निकटोच्चलचामरं तेन समीपे कंयमानप्रकीर्णकसहितेन । भामंडलेन
प्रभावलयेन । परिवेष्टितः आवृतः । जिनाधिपतिः जिनानामधिपतिस्तथोक्तः जिनेश्वरः ।
हंसान्वितेन हंसैरन्वितं हंसान्वितं तेन हंसपक्षियुक्तेन । शरदंबुदमंडलेन शरदोऽबुदास्ते-
षां मंडलं शरदंबुदमंडलं तेन शरत्कालमेघग्रूहेन । कृतोपवीतिः कृता उपवीनिर्यस्य सः
विहितान्वरणः । कोऽपि कश्चिन् । नीलाम्बुवाह इव नीलध्वासौ अंबुवाहश्च तथोक्तस्स इव
चकाशे बभौ । काश्ट दीमौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥४०॥

भा० अ०—निकट में डोलते हुए और भामण्डल से परिवेष्टित श्रीमुनिसुव्रत स्वामी
आकाश में हंस-युक्त शरत्कालीन मेघमण्डल से आच्छन्न नील जलद के समान सोभते
थे ॥ ४० ॥

अस्याशरीरपदलिप्सुतयाऽशरीरं बोधासिना हतवतो भुवनैकमल्लम् ॥

वीरस्य पार्श्वमुपयांति तदा तदीयदिव्यायुधान्यनुचकार लतांतवृष्टिः ॥४१॥

अस्येत्यादि । तदा तत्समये । लतांतवृष्टिः लतांतस्य वृष्टिस्तथोक्ता पुष्पवृष्टिः । “पुष्पं प्रसवं कुसुमं प्रसूनमपि सुमनसो लतांतः फुलः” इति जयकीर्तिः । अशरीरपदलिप्सुतया अशरीरस्य पदं तथोक्तं लब्धुमिच्छुः लिप्सु अशरीरपदस्य लिप्सुः अशरीरपदलिप्सुः तस्य भावः तथा अनंगपदविं सिद्धपदविं च लब्धुमिच्छुतया । भुवनैकमल्लं । एकश्चासौ मल्लश्चैकमल्लः भुवनस्य एकमल्लः भुवनैकमल्लः तं लोकमुख्यवीरं । अशरीरं न विद्यते शरीरं यस्य तं कामं । बोधासिना बोध एवासिर्वोधासिस्तेन सम्यग्ज्ञानखड्गेन । हतवतः हनिस्म हतवान् तस्य विनाशितवतः । अस्य एकस्य । वीरस्य शूरस्य । पार्श्वं । उपयंति उपयंतीत्युपयंति स्वयमेव समीपं गच्छन्ति । तदीयदिव्यायुधानि दिव्यानि च तान्यायुधानि च तथोक्तानि तस्येमानि तदीयानि तदीयानि च तानि दिव्यायुधानि च तथोक्तानि पुनस्तानि कामसंबन्धि-दिव्यशस्त्राणि । अनुचकार अनुकरोतिस्म । डुकृम् करणे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥४१॥

भा० अ०—उस समय पुष्पवृष्टि ने सिद्धपद वा कामदेव के पदको पाने की इच्छासे ही संसार में एकमात्र शूरवीर कामदेव को सम्यग्ज्ञान-रूपी तलवारसे मारे हुए शूर-शिरोमणि श्रीमुनिसुव्रत स्वामी के निकट आते हुए कामदेव के दिव्य अस्त्रों का अनुकरण किया ॥४१॥

दिव्यध्वनिश्च सुरदुंदुभिनिस्वनश्च संत्यक्तशासनतदीयफलाभिलाषम् ॥

उत्पद्यमानमुभयं युगपज्जहार श्रोत्रं मनश्च मुतरां परिषज्जनानाम् ॥४२॥

दिव्यध्वनिरित्यादि । दिव्यध्वनिः दिवि भवो दिव्यः दिव्यश्चासौ ध्वनिश्च तथोक्तः दिव्यभाषा । च समुच्चयार्थः । सुरदुंदुभिनिस्वनश्च सुरस्य दुंदुभिस्तथोक्तः सुरदुंदुभेः निस्वनस्तथोक्तः देवदुंदुभिध्वनिश्च । संत्यक्तशासनतदीयफलाभिलाषं तस्येदं तदीयं तच्च तत् फलं च तदीयफलं शासनं च तदीयफलं च शासनतदीयफले तयोरभिलाषस्तथोक्तः संत्य-ज्यतेस्म संत्यक्तः संत्यक्तः शासनतदीयफलाभिलाषो यस्मिन् कर्मणि तत् विरहितशा-स्त्रोपदेशाभिलाषं विहीनतज्जनिह्यातिलाभपूजाभिलाषं च यथा तथा । उत्पद्यमानं जायमानं । उभयं एतद्द्वयं । परिषज्जनानां परिषदि विद्यमाना जनास्तथोक्ताः तेषां समवसरणस्थित-भव्यलोकानां । श्रोत्रं श्रवणं । मनश्च मातसं च । सुतरां अत्यंतं । युगपत् सहत् । जहार अपहरतिस्म । हृञ् हरणे लिट् ॥४२॥

भा० अ०—शासन तथा उसकी फलप्राप्ति की इच्छा-निवृत्ति-पूर्वक उस समय होती हुई दिव्यध्वनि तथा देव-दुन्दुभि-ध्वनि ने समवसरण में समागत सभी जीवों के कान और मन हठात् आकृष्ट कर लिये ॥४२॥

सर्वज्ञपादरतयो वयमप्यशोका मुग्धांघ्रिजातरतयः किल तेऽप्यशोकाः ॥

इत्यालपन्नलिनिनादपदादशोकः प्रत्युन्मिषत्कुसुमकैतवतो जहास ॥४३॥

सर्वज्ञेत्यादि । सर्वज्ञपादरतयः सर्वं जानातीति सर्वज्ञः तस्य पादौ सर्वज्ञपादौ तयोरतिर्येषां ते तथोक्ताः जिनेश्वरपादारविंदप्रीताः । वयमपि अशोकाः न विद्यते शोको येषां ते तथोक्ताः शोकरहिताः अशोकवृक्षाः । मुग्धांघ्रिजातरतयः मुग्धानामंघ्रयो मुग्धांघ्रयस्तेषु जाता रतिर्येषां ते तथोक्ताः रमणीनां पादप्रीतिसहिताः । तेषु इतरतरवश्च । अशोकाः किल शोकरहिताः किल अशोकवृक्षाः किल । इति एवं । अलिनिनादपदात् अलीनां निनादोऽलिनिनादः अलिनिनाद इति पदं तथोक्तं तस्मात् भ्रमरध्वनिव्याजान् । आलपन् अलपनीत्यालपन् ब्रुवन् । अशोकः अशोकवृक्षः । प्रत्युन्मिषत्कुसुमकैतवतः प्रत्युन्मिषन्ति च तानि कुसुमानि च तथोक्तानि प्रत्युन्मिषत्कुसुमानीति कैतवं तथोक्तं प्रत्युन्मिषत्कुसुमकैतवम् ततः विकसत्कुसुमव्याजात् । जहास हसतिस्म । हसि हसने लिट् ।

भा० अ०—श्रीजिनेन्द्र भगवान् के चरणारविन्द में भक्ति करनेवाले हम सब भी अशोक (अशोकवृक्ष) अर्थात् शोक रहित हैं तथा ललनाओं के चरणों में रति रखनेवाले साधारण अशोकवृक्ष भी अशोक ही हैं—ऐसा वाग्विलास समवसरणस्थ अशोक वृक्षों ने आपस में किया ॥४३॥

छायां तिरस्कृतवतो जगदेकभर्तुः छायां प्रधातुमितमेतदलं ललज्जे ॥

छत्रत्रयं न यदि शारदनीरदामं श्यामं जिनांगरुचिसंगनिभात्कुतोऽभूत् ॥४४॥

छायामित्यादि । छायां प्रतिविंबं अनातपं च । तिरस्कृतवतः तिरस्करोतिस्म तिरस्कृतवान् तस्य निराकृतवतः । जगदेकभर्तुः एकश्चासौ भर्ता च एकभर्ता जगतामेकभर्ता तथोक्तस्तस्य लोकानां मुख्यस्वामिनः । छायां प्रतिछायां । प्रधातुं प्रधानाय प्रधातुं । इत्तं एतिस्म इत्तं गतं । शारदनीरदामं शरदोऽयं शारदः नीरं ददानीति नीरदः शारदश्चासौ नीरदश्च तथोक्तः शारदनीरद इवाभानीति तथोक्तम् शरत्कालमेघसदृशं । एतत् इदं । छत्रत्रयं छत्राणां त्रयं छत्रत्रयं । यदि चेत् । अलं अत्यंतं । न ललज्जे न जिहाय । तर्हि । जिनांगरुचिसंगनिभात् जिनस्यांगं जिनांगं तस्य रुचिः जिनांगरुचिः तस्यास्संगो-

जिनांगरुचिसंगः स एव निमस्तस्मात् जिनेश्वरावयवकानिसंपर्कव्याजात् । श्यामं नीलं । कुतः कस्मात् कारणात् । अभूत् अभवत् । भू सत्तायां लुङ् । अनुमित्यलंकारः ॥४४॥

भा० अ०—प्रतिविम्ब को तिरस्कृत किये हुए अर्थात् संसार के एकमात्र स्वामी श्री मुनिसुव्रतनाथ की कान्ति (छाया) की स्पर्धा करने के लिये समुपस्थित जो शरत्कालीन मेघवत् छत्रत्रय हैं, वे यदि अत्यन्त लज्जित नहीं होते तो जिनेन्द्र देव की अंगकान्ति से श्याम क्यों होते ? ॥४४॥

स्त्रीबालवृद्धनिवहोऽपि सुखं सभां तामंतर्मुहूर्तसमयांतरतः प्रयाति ॥

निर्याति च प्रभुमहात्मतयाऽश्रितानां निद्रामृतिप्रसवशोकरुजादयो न ॥४५॥

स्त्रीत्यादि । स्त्रीबालवृद्धनिवहोऽपि स्त्रियश्च बालाश्च वृद्धाश्च स्त्रीबालवृद्धास्तेषां निवहस्तथोक्तः वनितामाणवकवृद्धानां समूहोऽपि । तां सभां समवसरणं । अंतर्मुहूर्तसमयांतरतः मुहूर्तस्यांतरं अंतर्मुहूर्तस्य चासौ समयश्च तथोक्तः अंतर्मुहूर्तसमयांतरं अंतर्मुहूर्तसमयांतरं अंतर्मुहूर्तसमयांतरे अंतर्मुहूर्तसमयांतरतः अंतर्मुहूर्तकालमध्ये । प्रभुमहात्मतया महांश्चासौ आत्मा च महात्मा तस्य भावो महात्मता प्रभोर्महात्मता तथा स्वामिसामर्थ्येन । प्रयाति गच्छति । निर्याति च आगच्छति च । आश्रितानां समवसरणगतप्राणिनां । निद्रामृतिप्रसवशोकरुजादयः निद्रा च मृतिश्च प्रसवश्च शोकश्च रुक् च तथोक्ताः निद्रामृतिप्रसवशोकरुजः आदयो येषां ते तथोक्ताः । न न भवेयुरित्यध्याहारः ॥४५॥

भा० अ०—स्त्री, बच्चे और वृद्ध सब के सब उस समवसरण सभा में अन्तर्मुहूर्त में ही सुखपूर्वक जाते आते थे । श्रीजिनेन्द्रदेव के प्रसाद से समवसरण में सम्मिलित किसी प्राणी को निद्रा, मृत्यु, प्रसव, शोक तथा रोगादिक नहीं होते थे ॥४५॥

मिथ्यादृशः सदसि तत्र न संति मिश्राः सामादनाः पुनरमंजिवदप्यभव्याः ॥

भव्याः परं विगचिनांजलयः सुचित्तास्तिष्ठंति देववदनाभिमुखं गणोर्व्याम् ॥४६॥

मिथ्यादृश इत्यादि । तत्र तस्मिन् । सदसि समवसरणे । मिथ्यादृशः मिथ्या दूक् येषां ते तथोक्ताः मिथ्यादृष्टयः । मिश्राः सम्यग्मिथ्यादृष्टयः । सामादनाः सामादनसम्यग्दृष्टयः । पुनः पश्चान् । असंज्ञिवत् संज्ञास्त्वेषामिति संज्ञिनः न संज्ञिनोऽसंज्ञिनस्त इव तथोक्ताः असंज्ञिप्राणिनो यथा न संतीति तथा । अभव्याः रत्रत्रयाविर्भवनयोग्या भव्याः न भव्या अभव्याः तथोक्ता अपि अभव्या अपि । न संति । परं केवलं । विरचितांजलयः विरचितोऽजलिर्येस्ते तथोक्ताः संघटितफरकुड्मलाः । सुचित्ता सुष्ठु शोभनं चित्तां येषां ते तथोक्ताः भद्रमानसाः । भव्याः रत्नत्रयाविर्भवनयोग्या भव्याः । गणोर्व्यां गणानामूर्ध्वं गणोर्वो तस्यां गणभूमौ ।

देववदनामिमुखं देवस्य वदनानि देववदनानि तेषामभिमुखं यथा तथा । तिष्ठंतीति भासते ।
एषा गतिनिवृत्तौ लट् ॥ ४६ ॥

भा० अ० उस समवसरण सभा में मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि
असंज्ञी और अभव्यजीव नहीं रहते थे । किन्तु द्वादश भूमि में केवल निर्मल चित्तवाले
भव्यजीव ही बद्धाञ्जलि होकर जिनेन्द्रदेव के समक्ष रहते थे ॥४६॥

इत्यद्भुतां त्रिभुवनैकपतेः सभां तामागत्य वीक्ष्य निखिलं हरिणा जिनेन्द्रम् ॥

आकीर्णपुष्पमवनम्य पुनर्ममज्जं हर्षांबुधौ भवममुद्रतितीर्षुणापि ॥४७॥

इत्यद्भुतामित्यादि । त्रिभुवनैकपतेः त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनं एकध्यासौ पतिश्च
एकपतिः त्रिभुवनस्यैकपतिस्त्रिभुवनैकपतिः तस्य त्रिजगन्नाथस्य । इति एवं प्रकारेण ।
अद्भुतां आश्चर्यरूपां । तां सभां समवसरणं । आगत्य आगमनं पूर्वं पश्चात् एतत् । निखिलं
सकलं । वीक्ष्य दृष्ट्वा । आकीर्णपुष्पं आकीर्णानि पुष्पाणि यस्मिन्कर्मणि तत् प्रकीर्णपुष्पं
यथा भवति तथा क्रियाविशेषणं तस्मान्नपुंसकं । जिनेन्द्रं जिनेश्वरं । अवनम्य अवनमनं पूर्वं
प्रणम्य । भवसमुद्रतितीर्षुणापि भव एव समुद्रो भवसमुद्रः तर्तुमिच्छुः तितीर्षुः भवसमुद्र-
स्य तितीर्षुस्तथोक्तः तेन संसारसागरतरणामिलापुणापि । हरिणा देवेन्द्रेण । पुनः भूयः ।
हर्षांबुधौ हर्ष एवांबुधिर्हर्षांबुधिस्तस्मिन् संतोषसमुद्रे । ममज्जं मस्मिन् । दुर्मज्जौ शुद्धौ
कर्मणि लिट् । रूपकालंकारः ॥४७॥

भा० अ०—त्रिलोकीपति श्रीजिनेन्द्र देव की उस अलौकिक सभामें आ सभी पदार्थों
का देखकर देवेन्द्र पुष्प-वृष्टि-पूर्वक श्रीमुनिसुव्रतनाथ की वन्दना करके संसार-समुद्र को
तैरनेकी इच्छा करते हुए भी हर्षसमुद्र में गोता लगाने लगे ॥४७॥

सक्षायिकाचलदृशोज्ज्वलसंयमेन सप्तर्धिसम्यगवबोधचतुष्कभाजा ॥

श्रीमल्लिषेणगणिनाथ तदीरितेन पृष्टः समस्तविदसौ निजगाद तत्त्वम् ॥४८॥

सक्षायिकेत्यादि । अथ अनन्तरे । सक्षायिकाचलदृशा अचला चासौ दृक्च अचलदृक्
क्षायिकी चासौ अचलदृक्च क्षायिकाचलदृक् तथा सह वर्तते इति सक्षायिकाचलदृक् तेन
निश्चलक्षायिकसम्यक्त्वयुक्तेन । उज्ज्वलसंयमेन उज्ज्वलः संयमो यस्य सः तेन निर-
तिचारचारित्रसहितेन । सप्तर्धिसम्यगवबोधचतुष्कभाजा सम्यञ्च ते अवबोधश्च स-
म्यगवबोधाः तेषां चतुष्कं सम्यगवबोधचतुष्कं सप्त च ता ऋद्ध्यश्च सप्तर्धयः सप्तर्धयश्च
सम्यगवबोधचतुष्कं च तथोक्तानि भजतिस्म सप्तर्धिसम्यगवबोधचतुष्कभाक् तेन ।

तदीरितेन तेनेरितस्तदीरितस्तेन देवेन्द्रेण प्रेरितेन । श्रीमल्लिनाथगणिना गणोऽस्यास्तीति गणो श्रिया उपलक्षितो मल्लिनाथः श्रीमल्लिनाथः स चासौ गणो च श्रीमल्लिनाथगणी तेन । ज्ञानवैराग्यसंपद्युक्तमल्लिनाथगणधरेण । पृष्ठः पृच्छतिस्म पृष्ठः वशिव्यचीत्यादिना यत्र इक् । विज्ञापितः । असौ अयं । समस्तविद् समस्तं वेत्तीति तथोक्तः सर्वज्ञः । तत्त्वं जीवादि-स्वरूपं । निजगाद् निरूपयामास । गद् व्यक्तायां वाचि लिट् ॥४८॥

भा० अ०—स्थिर शायिक सम्यक्त्व से युक्त, निरतिचार चारित्रसहित, सात ऋद्धियों और चार सम्यग्ज्ञान के पात्र तथा देवेन्द्र से प्रेरित श्रीमल्लिनाथ गणि से प्रार्थित किये गये सर्वज्ञ देव ने जीवाजीवादि तत्त्वों को निरूपित किया ॥४८॥

अथ समयविदीन्द्रादेशतो वाद्यदेवैर्विनिहतजिनसंख्योदारभेरिप्रणादः ॥

विघटितगिरिसंधिर्विश्वविश्वैकभर्तुस्त्रिभुवनमपि यात्रारंभमावेदयत्तम् ॥४९॥

अथेत्यादि । अथ तत्त्वनिरूपणानंतरे । विघटितगिरिसंधिः गिराणां संधिर्गिरिसंधिः विघटितो गिरिसंधिर्येन सः तथोक्तः । समयविदीन्द्रादेशतः समयं वेत्तीति तथोक्तः समय-विच्छासाविंद्रश्च समयविदीन्द्रस्नस्यादेशतः श्रीविहारकालज्ञदेवेन्द्राज्ञया । वाद्यदेवैः वाद्यस्य देवा वाद्यदेवास्तैः किल्विपदेवैः । विनिहतजिनसंख्योदारभेरिप्रणादः उदारश्च ताः भेर्यश्च तथोक्ताः जिनानां संख्या यासां तास्तथोक्ताः जिनसंख्याश्च ताः उदारभेर्यश्च तथोक्ताः विनिहन्यंते स्म विनिहता ताश्च ता जिनसंख्योदारभेर्यश्च विनिहतजिनसंख्योदारभेर्यस्नासां प्रणाद-स्तथोक्तः प्रहतचतुर्विंशतिमहद्देगिध्वनिः । विश्वविश्वैकभर्तुः विश्वश्च विश्वश्च विश्व-विश्वं एकश्चासौ भर्ता च एकभर्ता विश्वविश्वस्य एकभर्ता तथोक्तस्तस्य समस्तमुख्य-स्वामिनः अथवा विश्वे च ते विश्वाश्च विश्वविश्वास्तेषां भर्ता तस्य त्रिलोकस्वामिनः । “नागरवज्रोजगत्समस्तेषु विश्वः” इति नानार्थरत्नकोशे । तं प्रकृतं । यात्रारंभं यात्राया आरंभो यात्रारंभस्तं श्रीविहारप्रारंभं । त्रिभुवनमपि त्रिजगदपि । आवेदयन् अवेदि कश्चित्तमन्यः प्रायुंक्तेत्यावेदयत् । विद् ज्ञाने जिज्ञृतालङ् ॥ ४९ ॥

भा० अ०—तत्त्वनिरूपण के बाद समयज्ञ अर्थात् भगवान् के विहारसमयन्धी समय को जाननेवाले इन्द्रके आदेशानुसार किल्विप देवों-द्वारा व्रजायी गयी तथा पर्वतों को विदीर्ण किये हुई बड़ी २ भेरियों की चौबीस ध्वनियों ने त्रिभुवनपति श्रीमुनिसुव्रतनाथ को यात्रा के समारंभ की घोषणा से समस्त संसार को विह्वल किया ॥४९॥

समवसरणामभ्रे भव्यपुरायैश्चाल स्फुटकनकमरौजश्रेणिना लोकबंधः ॥

सुरपतिरपि सर्वान् जैनसेवानुरक्तान् कलितकनकदंडो योजयन्स्वस्वकृत्ये ॥५०॥

समवसरणमित्यादि । समवसरणं समवसृतिः । भव्यपुण्यैः भव्यानां पुण्यानि भव्य-
पुण्यानि तैः विनेयजनसुकृतैः । अग्रे आकाशे । चचाल इयाय । चल कपने लिट् । लोकबंधः
लोकैर्व्यंस्तथोक्तः त्रैलोक्यस्तुत्यो जिनः । स्फुटकनकसरोजध्रे णिना सरसि जायंत इति
सरोजानि कनकानि च तानि सरोजानि च तथोक्तानि स्फुटानि च तानि कनकसरोजानि च
तथोक्तानि स्फुटकनकसरोजानां श्रेणिस्तेन विकसदरुणारविदध्रे णिना । चचाल । कलित-
कनकदंडः कल्पतेस्म कलितः कलितः कनकदंडो यस्य सः तथोक्तः स्वीकृतसुवर्णदंडसहितः ।
सुरपतिः सुराणां पतिस्तथोक्तः । जैनसेवानुरक्तान् जिनस्येयं जैनां सा चासौ सेवा च जैनसेवा
मानिस्यैकार्थयोरित्यादिना पुंवद्भावः अनुरज्यंतेस्म अनुरक्ताः जैनसेवायामनुरक्तास्तान्
जिनेश्वराराधनायां प्रोतान् । सर्वानपि सकलानपि । स्वस्वकृत्ये स्वे च स्वे च स्वस्वे तेषां
स्वस्वकृत्यं तस्मिन् निजनिजकार्ये “वीप्सायाम्” इति द्विः । योजयन् योजयतीति तथोक्तः
प्रेरयन् । चचाल । मध्यदीपिकालंकारः ॥ ५० ॥

भा० अ०—भव्य जीवों के पुण्यों से समवसरणसभा आकाश मार्ग से चली और
विकसित रत्न कमलों के ऊपर त्रिभुवनवन्द्य श्रीमुनिमुव्रत नाथ भी चले तथा साथही साथ
सुवर्णदण्डधारी इन्द्र भी जिनसेवानुरक्त सभी लोगोंको अपने २ काममें लगाते हुए
चल पड़े ॥५०॥

सितचमररुहाली पार्श्वयोश्चिक्षिपाते सुधिय उपरि शुभ्राण्यतपत्राणि देवैः ॥

उदधृषत तथाष्टौ मंगलान्यप्सगोभिर्दिशि दिशि धृतमग्रे धर्मचक्रं च यक्षैः ॥५१॥

सितचमरेत्यादि । सितचमररुहाली चमरेषु रोहंतीति चमररुहाणि “चमरं चामरे
प्राहुर्मजरामृगभेदयोः” इति विश्वः । सितानि च तानि चमररुहाणि च तथोक्तानि तेषामावली
द्विवचनं शुभ्रचमरश्रेणी । सुधियः शोभना धीर्यस्मान् भव्यजनानां भवतीत्यसौ सुधीः तस्य
जिनेश्वरस्य । पार्श्वयोः उभयपार्श्वयोः । चिक्षिपाते विक्षिपेतेस्म क्षिप प्रेरणे लिट् । शुभ्राणि
श्वेतानि । आतपत्राणि । उपरि ऊर्ध्वभागे । देवैः सुरैः । उदधृषत उध्रियंतेस्म । धृङ् धारणे
कर्मणि लुङ् । तथा तेन प्रकारेण । दिशि दिशि दिशायां त्रिशायां । अप्सरोभिः देवगणिकाभिः ।
अष्टमंगलानि भृंगाराद्यष्टमंगलानि । उदधृषत । अग्रे पुरः । यक्षैः यक्षदेवैः । धर्मचक्रं
धर्मरूपं चक्रं तथोक्तं । धृतं भृतं ॥ ५१ ॥

भा० अ०—श्रीजिनेन्द्र देव के दोनों ओर चमर डुलाये जाने लगे, ऊपर से देवोंने छत्र
लगाया । अप्सरायें प्रत्येक दिशा में भृंगारादि अष्टमंगल द्रव्य लेकर खड़ी रहीं तथा
यक्षोंने बड़ी बृहताके साथ धर्म-चक्र धारण किया था ॥५१॥

सपदि पवनदेवाः शर्कारालोष्टधूलिक्रिमितृणामपनिन्युर्भूतलान्मेघदेवाः ॥

सुरभिसलिलसेकं चक्रुरतेदमासीन्मुकुरदलवदच्छाकाशदिकृस्पर्धयेव ॥५२॥

सपदीत्वादि । पवनदेवाः पवनाश्च ते देवाश्च तथोक्ताः वायुकुमाराः । शर्कारालोष्टधूलिक्रमितृणम् शर्करा च लोष्टञ्च धूलिश्च कृमिश्च तृणञ्चापि तथोक्तानि तेषां समाहारस्तथोक्तं । भूतलात् भुवस्तलं भूतलं तस्मात् भूप्रदेशात् । सपदि सत्वरं । अपनिन्युः निवारयांचक्रुः । णीङ् प्रापणे लिट् । अत्र अस्मिन् भूतले । मेघदेवाः मेघकुमाराः । सुरभिसलिलसेकं सुरभि च तत् सलिलं च तथोक्तं सुरभिसलिलस्य सेक-स्तथोक्तः तं परिमलकलितजलसेवनं । चक्रुः विदधुः । डुकृञ् करणे लिट् । इदं भूतलं । अच्छाकाशदिकृस्पर्धयेव आकाशश्च दिशश्च आकाशदिशः अच्छाश्च ता आकाशदिशाश्च तथोक्ताः आच्छाकाशादिग्भिस्सह स्पर्धा तयेव निर्मलगगनदिग्भिस्साकं मात्सर्येणैव । अभुरिति यावत् । मुकुरनलवत् मुकुरस्य तलं तथोक्तं मुकुरनलमिव सम्मुखीनतलवत् । आसीत् अभवत् । अस भुवि लङ् । उपमा ॥५२॥

भा० अ०—पवन देवों ने पृथ्वीसे कंकड़ी, रोड़े धूलि, कीड़े, तथा तिनके शीघ्र हटाकर जिनेन्द्र देव के प्रयाण-मार्ग-को परिष्कृत कर दिया । मेघों ने उसे सुगन्धित जलसे सिञ्चन किया तथा आकाश और दिशायें मानों स्पर्धासे आयने की ऐसी स्वच्छ होगयी ॥५२॥

धरणिमरवृष्टैरुद्गमैस्सोपहारसुरमणिमुकुटार्चिःशक्रचापार्चितं स्वम् ॥

सुरनरजयशब्दस्तोत्रकिर्मीरभेरीमुखरवमुखरं चाप्यास दिक्चक्रवालम् ॥५३॥

धरणिरित्यादि । अमरवृष्टैः वर्षन्तिस्म वृष्टाः अमरैर्वृष्टा अमरवृष्टाः तैः । उद्गमैः पुष्पैः । “लतांतं प्रसवोद्गमम्” इति धनंजयः । धरणिः भूमिः । सोपहारा उपहारेण सह वर्तत इति तथोक्ता पूजासहिता । आस बभूव । खं आकाशां । सुरमणिमुकुटार्चिःशक्रचापार्चितं सुराणां मणिमुकुटानि तथोक्तानि तेषां अर्चो वि तथोक्तानि शक्रस्य चापं शक्रचापं सुर-मणिमुकुटार्चीं ष्येव शक्रचापं तथोक्तं अर्चयतेस्म अर्चितं सुरमणिमुकुटार्चिःशक्रचापेनार्चितं तथोक्तं देवानां रत्नमौलिकिरणेंद्रचापेन पूजितं । आस बभूव । दिक्चक्रवालं चापि दिशां चक्रवालं तथोक्तं दिग्मंडलं । “चक्रवालं तु मंडलम्” इत्यमरः । सुरनरजयशब्दस्तोत्रकिर्मीर-भेरीमुखरवमुखरं च सुराश्च नराश्च सुरनराः जयेति शब्दो जयशब्दः जयशब्दश्च स्तोत्रञ्च जयशब्दस्तोत्रे सुरनराणां जयशब्दस्तोत्रे ताभ्यां किर्मीरस्तथोक्तः भेरीणां मुखं भेरीमुखं तस्य रवः सुरनरजयशब्दस्तोत्रकिर्मीरश्चासौ भेरीमुखरवश्च तथोक्तः सुरनरजयशब्दस्तोत्र-

किर्मोरभेरीमुखरवेण मुखरं तथोक्तं । देवमनुष्यजयनिनादस्तुतिमिश्रितभेरीमुखरवध्व-
निना वाचाटं । आस बभूव । दीपकालंकारः ॥५३॥

भा० अ०—देवताओं से की गयी पुष्पवृष्टि से पृथ्वी उपहार-सहित ज्ञात होने लगी ।
आकाश-मण्डल भी देवताओं के मणिमय मुकुट की ज्योतिरूप इन्द्रधनुष से शोभित
होता हुआ देवता और मनुष्यों की जयशब्द-स्तुति-मिश्रित भेरी भांकार से मुखरित
होगया ॥५३॥

गलितचिरविरोधाः प्राप्तवंतश्च मैत्रीं मिथ इव जिनसेवालंपटात्संपदिद्धाः ॥

षडपि च ऋतवन्ते तत्र तत्रान्वगच्छन् व्यवहृदयमीशो यत्र यत्रैव देशे ॥५४॥

गलितेत्यादि । अयं एषः । ईशः स्वामी । यत्र यत्रैव यस्मिन् यस्मिन्नेव । देशे जनपदे ।
व्यवहरत् व्यवगमत् । तत्र तस्मिन् तस्मिन् वीप्सायामिति द्विः । गलितचिरविरोधाः गलतिस्म
गलितः चिरं स्थितो विरोधश्चिरविरोधः गलितश्चिरविरोधो येभ्यस्ते तथोक्ताः किगत-
बहुकालस्थितविरोधभावाः । मैत्रीं मित्रस्य भावो मैत्री तां “युवादिहायनान्तादण्” इत्यनेनाण्
मित्रभावं । मिथः इव अन्योन्यमित्र । प्राप्तवंतश्च प्राप्तुर्वन्तिस्म प्राप्तवंतः यातवन्तः । जिनसेवा-
लंपटात् जिनस्य सेवा जिनसेवा तस्या लंपटस्तथोक्तस्तस्मान् जिनेशस्याराधनाया आसक्तेः ।
संपदिद्धाः संपदा इद्धास्तथोक्ताः ऐश्वर्येण प्रथिताः । षडपि ते ऋतवः हेमन्तादिषडृतवोऽपि ।
अन्वगच्छन् अन्वायन् गम्युं गतौ लङ् । षडृतूनां युगपदागमनत्वमेव विगोघरहितत्वमित्यर्थः ॥५४॥

भा० अ०—श्रीमुनिसुव्रत नाथ ने जहाँ २ विहार किया वहाँ २ के जीवों ने चिरप्राप्तता
छोड़कर मैत्री करली । जिनेन्द्र भगवान की सेवा में अनुरक्त होने से लोग भट सभ्यत्ति-
शाली हो गये । तथा छः हो ऋतुएं परस्पर एक ही वार मिलीं,—अर्थात् सभी
ऋतुओं ने एकही वार अपने २ सामयिक ऋतु-सम्बन्धी दृश्य दिखलाये ॥५४॥

न परमखिललोकः प्रातिकूल्यं विहाय त्रिभुवनतिलकं तं वायुरप्यन्वियाय ॥

दिविजसरसि मग्नः पुष्पगंधोपवाही मधुकरकुलशब्दच्छद्मना संरतुवानः ॥५५॥

नेत्यादि । अखिललोकः अखिलश्चासौ लोकश्च तथोक्तः सकलजनः । प्रातिकूल्यं
प्रतिकूलस्य भावः प्रातिकूल्यं प्रतिकूलत्वं । विहाय विहानं पूर्वं पश्चात्किंचिदिति त्यक्त्वा । तं
त्रिभुवनतिलकं त्रिभुवनैकतिलकः त्रिभुवनतिलकस्तं त्रिजगच्छ्रेष्ठं । परं केवलं ।
अन्वियाय अनुजगाम । इण् गतौ लिट् । किंतु पुष्पगंधोपवाहो पुष्पस्य गन्धः पुष्पगन्धः
पुष्पगंधमुपबहतीत्येवं शीलस्तथोक्तः कुसुमपरिमलधारी । दिविजसरसि दिविजं स्तो
दिविजसरस्तस्मिन् दिव्यगंधायां । मग्नः मर्जतिस्म मग्नः स्नातः । मधुकरकुलशब्दच्छद्मना

मधुकराणां कुलं मधुकरकुलं तस्य शब्दस्तथोक्तः मधुकरकुलशब्द एव छत्र तथोक्तं तेन । संस्तुवानः संस्तुवत इति संस्तुवानः सन्नुवानः । वायुः मारुतोऽपि । अपिशब्दस्समुच्च-
यार्थः । अन्वियाय अनुजगाम । अत्र वायोः शैत्यसौरभ्यमांघ्रलक्षणानि लक्ष्यन्ते ।
दीपकः ॥५५॥

भा० अ०—विरोध छोड़कर केवल सभी लोगों ने ही त्रिभुवन-श्रेष्ठ श्रीजिनेन्द्र
देव का नहीं अनुसरण किया प्रत्युत दिव्य सुगन्ध में खनकर पुष्पगन्ध को ढोती हुई
वायु ने भो भ्रमर-समूह के गुंजार के बहाने स्तुति-द्वारा उनका अनुगमन किया ॥२५॥

अपि च सदसि भर्तुः कच्छपांकस्य रेजुः सवरुणबहुरुपिण्यन्वहाराधितस्य ॥

गणधरपदभाजोऽष्टादशैतच्छ्रुतां कानपरमवधिनेत्राः केवलज्ञानिनोऽपि ॥५६॥

अपीत्यादि । अपि च किंतु । सवरुणबहुरुपिण्यन्वहाराधितस्य वरुणेन सह वर्तत इति स-
वरुणा सा चासौ बहुरुपिणी च सवरुणबहुरुपिणी अहरहरनु अन्वहं आराध्यतेस्म आरा-
धितः अन्वहमाराधितस्तथोक्तः सवरुणबहुरुपिण्यन्वहाराधितस्तथोक्तस्तस्य वरुणयक्ष-
बहुरुपिणीयक्षीभ्यां सततं पूजितस्य । कच्छपांकस्य कच्छप एव अंको यस्य सः तस्य कूर्मलां-
छनस्य । भर्तुः जिनेश्वरस्य । सदसि सभायां । अष्टादश अष्टधिरग्निका दश तथोक्ताः “द्वा-
ष्टात्रय” इत्यादिनाष्टादेशः । गणधरपदभाजः गणान् धरतीति गणधरस्तस्य पदं गणधरपदं
तद्गजंतीति तथोक्ताः गणधरपदवीं संप्राप्ताः गणधरा इत्यर्थः । रेजुः वभुः । राजृ र्दं प्रौ लिट् ।
एतच्छ्रुतांकाः एतेषां शतं एतच्छतं तदेवांको येषां ते तथोक्ताः अष्टादशवारशतप्रमिताः
शताष्टकाधिकसहस्रप्रमिता इत्यर्थः । अवधिनेत्रा अवधिरेत्र नेत्रं येषां ते तथोक्ताः ।
न परं न केवलं रेजुः । किंतु केवलज्ञानिनोऽपि केवलं च तद् ज्ञानं च केवलज्ञानं तदस्त्येषा-
मिति तथोक्ताः तेषि तावन् एवेत्यर्थः । रेजुः वभुः ॥५६॥

भा० अ०—वरुण, यक्ष तथा बहुरुपिणी यक्षी से प्रतिदिन पूजित और कच्छप-
लाञ्छनाङ्कित श्रीमुनिसुवन नाथ की समवस्मरण सभा में अट्टारह गणधर विराजमान
हुए थे । अट्टारह सौ अवधिज्ञानी भा सुशोभित हो रहे थे: केवल अवधिज्ञानी ही नहीं
केवल ज्ञानी भी उतने ही थे ॥५६॥

शतविगलितमाना वादिनस्तुर्यबोधास्त्रिशतगलितसंख्या विक्रियर्धिप्रमिदाः ॥

अधिकशतचतुष्काः केवलिभ्यो बभ्रुवुस्त्वधिगतदशपूर्वास्तुर्यबोधत्रिंभागाः ॥५७॥

शतेत्यादि । केवलिभ्यः सकाशात् । शतविगलितमानाः शतेन विगलितः तथोक्तः
शतविगलितः मानः येषां ते तथोक्ताः केवलज्ञानप्रमाणाच्छतरहितप्रमाणाः सप्तशताधिकसह-

सप्रमिता इत्यर्थः । वादिनः महावादिनः । त्रिशतगलितसंख्याः त्रीणि च तानि शतानि च त्रिशतानि तैर्गलिता संख्या येषां ते तथोक्ताः शतत्रयरहितकेवलज्ञानिप्रमाणाः पञ्चशताधिक-सहस्रमाना इत्यर्थः । तुर्यबोधोः चतुर्णां पूरणः तुर्यः तुर्यो बोधो येषां ते तथोक्ताः मनःपर्ययज्ञानिनः । अधिकशतचतुष्काः शतानां चतुष्कं शतचतुष्कं अधिकं शतचतुष्कं येषां ते तथोक्ताः चतुःशताधिककेवलप्रमाणाः द्विशताधिकद्विसहस्रपरिमिता इत्यर्थः । विक्रियधिप्रसिद्धाः विक्रियां चासौ ऋद्धिश्च विक्रियधिस्तथा प्रसिद्धाः विक्रियधिप्र-नीताः । तुर्यबोधत्रिभागाः तुर्यो बोधो येषां ते तुर्यबोधास्तेषां त्रयो भागा येषां ते तथोक्ताः पञ्चशतप्रमिता इत्यर्थः । अधिगतदशपूर्वाः दश च तानि पूर्वाणि च दशपूर्वाणि अधिगम्य-न्तेस्म अधिगतानि दशपूर्वाणि यैस्ते तथोक्ताः ज्ञातदशपूर्वाः दशपूर्वधराः । बभूवुः भवन्तिस्म भू सत्तायां लिट् ॥ ५७ ॥

भा० अ०—वहाँ वादी तथा महावादी सत्रह सौ, मनःपर्ययज्ञानी पन्द्रह सौ, विक्रिया-ऋद्धिसे प्रसिद्ध देवगण तथा मुनिगण बाईस सौ और पांच सौ वहाँ दशपूर्व के धारक थे ॥ ५७ ॥

तिहतहयसहस्राण्यर्धलक्षं च लक्षं त्रिगुणितमपि लक्षं शिक्षकाश्चार्यकाश्च ॥
उपगतगृहमेधाः श्राविकाश्चाप्यसंख्याः सुरसुरसुकुमार्यः प्राप्तसंख्या मृगाश्च ५८

त्रिहेतेत्यादि । त्रिहतहयसहस्राणि हयसंख्याप्रमितानि सहस्राणि हयसहस्राणि त्रिभिर्हतानि तानि च तानि सहस्राणि च तथोक्तानि एकविंशतिसहस्राणि । शिक्षकाः उप-देशकाः । अर्धलक्षं लक्षस्यार्धं अर्धलक्षं । आर्यकाः । लक्षं एकलक्षं । उपगतगृहमेधाः उपगता गृहमेधा येषां ते तथोक्ताः श्रावकाः । त्रिगुणितं त्रिभिर्गुणितं तथोक्तं । लक्षमपि त्रिलक्षणीत्यर्थः । श्राविकाश्चापि । असंख्याः न विद्यन्ते संख्या यासां ताः तथोक्ताः असंख्याताः । सुरसुरसुकुमार्यश्च सुराणां सुकुमार्यः सुरसुकुमार्यः सुराश्च सुरसुकुमार्यश्च तथोक्ताः देवदेव्यः । प्राप्तसंख्याः प्राप्ता संख्या यैस्ते तथोक्ताः संख्याताः । मृगाश्च तिर्यचः । बभूवुः ॥ ५८ ॥

भा० अ०—वहाँ इक्कीस हजार उपदेशक, पचास हजार आर्य का, एक लक्ष श्रावक, तीन लक्ष श्राविकार्ये, असंख्य देव और देवांगनार्ये तथा प्राप्त संख्या वाले पशु पक्षी आदि तिर्यग्योनि के जीव भी थे ॥५८॥

इति विषयमशेषं विश्ववन्द्यो विहत्य त्रिचरणपरिशिष्टं नूनमब्दायुतं सः ॥

सुजनहृदयवप्रेषुमत्तत्त्वार्थमस्यः प्रविशदमणिचूलं प्राप संमेदशैलम् ॥५९॥

इतीत्यादि । विश्वबंधः विश्वैबंधः विश्वबंधः सकलैः स्तुत्यः । सुजनहृदयवप्रेषु शोभना जनाः सुजनाः तेषां हृदयानि तथोक्तानि सुजनहृदयान्येव वप्राणि सुजनहृदय-
वप्राणि तेषु भव्यचित्तक्षेत्रेषु । उमतस्वार्थसस्यः तत्त्वानि चार्थाश्च तत्त्वार्थाः यद्वा तत्त्वानां
अर्थास्तत्त्वार्थास्त एव सस्यानि तथोक्तानि उप्यतेस्म उप्तानि तत्त्वार्थसस्यानि येन सः तथोक्तः
उत्तसमतत्त्ववपदार्थसस्यः । सः जिनेश्वरः । अशेषं न विद्यते शेषो यस्य तं निःशेषं । विषयं देशं ।
त्रिचरणपरिशिष्टं त्रयश्च ते चरणाश्च त्रिचरणास्तैः परिशिष्टं तथोक्तं त्रिपादावशिष्टं
नूनं किञ्चिद्विहीनम् त्रयोदशमासविकलमित्यर्थः । अब्दायुतं अब्दानामयुतं दशवर्षसह-
स्रपर्यंतं । इति एवं प्रकारेण । विहृत्य विहरणं पूर्वं पश्चात्किञ्चिदिति । प्रविशदमणिचूलं मणि-
मयी चूला मणिचूला प्रविशदा मणिचूला यस्य तं । संमेदशैलं संमेदश्चासौ शैलश्च संमेदशैल-
स्तं संमेदपर्वतं । प्राप प्रययौ । आप्लृ व्याप्तौ लिट् ॥ ५६ ॥

भा० अ०—सभी भविकों के चित्त रूपी क्षेत्र में तत्त्वरूपी बीजको वपन किये हुए
लोकपूज्य श्रीजिनेन्द्र देव तेरह महीने कम दसहजार वर्षों तक सभी देश में यों विहार
कर मणिमय शिखर वाले श्री सम्मेदाचल को पधारे ॥ ५६ ॥

तत्र स्थित्वैकमासं व्यपगतविहृतिः फाल्गुने कृष्णपक्षे ।

द्वादश्यामर्धरात्रे सदशशतमुनिर्जन्मभेऽघात्यरातीन् ॥

आरूढायोगिधामा द्विचरमसमये सप्ततिं द्विप्रयुक्तां ।

शुक्लध्यानासियष्ट्या सचरमसमये वृत्तसंख्यान्जघान ॥६०॥

तत्रेत्यादि । तत्र तस्मिन् पर्वते । व्यपगतविहृतिः व्यपगता विहृतिर्यस्य सः तथोक्तः
निश्चन्द्रोविहारः । सदशशतमुनिः दश वारान् शता दशशतास्ते च ते मुनयश्च दशशत-
मुनयस्तैः सह वर्तत इति तथोक्तः सहस्रमुनिभिर्युक्तः सन् । एकमासं एकश्चासौ मासश्च
एकमासस्तं एकमासपर्यंतं । स्थित्वा । फाल्गुने फाल्गुनमासे । कृष्णपक्षे अपरपक्षे । द्वादश्यां ।
अर्धरात्रे रात्रेर्धर्मर्धरात्रं तस्मिन् । “पुण्यत्रयादीर्घसंख्यानैकाद्वात्रेः” इत्यनेनात्प्रत्ययः । जन्मभे
जन्मनो भं जन्मभं तस्मिन् श्रवणक्षेत्रे । आरूढायोगिधाम आरूढतेस्म आरूढं अयोगिनो
धाम अयोगिधाम आरूढं अयोगिधाम येन सः तथोक्तः आरूढायोगिगुणस्थानस्सन् । सः
जिनेश्वरः । द्विप्रयुक्तां द्वाभ्यां प्रयुक्ता तथोक्ता तां द्विसहितां द्वासप्ततिमित्यर्थः । अघात्यरातीन्
अघातिन येवारयः तथोक्ताः तान् अघातिशत्रून् । द्विचरमसमये द्वौ चरमौ यस्य सः द्विचर-
मश्चासौ समयश्च तथोक्तः तस्मिन् उपांत्यसमये । शुक्लध्यानासियष्ट्या शुक्लं च तत्
ध्यानं च शुक्लध्यानं असेर्यष्टिरसियष्टिः शुक्लध्यानमेवासियष्टिस्तथोक्ता तथा शुक्लध्यान-

बद्धरुतया । जघान् हंतिस्म हन हिंसागत्योः लिट् । चरमसममे चरमश्चासौ समयश्च चरमसमयस्तस्मिन् । वृत्तसंख्यान् वृत्तस्य त्रयोविधचारित्रस्य संख्या येषां ते तथोक्तास्तान् त्रयोदशधात्यरीन् । जघान् ॥६०॥

भा० अ०—एक हजार मुनियों के सहित श्रीमुनिसुव्रत-नाथ ने अपनी विहार-क्रिया समाप्त किये हुए एक महीने तक उस सम्मेदाचल पर्वत पर रह कर फाल्गुन मास कृष्ण पक्ष द्वादशी तिथि तथा श्रवण नक्षत्र में अयोगिगुणस्थान को प्राप्तकर लगभग अन्त्य समय में शुद्ध ध्यानरूपी खड्ग से बहत्तर अघानिया शत्रुओं तथा तेरह घानियाँ शत्रुओं को नष्ट कर दिया ॥६०॥

ईषत्प्राग्भारसंज्ञेऽष्टमधरणितले मर्त्यलोकप्रमाणे ।

सिद्धक्षेत्रे विशुद्धः स जयति तनुवातांत्यभागे कृतौकाः ॥

किंचिन्न्यूनांत्यदेहप्रमितिघननिजाकारभाक् क्षायिकैः स्वैः ।

सम्यक्त्वाद्यैरुपेतोऽष्टभिर्मितसुखापादकैरस्तकर्मा ॥६१॥

ईषदित्यादि । ईषत्प्राग्भारसंज्ञे ईषत्प्राग्भार इति संज्ञा यस्य तस्मिन् ईषत्प्राग्भारनामधेये । अष्टमधरणितले अष्टमी चासौ धरणिश्च अष्टमधरणिस्तस्यास्तलं तस्मिन् “मानिस्त्रै-कार्थयोः” इत्यादिना पुंवद्भावः अष्टमभूमिप्रदेशे । मर्त्यलोकप्रमाणे मर्त्यस्य लोकस्तथोक्तः मर्त्यलोकस्य प्रमाणं यस्य तत् तस्मिन् मनुष्यलोकप्रमिते । सिद्धक्षेत्रे सिद्धानां क्षेत्रं सिद्धक्षेत्रं तस्मिन् । तनुवातांत्यभागे तनुरिति घातस्तनुवातः अंत्यश्चासौ भागश्च अंत्यभागः तनुवात-स्यांतभागस्तनुवातांत्यभागस्तस्मिन् तनुवातचरमभागे । कृतौकाः क्रियतेस्म कृतं कृत-मोको येन सः तथोक्तः विहितनित्यः । अस्तकर्मा अस्यंतिस्म अस्तानि अस्तानि कर्माणि यस्य सः व्यपगतसकलकर्मविशुद्धः अपगतद्रव्यभावकर्मत्वादिविशुद्धः । किंचिन्न्यूनांत्यदेहप्रमिति-घननिजाकारभाक् किंचित् न्यूनः किंचिन्न्यूनः अंत्यश्चासौ देहश्च अंत्यदेहः तस्य प्रमिति-रंत्यदेहप्रमितिः किंचिन्न्यूनांत्यदेहप्रमिनिर्यस्य सः तथोक्तः निजश्चासावाकारश्च तथोक्तः घनश्चासौ निजाकारश्च तथोक्तः किंचिन्न्यूनांत्यदेहप्रमितिश्चासौ घननिजा-कारश्च तथोक्तः तं भजतिस्म तथोक्तः किंचिन्मात्रन्यूनचरमदेहप्रमाणघन-स्वाभाविकाकृतिर्युक्तः । अमितसुखापादकैः अमितानि च तानि सुखानि च अमित-सुखानि तान्यापादयंतीत्यमितसुखापादकास्तैः अनंतसुखापादकैः । क्षायिकैः क्षयेण जाता क्षायिकास्तैः कर्मणां क्षयेण जातैः । स्वैः स्वकीयैः । सम्यक्त्वाद्यैः सम्यक्त्वाद्यैः

येषां ते तैः सम्यक्त्वादिभिः । अष्टभिः अष्टगुणैः । उपेतः उपैतिस्म तथोक्तः युक्तः । सः सिद्धः । जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते ॥६१॥

भा० अ०—ईष्टप्राग्भार नाम वाले आठवें भूप्रदेशमें, तनुवातवलयके अन्त्यभागमें, मध्यलोक-प्रमित सिद्धक्षेत्रमें विराजमान होते हुए अन्तिम शरीरसे कुछ कम तथा घनस्वभावाकारवाले और द्रव्यकर्म से रहित, अनन्त सुखजनक क्षायिक सम्यक्त्वादि अष्टगुणों से युक्त तथा द्रव्य और भावकर्मसे रहित होकर विजयशाली होते थे ॥ ६१ ॥

आस्ते तत्र स निर्वृतः सुखसुधां चर्वन् सदात्यंतिकीम् ।

स्वरथः संसृतिनाटकं स्फुटरसं पश्यन्विभावादिभिः ॥

संपन्नैः सकलैर्गुणैरनुपमैः स्थानं सिताभ्राकृतेः ।

कीर्त्तैरात्मसमैः सहैव पुरुषैः शुद्धैश्च बुद्धैः परम् ॥६२॥

आस्त इत्यादि । सः सिद्धः सभापनिश्च । निर्वृतः मुक्तः । व्यापारांतरान्निवृत्तश्च । आत्यंतिकी अत्यन्ते भवा आत्यंतिकी तां अनंतकालभाविनीं च । सुखसुधां सुखमेव सुधा सुखसुधा तां मुवामृतं । सदा सर्वस्मिन् काले । चर्वन् अनुभवन् । स्वस्थः कर्मरहितः स्वरूपे स्थितः निगन्तश्च सन । विभावादिभिः विभाव आदिर्येषां ते विभावादयः तैः विभावानुभावप्रमुखैः । स्फुटरसं स्फुटा रसा यस्मिन् तं प्रादुर्भूतस्थायिभावरूपभृङ्गारादिरसयुक्तं । संसृतिनाटकं संसृतेर्नाटकम् संसारनर्तनं । प्रेक्षकजनानामिव मुक्तात्मनां सांद्रानंदविधानत्वात्संसृतिनाटकमभितेयनाट्यविशेष इव । पश्यन् पश्यतीति पश्यन् प्रेक्षमाणः । अनुपमैः न विद्यते उपमा येषां ते अनुपमास्तैः उपमारहितैः । सकलैः सर्वैः । गुणैः सम्यक्त्वादिगुणैः त्यागविशेषज्ञताद्यैश्च संपन्नः समृद्धः । सिताभ्राकृतेः सिताभ्रस्याकृतिर्यस्यास्सा सिताभ्राकृतिः तस्याः कर्पूराकारायाः “सिताभ्रो हिमवालुका”इत्यमरः कीर्त्तैः स्तवनस्य यशसश्च । स्थानं आस्पदं भूतस्सन् । आत्मसमैः आत्मनः समा आत्मसमास्तैः निर्वृतत्वादिभिः स्वसमानैः । शुद्धैश्च शुध्यन्तेस्म शुद्धाः तैः कर्मविरहितैः उपभ्राशुद्धैश्च । बुद्धैः बुध्यन्ते स्म बुद्धाः तैः । केवलज्ञानिभिः लौकिकज्ञानिभिश्च । पुरुषैः परमात्मभिरमात्यादिभिश्च । सहैव साकमेव । तत्र सिद्धक्षेत्रे । परं अत्यन्तं । आस्ते वर्तते आस उपवेशने ॥६२॥

भा० अ०—वह सिद्ध अथवा नाट्याधिपति, मुक्त वा कार्यान्तरसे रहित होकर उस सिद्ध क्षेत्रमें अनन्त कालभाविनी मुक्तिरूपिणी सुधाका सदैव अनुभव करते हुए आत्मसुखमें लीन वा निराकुल विभाव अनुभाव तथा सञ्चारी भावादिकों से व्यक्त रसवाले संसाररूपी नाटक को दर्शक के समान देखते हुए, सभी अनुपम सम्यक्त्वादि गुणोंसे सम्यन्त तथा स्वच्छ

स्तुति और कीर्ति के एकमात्र पात्र, अपने समान कर्मरहित केवल-ज्ञानी परमात्माओंके साथ बड़े हर्षसे रहने लगे ॥ ६२ ॥

अर्हदासः सभक्त्युल्लसितमवसितं भूधरे तत्र कृत्वा ।

कल्याणं तीर्थकर्तुः सुरकुलमहितःप्रापदाप्मीयलोकम् ॥

अर्हदासोऽयमित्थं जिनपतिचरितं गौतमस्वाम्युपज्ञं ।

गुम्फित्वा काव्यबन्धं कविकुलमहितः प्रापदुच्चैः प्रमोदम् ॥ ६३ ॥

अर्हदास इत्यादि । सुरकुलमहितः सुराणां कुलं सुरकुलं तेन महितः देवसमूहपूजितः । सः अर्हदासः अर्हतो दासः तथोक्तः जिनदासो देवेन्द्रः । तत्र तस्मिन् । भूधरे समेद-पर्वते । तीर्थकर्तुः तीर्थस्य कर्ता तथोक्तः तस्य तीर्थकरस्य । भक्त्युल्लसितं भक्त्या उल्लसितं तथोक्तं भक्तिविराजितं । अवसितं अत्यंतं । कल्याणं परिनिर्वाणकल्याणं । कृत्वा विधाय । आत्मीयलोकं आत्मन अयमात्मीयः स चासौ लोकश्च तथोक्तस्तं । प्रापत् आगच्छत् आप्लु व्याप्तौ लुङ् “सर्तिशास्ति” इत्यादिना अङ् । कविकुलमहितः कवीनां कुलं कविकुलं तेन महितः विद्वत्समूहपूजितः । अयं एषः । अर्हदासः अर्हदासकवीश्वरः । गौतमस्वाम्युपज्ञं गौतमश्चासौ स्वामी च गौतमस्वामी तेन उपज्ञन्तथोक्तन्तत् गौतमस्वामिना प्रोक्तं । जिन-पतिचरितं जिनानां पतिर्जिनपतिः जिनपतिश्चरितं तथोक्तं जिनेश्वरचरितं । इत्थं अनेन प्रकारेण । काव्यबन्धं कवेर्भावः कृत्यं वा काव्यं तस्य बन्धस्तं काव्यप्रबन्धं । गुम्फित्वा गुंफन् पूर्व० पूरयित्वा । उच्चैः भृशं । प्रमोदं परमसंतोषं । प्रापन् अगमत् ॥ ६३ ॥

भा० अ०—देवताओंसे पूजित तथा अर्हद्भगवान् के दास इन्द्रदेव उस सम्पेद पर्वतपर तीर्थङ्कर भगवान् मुनिसुव्रतनाथ का मोक्ष कल्याणका सम्पन्नकर सानन्द अपने स्वर्गलोकको लौट आये तथा कविकुल-पूजित अर्हद्दस कवि ने भी गौतमस्वामी से कहे गये श्रीजिनेन्द्र चरित्र को काव्यरूप में ग्रथितकर बड़ी भारी प्रसन्नता प्राप्त की ॥ ६३ ॥

धावन्कापथसंभृते भववने सन्मार्गमेकं परम् ।

त्यक्त्वा श्रांततरश्चिराय कथमप्यासाद्य कालादमुम् ॥

सद्धर्मामृतमुद्धृतं जिनवचःक्षीरोदधेरादरात् ।

पायं पायमितश्रमः सुखपदं दासो भवाम्यर्हतः ॥ ६४ ॥

धावन्कापथसंभृते कुत्सिताः पन्थानः कापथाः “पथ्यक्षयोः” इति कादेशः “ऋक्पुःपथ्यपोऽत्” इत्यप्रत्ययः कापथैः संभृतः तथोक्तः तस्मिन् मिथ्यामार्गं

कृष्णमार्गे वा संकीर्णे । भववने भव एव वनं भववनं तस्मिन् संसारकानने । परं केवलं एकं । सन्मार्गं संश्र्वासौ मार्गश्च सन्मार्गः तं रत्नत्रयमार्गं यद्वा सद्भिर्भृग्यते संसारसमुद्रोत्तारणार्थमन्विष्यत इति सन्मार्गं आसागमादिप्रवाहं समीचीनमार्गं वा । त्यक्त्वा चिमुच्य । चिराय बहुकालपर्यंतं । धावन् धावतीति धावन् । श्रान्ततरः अत्यंतमायस्थः । कालात् काललब्धिवशात् । अमुं इमं सन्मार्गं । कथमपि केन प्रकारेणापि । आसाद्य आसादनं पूर्व० प्राण्य । जिनवचःक्षीरोदधेः जिनस्य वचस्तदेव क्षीरोदधिस्तथोक्तस्तस्मात् परमागमक्षीरसमुद्रात् । उद्भूतं उद्भिद्यतेस्म तथोक्ततत् पुनस्तत् आनीतं । सुखपथं सुखस्य पन्थाः तथोक्तं सुखस्थानं । सद्धर्मासृत् संश्र्वासौ धर्मश्च सद्धर्मः स एवामृतं पुनस्तत् सद्धर्मसुधा । आदरात् संतोषात् । पायं पायं पीत्वा पीत्वा । “पूर्वाग्रे प्रथमाभिर्दृश्ये खमुञ्ज” इति खमुञ्जप्रत्ययः । इतश्चमः एतिस्म इतः श्रमो यस्मात्सः विगतपरिश्रमः । अर्हतः अर्हतीत्यर्हन् तस्य अर्हत्परमदेवस्य । दासः भृत्यः । भवामि अस्मि । भू सत्तायां लट् ॥६४॥

भा० अ०—मिथ्यात्वमार्गं तथा तृणसङ्कुलं मार्गमयं संसाररूपी वनं मे चक्ररु लगात हुआ रत्नत्रयरूपी मार्ग अथवा समीचीन मार्ग को छोड़कर बहुत काल तक भटकता हुआ अत्यन्त थक कर किसी प्रकार काललब्धि से इस सन्मार्ग को पाकर जिनेन्द्ररूपी क्षीर-समुद्रसे उद्भूत की गयी कल्याण-मार्गमयी सद्धर्मसुधा को पी पीकर परिश्रम राहत होता हुआ मैं अर्हद्भवान् का दास होता हूँ ॥ ६४ ॥

मिथ्यात्वकर्मपटलैश्चिरमावृते मे युगमे दृशोः कुपथयाननिदानभूते ॥

आशाधरोक्तिलसदंजनसंप्रयोगैरच्छीकृते पृथुलसत्पथमाश्रितोऽस्मि ॥६५॥

मिथ्यात्वेत्यादि । मिथ्यात्वकर्मपटलैः : मिथ्याभावो मिथ्यात्वं कर्माण्येव पटलानि तथोक्तानि मिथ्यात्वेन जातानि कर्मपटलानि तथोक्तानि तैः अतस्त्वश्रद्धानजनितदर्शनीयतिमिरैः । चिरं बहुकालपर्यंतं । आवृतेः निरुद्धं । कुपथयाननिदानभूते कुत्सितः पन्थाः कुपथस्तस्य यानं तथोक्तं कुपथयानन्तस्य निदानं तद्भवतिस्म तथोक्तं तस्मिन् । मे मम “तेमयावेकत्वे” इति मयादेशः । दृशोः दृष्टव्योः । व्यवहारनिश्चयसम्यक् वयोर्नयनयोश्च । युगमे युगले । आशाधरोक्तिलसदंजनसंप्रयोगैः आशाधरोक्तैः आशाधरोक्तिः लसच्च तदंजनं च लसदंजनं आशाधरोक्तिरेव लसदंजनं तथोक्तं आशाधरोक्तिलसदंजनस्य संप्रयोगास्तीः आशाधरसूरिवचनविशिष्टांजनसम्यग्व्यापारैः । अच्छीकृते प्रागनच्छमिदानीमच्छं क्रियतेस्म अच्छी कृतं तस्मिन् निर्मलीकृते सति । अद्य संप्रति । पृथुलसत्पथं संश्र्वासौ पन्थाश्च सत्पथः

धृषुश्वासौ सत्पथश्च लसंध्यासौ सत्पथश्च तथोक्तः सुन्दरमहाजनमार्गस्तं । आश्रितः
आश्रीयतेऽस्म आश्रितः आसेषितः । अस्मि भवामि । अस भुषि लट् ॥६५॥

मा० अ०—मित्थ्यात्व-कर्मसमूह से अत्यन्त आच्छन्न तथा कुमार्ग-गमनकी कारण-
भूत मेरी दोनों आँखों के आशाधर सूरि की उक्ति-रूप अच्छे अंजन के प्रयोगसे स्वच्छ होने
पर मैं ने जिनेन्द्र भगवान् के सत्पथ का आश्रय लिया ॥ ६५ ॥

[[स्यैर्हृदासकृतकाव्यरत्नस्य टीकायां सुखबोधिन्यां भगवदुभयमुक्तिवर्णनो नाम
दशमस्सर्गः ।

❁ इति ❁



